UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180210

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

राय, जयचन्द्र
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल :
सिद्धान्त और साहित्य

Osmania University Library

Call No. H 894 R 88 A Accession No. GH 6174

Author राय, जयशंकर

Title आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धान्त और साहित्य

This book should be returned on or before the date last marked below.

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल :
सिद्धान्त और साहित्य

जयचन्द्र राय
एम० ए०, पी-एच० डी०,

एस० चन्द एण्ड कम्पनी (प्रा०) लि०
रामनगर, नई दिल्ली-110055

एस० चन्द एण्ड कम्पनी (प्रा०) लि०
मुख्य कार्यालय : रामनगर, नई दिल्ली-110055
शोरूम : 4/16-B, आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002

शाखाएँ :

अमीनाबाद पार्क, लखनऊ-226001
285/J, विपिन बिहारी गांगुली स्ट्रीट, कलकत्ता-700012
सुल्तान बाजार, हैदराबाद-500195
ब्लैकी हाऊस, 103/5, वालचन्द हीराचन्द मार्ग, बम्बई-400001
खजांची रोड, पटना-800004
152, अन्ना सलाए, मद्रास-600002
माई हीरां गेट, जालन्धर-144008
3, गांधी सागर ईस्ट, नागपुर-440002
के० पी० सी० सी० बिल्डिंग, रेसकोर्स रोड, बंगलौर-560009
613-7, एम० जी० रोड, एर्नाकुलम कोचीन-682035
पान बाजार, गोहाटी-781001

एस० चन्द एण्ड कम्पनी (प्रा०) लि०, रामनगर, नई दिल्ली-110055 द्वारा प्रकाशित
एवं राजेन्द्र रवीन्द्र प्रिंटर्स (प्रा०) लि०, रामनगर, नई दिल्ली-110055 द्वारा मुद्रित।

पूज्य पितृव्य

श्रीयुत बटुकराय जी

के

कर-कमलों

में

प्रस्तावना

आगरा विश्वविद्यालय की पी- एच० डी० उपाधि के लिये मैंने जो शोध-प्रबन्ध सन् १९५७ ई० में 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : एक अध्ययन'—शीर्षक से प्रस्तुत किया था उसके यत्किंचित् संशोधित रूप को इस पुस्तक के माध्यम से पाठकों के कर-कमलों में पहुँचाते हुए, आज, सुख और संतोष का अनुभव कर रहा हूँ। लगभग दस वर्ष पूर्व, जब गृहीत विषय की सामग्री संकलित करने का उपक्रम हुआ तब शुक्ल जी द्वारा किये गये कार्यों का संक्षिप्त किन्तु सर्वांगपूर्ण परिचय देने वाली केवल एक ही पुस्तक सामने थी--श्री शिवनाथ, एम० ए०, कृत 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल'। सामग्री का दूसरा स्रोत 'साहित्य सन्देश' का 'शुक्ल विशेषांक' था जो अनेक विद्वानों के लेखों का संग्रह होने पर भी क्रमबद्ध परिचय और संतुलित विवेचन की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण था। कुछ ही दिनों बाद हिन्दी के समर्थ आलोचकों का ध्यान आचार्य शुक्ल के कृतित्व का मूल्यांकन करने की ओर गया और एक एक करके तीन पुस्तकें प्रकाश में आईं—(१) 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' (ले० डॉ० रामविलास शर्मा), (२) 'समीक्षकप्रवर श्री रामचन्द्र शुक्ल' (ले० पंडित गिरिजा-दत्त शुक्ल 'गिरीश') (३) 'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल' (सं० बाबू गुलाब राय और श्री विजयेन्द्र स्नातक)। अंतिम पुस्तक में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न अवसरों पर लिखे गये निबन्धों का संकलन किया गया है—कुछ निबन्ध वही हैं जो 'साहित्य संदेश' के पूर्वोक्त विशेषांक में प्रकाशित हो चुके थे। उक्त तीनों पुस्तकों से शुक्ल जी के कृतित्व पर अच्छा प्रकाश पड़ा और अनेक जटिल समस्याओं का समाधान हो गया किन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न अब भी अपना उत्तर माँग रहे थे। निदान, उक्त ग्रन्थकारों के विपुल पांडित्य और तत्त्वचिन्तन का संबल लेकर प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रणयन प्रारंभ हुआ।

इस पुस्तक की मूल प्रतिज्ञा या स्थापना को संक्षेप में यों रख सकते हैं :— पाश्चात्य मनोविज्ञान की तत्कालीन मान्यताओं को लेकर शुक्ल जी ने भारतीय रस-शास्त्र को ही 'भावयोग' के व्यापक सिद्धान्त के रूप में विकसित किया और इस प्रकार अपने मौलिक साहित्य-शास्त्र की प्रतिष्ठा में सफलता प्राप्त की। मनोविकारों पर लिखे गये उनके निबन्ध साहित्य-रस से समन्वित मूल्यवान् स्वतंत्र कृतियों के रूप में तो ग्रहण किये ही जाते हैं, साहित्य-शास्त्र के अंतर्गत रस-निरूपण अथवा स्थायी-संचारी विवेचन के रूप में भी स्वीकार किये जाने चाहिये। 'भावयोग' के इस सिद्धान्त की व्यापकता उनकी साहित्येतर मान्यताओं तक भी है। वस्तुतः वे दर्शन की ओर से सोचते-सोचते साहित्य की ओर नहीं पहुँचे थे, भावयोग की ओर से सोचते-सोचते

सगुणतामूलक लोकवाद तक पहुँचे थे। उनके वंशानुगत संस्कारों का प्रभाव भी, कुछ दूर तक, इन मान्यताओं पर पड़ा था।

दूरारूढ़ तर्कयोजना से अपने आपको दूर रखते हुए उक्त प्रतिज्ञा को उपपत्ति तक पहुँचाने में, यदि मुझे कुछ भी सफलता प्राप्त हुई हो तो उसका श्रेय आचार्य प्रवर की सुव्यवस्थित चिन्तन-पद्धति को ही मिलना चाहिये। उन्हीं का अनुचर बनकर मैं अपना मार्ग सुगम बना सका हूँ। इस संबंध में इतना और निवेदन करना चाहूँगा कि शुक्ल जी हिन्दी के निजी वैदुष्य के सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि हैं। उनके चिन्तन-व्यापार की परिधि चाहे कितनी ही व्यापक क्यों न हो, उसका केन्द्र हिन्दी भाषा और साहित्य के मध्य ही स्थित रहता है। इसका सीधा अर्थ यह है कि संस्कृत, अंग्रेजी, बंगला आदि भाषाओं तथा दर्शन, धर्म, संस्कृति, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि विषयों का जो विपुल ज्ञान उन्होंने अर्जित किया था वह हिन्दी भाषा और साहित्य संबंधी पांडित्य में सदा के लिये विलीन हो गया है। निष्कर्षतः, उनका पार्श्ववर्त्ती वैदुष्य हिन्दी पाठक को व्यर्थ आतंकित नहीं करता। एक बार इस तथ्य को समझ लेने पर हिन्दी की सीमा में उनकी महिमा को आँकना पाठकों के लिए सुगम हो जायेगा। केवल हिन्दी ही नहीं भारतवर्ष की किसी अन्य भाषा में भी निजी वैदुष्य का ऐसा ऊँचा प्रतिमान, संभवतः, आज तक निर्मित न हो सका।

कतिपय स्थलों पर मुझे शुक्ल जी के तर्कों या निर्णयों को अस्वीकार करना पड़ा है लेकिन उनकी महिमा के प्रति मेरे मन में शंका कभी नहीं उठी। अनेक सुधी समीक्षकों की मान्यताएँ पुस्तक में आलोचित, और कभी-कभी, अस्वीकृत भी हुई हैं। उनके व्यक्तित्व के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखकर ही सहज विनम्र भाव से ऐसा किया गया है, अतः क्षमा-याचना का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा।

प्रबन्ध की व्यवस्था के संबंध में केवल इतना ही निवेदन करना है कि भारतीय नवोत्थान की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक-अभ्युत्थानवादी चेतना का जो परिचय 'अवतरणिका' में दिया गया है वह शुक्ल जी के राष्ट्रीय दृष्टिकोण का पृष्ठाधार प्रस्तुत करता है। इसकी सामग्री जिन ग्रंथों से ली गई है उनका उल्लेख यथास्थान कर दिया गया है। इसमें गृहीत तथ्यों और ब्यौरों की बहुत बारीक छान-बीन अनावश्यक लगी। मेरा प्रयोजन सामान्य सर्वेक्षण से ही सिद्ध हो गया है।

अनंतर, 'भावयोग' के रसवादी सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक आधार स्पष्ट करते हुए आचार्य की परिपार्श्विक मान्यताओं का विवेचन किया गया है। इससे पूर्वोक्त मूल प्रतिज्ञा को उपपन्न बनाने में सहायता मिली है। अगले अध्यायों में शुक्ल-साहित्य का जो विवरण संकलित किया गया है, उसका उद्देश्य यह नहीं कि उनके कृतित्व को विभिन्न काव्यरूपों में विभाजित करके सबका स्वतन्त्र विश्लेषण और मूल्यांकन किया जाय। वैसा करना प्रस्तुत प्रबन्ध के स्वल्प परिसर में सम्भव भी नहीं था। उसका उद्देश्य केवल यह दिखाना है कि 'भाव-योग' का सिद्धान्त ही आचार्य के सारे सर्ज-

नात्मक कार्यों में प्रेरणा और मूल्य-संस्थापन का आधार बना रहा। आलोचना के अतिरिक्त निबन्ध, इतिहास, कहानी, काव्य, जीवनी-लेखन, सम्पादन, कोश निर्माणादि में उक्त बीज रूप प्रवर्त्तक सिद्धान्त का अनुसन्धान ही मेरा लक्ष्य रहा है।

'परिशिष्ट' में शुक्ल जी की संक्षिप्त जीवनी दी गई है। यह सामग्री कई पुस्तकों और लेखों से संकलित है। कुछ नये मनोरंजक चुटकुलों के लिए पं० विश्वनाथ मिश्र का ऋणी हूँ।

प्रबन्ध की समाप्ति और प्रकाशन के मध्य लगभग छः वर्षों का व्यवधान है। इस बीच आचार्य शुक्ल विषयक दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है—(१) डॉ० रामलालसिंह कृत "आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त' और (२) पं० चन्द्रशेखर शुक्ल कृत, 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—जीवन और कर्तृत्व'। इसके अतिरिक्त कई शोध-प्रबन्धों, स्वतन्त्र ग्रन्थों एवं निबन्धों में शुक्ल जी से सम्बन्ध रखने वाले अनेक महत्त्व-पूर्ण प्रश्न खड़े किये गये हैं। उन सबका स्वतन्त्र समीक्षण नितान्त वांछनीय और प्रासंगिक होने पर भी भविष्य के लिये स्थगित कर दिया गया है। इस समय तो लेखक को यह देखकर ही संतोष है कि इस नव-प्रकाशित सामग्री से उसकी धारणाएँ और स्थापनाएँ अधिकांश पुष्ट ही हुई हैं।

गुरुवर डॉ० रामकुमार वर्मा के निर्देशन में यह कार्य सम्पन्न हुआ है—उनका सादर अभिनन्दन करता हूँ। स्वर्गीय पंडित गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', श्रद्धेय पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, स्वर्गीय पं० चन्द्रवली पाण्डेय और स्वर्गीय पं० चन्द्रशेखर शुक्ल का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ कि अध्ययन की वास्तविक दिशा का संधान पाने में उनसे सहायता मिली। उक्त विद्वानों में से तीन के नाम के साथ 'स्वर्गीय' शब्द इतनी जल्दी लग जायेगा ऐसी आशंका किसे थी? शुक्ल जी को स्मरण करते-करते आदरणीय पाण्डेय जी के नेत्र किस प्रकार छलछला आये थे और उनकी वाणी कैसे रुद्ध हो गई थी, यह बात मैं आज भूल नहीं पाता!

प्रबन्ध को देख कर गुरुवर डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अनेक बहुमूल्य सुझाव दिये—उनके सम्मुख सदैव प्रणत हूँ। श्रद्धेय डॉ० नगेन्द्र की आलोचना से अपने आत्म-विश्वास को कितनी शक्ति मिली, इसका अनुमान नहीं कर पाता। मेरे निष्कर्षों को अपने प्रतिष्ठित मत के विपरीत पाकर भी, उन्होंने उदार भाव से, चिन्तन-स्वातन्त्र्य की सराहना की। उनके सुझावों का समुचित लाभ तो पुस्तक के दूसरे संस्करण में ही उठा सकूँगा, जो प्रोत्साहन मिला है उसके लिये कृतज्ञता ज्ञापित करना, इस समय, अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ।

कॉलिज के प्रधानाचार्य श्री ब्रह्मस्वरूप माथुर का भी कृतज्ञ हूँ जिनका कार्य की प्रगति के विषय में बार-बार पूछना और सस्नेह टोकना अत्यन्त प्रेरणाप्रद सिद्ध हुआ। मित्रवर डॉ० निर्माल्य दासगुप्त, डॉ० हरिश्चन्द्र शर्मा, डॉ० भोलानाथ तिवारी और प्रो० एल० बी० राम 'अनन्त' ने प्रारम्भ से लेकर प्रबन्ध के प्रकाशन काल तक,

अनेक रूपों में मेरी सहायता की है, लेकिन आत्मीयता इन्हें धन्यवाद भी नहीं देने देती !

अपने दीर्घकालीन सहपाठी एवं शुक्ल जी के लाड़िले दौहित्र श्री सुरेन्द्रनाथ त्रिपाठी (आचार्य शुक्ल प्रदत्त नाम, 'बुलबुल') की स्मृति इस अवसर पर ताज़ी हो उठी है। संप्रति वे विदेश में हैं। उनकी सहायता से शुक्ल जी के परिवेश को समझने में कितनी सुविधा मिली, नहीं कह सकता। पुस्तक को प्रकाशित देखकर मेरी तरह वे भी संतुष्ट होंगे।

अनुक्रमणिका राज सूरी ने बनाई है। उनका स्वाध्याय-संकल्प सिद्ध हो यही कामना है।

'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनका साहित्य'—शीर्षक से प्रस्तुत प्रबन्ध की कुछ सामग्री, एस० चन्द एण्ड कं० (दिल्ली) से लगभग एक वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुकी है। आशा है सामान्य पाठकों का उससे मनोरंजन हुआ होगा।

प्रकाशन एवं मुद्रण की दिशा में जो तत्परता एस० चन्द एण्ड कम्पनी एवं आर० के० प्रिंटर्स (दिल्ली) ने दिखाई है, उसके लिए सम्बद्ध अधिकारियों का कृतज्ञ हूँ।

यदि शुक्ल-साहित्य के अध्ययन को आगे बढ़ाने में प्रस्तुत पुस्तक ने कुछ भी योग दिया तो अपने श्रम को सार्थक समझूंगा। त्रुटि-निर्देशों और सुझावों के लिये सदैव आभारी रहूँगा।

हिन्दी विभाग,　　—जयचन्द्रराय
महानन्द मिशन कॉलिज,
गाज़ियाबाद।
२०-४-१९६३

अनुक्रम

पहला अध्याय

अवतरणिका पृष्ठ १—२६

नव-जागरण की भूमिका १, पाश्चात्य सम्पर्क ३, राजनीतिक ३, आर्थिक ४, सांस्कृतिक संघात ५, ब्रह्म-समाज ६, आर्य समाज ७, रामकृष्ण मिशन : विवेकानन्द ९, साहित्यिक संघात ११, पत्रकारिता १२, भारतेन्दु-युगीन साहित्य १४, नाटक १६, निबन्ध १७ इतर साहित्य १७, प्रचारात्मक कार्य १८, निष्कर्ष १९, द्विवेदी युग और शुक्ल जी का आविर्भाव २२ ।

दूसरा अध्याय

साहित्यिक मान्यताय पृष्ठ २७—१३७

भाव ३२, स्थायी एवं संचारी भाव ३४, उत्साह ३५, श्रद्धा-भक्ति ३८, करुणा ४०, लज्जा और ग्लानि ४४, लोभ और प्रीति ४७, घृणा ४८, ईर्ष्या ४९, भय ५१, क्रोध ५३, अन्य मनोविकार ५६, निष्कर्ष ५८, साहित्य ६१, स्वरूप ६१, व्याप्ति ६२, उद्देश्य ६२, काव्य (स्वरूप) ६३, प्रयोजन ६३, विषय ६५, कर्ता ६५, अधिकारी ६६, रस ६६, रचनात्मक उत्पादन ६६, विभाव ६८, अनुभाव ७०, संचारी भाव ७१, कल्पना ७३, बुद्धि ७५, भाषा ७६, अलंकार ७७, रीति ८१, छन्द-विधान ८२, काव्य का वर्गीकरण ८३, रस दृष्टि से ८३, रूप रचना की दृष्टि से ८५, मुक्तक-काव्य ८९, काव्येतर साहित्य ९४, निबन्ध ९५, समालोचना ९७, नाटक १००, उपन्यास १०१, कहानी १०३, गद्य-काव्य १०४, विशिष्ट उद्भावनायें १०५ (क) काव्य का अधिवास, अभिधार्थ में अथवा लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में १०५, (ख) रसात्मक बोध १११, (ग) रस की कोटियाँ ११७, (घ) साधारणीकरण का विषय १२३, (ङ) काव्य में वस्तु-व्यञ्जना १२९ (च) काव्य में प्रकृति-चित्रण १३२, प्रकृतिप्रेम १३२, प्रकृति-चित्रण के दो रूप १३३, देश-प्रेम १३५, उद्दीपन रूप की मर्यादा १३५, अर्थ ग्रहण १३६, कल्पना का प्रयोग १३७, रस १३७ ।

तीसरा अध्याय

परिपार्श्विक मान्यतायें पृष्ठ १३८—१५५

लोक धर्म १३८, वर्णाश्रम व्यवस्था १४४, नारी की सामाजिक मर्यादा १४७, निर्गुण अथवा सगुण भक्ति १५०, प्रवृत्ति-निवृत्ति १५२, दार्शनिक विचार १५४ ।

चौथा अध्याय

व्यावहारिक आलोचना पृष्ठ १५६—१६१

तुलसी की आलोचना १५७, तुलसी-साहित्य के अध्ययन की भूमिका १५७, शुक्ल जी की आलोचना १६१, सूरदास की आलोचना १६५, जायसी की आलोचना १७५, छायावाद का विवेचन, विरोध या संशोधन ? १७८, रहस्य की प्रवृत्ति १८२, काव्य में अभिव्यंजनावाद १८६ ।

पाँचवाँ अध्याय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी समीक्षा, पृष्ठ १९२—१९८

शुक्ल युग १९२, शुक्लोत्तर युग १९३ ।

छठा अध्याय

हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ १९९—२२३

साहित्य के इतिहास की सामान्य समस्याएँ १९९, हिन्दी साहित्य के इतिहास का निर्माण २०२, पहले के इतिहासकार २०३, पूर्ववर्त्ती इतिहास ग्रन्थों की सीमाएँ २०४, शुक्ल जी का इतिहास निर्माण २०५, आधार सामग्री २०५, वर्गीकरण २०६, काल-विभाजन २०७, आदिकाल २०७, भक्तिकाल २११, रीतिकाल २१४, शुक्ल जी के इतिहास की सीमाएँ—समाधान २१५, नई सामग्री २१५, एक-सूत्रता का अभाव २१६, मध्यवर्गीय चेतना और रस दृष्टि २१८, फुटकल खाता २१८, साहित्य और परिस्थितियाँ २२०, घटनाओं की कार्य-कारण शृंखला २२१, इतिहास की प्राणचेतना २२१, निष्कर्ष २२२ ।

सातवाँ अध्याय

निबन्ध साहित्य पृष्ठ २२४—२४०

निबन्ध २२४, आचार्य शुक्ल के निबन्ध २२५, मौलिकता २३२, बुद्धि और हृदय का योग २३३, गूढ़ गुम्फित विचार परम्परा २३४, पूर्वपक्ष की योजना २३४, विषय संबद्धता २३५, विवेचन की प्रक्रिया २३५, व्यक्तित्व का प्रक्षेपण २३६, गोचर विधान २३७, व्यंग्य-विनोद २३७, भाषा की समाहार-शक्ति २३८, भाषा का स्वरूप २३८ ।

आठवाँ अध्याय

जीवनी साहित्य पृष्ठ २४१—२४९

पैत्रिक संस्कार और परम्परा २४२, प्रारंभिक वातावरण २४३, युग और समाज से

आदान-प्रदान २४३, निसर्गसिद्ध आकस्मिक परिवर्त्तन २४४, साहित्यिक कृतित्व और जीवनी-विवरण २४४।

नवाँ अध्याय

कहानी पृष्ठ २५०—२५३

दसवाँ अध्याय

काव्य पृष्ठ २५४

ग्यारहवाँ अध्याय

इतर साहित्य पृष्ठ २५६

परिशिष्ट, १

जीवनी और व्यक्तित्व पृष्ठ २७६

परिशिष्ट, २

संदर्भ ग्रंथ पृष्ठ २८६

परिशिष्ट, ३

नामानुक्रमणिका पृष्ठ २६६

पहला अध्याय

अवतरणिका

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म सन् १८८४ ई० में हुआ और उनका रचना-काल सन् १९०० ई० से प्रारम्भ हो गया। अतः उनके आविर्भाव के ठीक पूर्व हिन्दी भाषी समुदाय की राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियाँ क्या थीं और उसकी सांस्कृतिक, दार्शनिक तथा साहित्यिक चेतना विकास अथवा ह्रास के किस स्तर पर प्रतिष्ठित थी, यह जानने के लिए हमें भारतीय इतिहास के कुछ पिछले पन्ने भी उलटने पड़ेंगे।

नव-जागरण की भूमिका :

यह तथ्य इतिहास की खोजों से आज पूर्ण प्रत्यक्ष हो चुका है कि योरोपीय सम्पर्क के पूर्व ही भारत में लगभग आधुनिक ढंग के बाजार का विकास हो चला था और अकबर तथा जहाँगीर के काल में पटना, आगरा, कन्नौज, थानेश्वर आदि की व्यापारिक मंडियाँ इतनी ख्याति प्राप्त कर चुकी थीं, कि देशी ही नहीं, विदेशी व्यापारी भी उनसे सम्पर्क बनाये रखना अपने लिए लाभप्रद समझते थे।[1] गाँवों की जनसंख्या छोटे-छोटे उद्योगों और कामों की खोज में नगरों की ओर झुक चली थी। ऐसा बताया जाता है कि सन् १६२० के आसपास आगरे शहर की जनसंख्या लगभग ६ लाख थी (उन दिनों यह एशिया का सबसे बड़ा नगर माना जाता था और संभव है कि यह तत्कालीन विश्व का भी सबसे बड़ा और समृद्ध नगर हो) लेकिन इतना सत्य और निश्चित है कि उक्त बाजारों या मंडियों में कुटीर उद्योगों की सामग्री का ही क्रय-विक्रय होता था। भारतीय उद्योग-व्यापार में अभी तक आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों से प्रेरित क्रान्ति का सूत्रपात नहीं हुआ था।

ऐसी ही परिस्थिति में भारतीय समाज पश्चिम के सम्पर्क में आया। योरुप में १८वीं और १९वीं शताब्दी में जो वैज्ञानिक आविष्कार हुए थे, उन्होंने मनुष्य के सनातन और परम्परागत जीवन-मूल्यों को एकाएक झकझोर दिया और योरोपीय मस्तिष्क की शिरायें नवजीवन के उष्ण रक्त से खौलने लगीं। परिणामस्वरूप वहाँ नये-नये

---

1. "India in the Eighteenth century was a great agricultural country, and the products of the Indian loom supplied the markets of Asia and Europe. It is, unfortunately, true that the East India Company and the British Parliament, following the selfish commercial policy of a hundred years ago, discouraged Indian manufactures in the early years of British rule in order to encourage the rising manufactures of England."—*Economic History of India*—R. C. Datta (Early British Rule—Preface.)

दर्शनों और सांस्कृतिक मानदण्डों का निर्माण हुआ, भौतिक जीवन के अनुरूप वैचारिक क्रान्ति घटित हुई और नवीन मानवी शक्ति जीवन की शतधा प्रसारित सरणियों में प्रवाहित होने लगी। योरुप से भारत आने वालों में सर्वप्रथम स्थान पुर्तगालियों का है, तदुपरांत डच और फ्रांसीसी आये। परन्तु अनेक राजनीतिक तथा अर्थनीतिक कारणों से उक्त तीनों ही जातियाँ यहाँ अपना पूर्ण प्रसार करने में असफल रहीं। वस्तुतः अंग्रेजों के आगमन और प्रसार के फलस्वरूप ही भारत में योरोपीय अर्थ-व्यवस्था और विचार-प्रणाली का प्रवेश हुआ।

ऐसा प्रसिद्ध है कि भारतवर्ष में अपनी प्रभुत्व-स्थापना के निमित्त अंग्रेजों को छोटी-बड़ी १११ लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं परन्तु जिस युद्ध ने अंग्रेजी राज्य की सत्ता को यहाँ सर्वदा के लिये प्रतिष्ठित कर दिया वह सन् १७५७ ई० में प्लासी में हुआ था और उसके ठीक सौ वर्ष बाद सन् १८५७ ई० के विप्लव को दबाकर वे भारतवर्ष के एकमात्र शासक बन बैठे। ध्यान देने की बात है कि एक ओर अंग्रेज अपनी राजनीतिक दृढ़ता तथा विस्तार के लिए युद्ध पर युद्ध करते जा रहे थे और दूसरी ओर औद्योगिक तथा आर्थिक क्रान्तियों का बीज-वपन करके अपनी नूतन जीवन-सम्बन्धी विचारणाओं को इन्जैक्शन की बारीक सुइयों की भाँति, भारतीय शिराओं में प्रविष्ट कराते जा रहे थे। देखने में यह प्रयास दोहरा और दुष्कर जान पड़ता है, परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जब कोई जन-समूह नूतन वैज्ञानिक आविष्कारों का उपयोग करने लगता है तब उसके परम्परागत नैतिक मूल्य और विचार-मर्यादायें अनिवार्यतः विघटित हो जाती हैं और उनके स्थान पर नये यन्त्रों से उत्पन्न मान्यतायें प्रतिष्ठित हो जाती हैं। मनुष्य के सुदीर्घ इतिहास-पथ में इस सत्य को प्रमाणित करने वाले तथ्य इतने अधिक हैं कि उनका उल्लेख करना व्यर्थ है। अतः भारतीय नवोत्थान के युग में भाप और बिजली की शक्तियों से परिचित मानव ने जहाँ तत्कालीन समाज की अर्थभित्ति को आमूल पुनः निर्मित किया वहाँ उसकी सम्पूर्ण संचित विचार-परम्परा को भी नवजीवन दिया। यह असम्भव था कि बड़े-बड़े जूट और सूत के कारखानों में बने हुए पदार्थों का उपयोग किया जाय परन्तु कारखानों की नयी सभ्यता और संस्कृति की उपेक्षा की जाय; उसी प्रकार यह भी किसी के वश की बात नहीं थी कि रेलगाड़ियों पर यात्रा की जाय परन्तु अपनी प्राचीन पदातिक मनोवृत्ति को बदलने से रोका जाय। जब समाज नयी सुविधाओं और सुखों को प्राप्त करने के लिये अग्रसर हुआ तब, अनिच्छापूर्वक ही सही, उसे ऐसे विचारों और सत्यों को भी सहर्ष प्रश्रय देना पड़ा जिनसे वह पूर्णतया अपरिचित था अथवा जो आसानी से उसके गले के नीचे नहीं उतरते थे। अपने आप को इस नयी जीवन-दृष्टि के समकक्ष लाने में भारतीय समाज को जो इतनी अधिक कठिनाइयाँ हुईं उनके मुख्य कारण दो थे : पहली बात तो यह रही कि यह नयी दृष्टि विजेता जाति की ओर से मिली थी जिसको सहसा स्वीकार कर लेना किसी भी स्वाभिमानी राष्ट्र अथवा जाति के लिये

सम्भव नहीं ; दूसरी बात यह थी कि समाज के स्वाभाविक विकास की स्थिति में जो घटनायें या कार्य-व्यापार शनैः-शनैः वर्षों में घटित होते थे अंग्रेजों के आगमन के कारण अप्रत्याशित तथा अस्वाभाविक शीघ्रता के साथ महीनों में घटित हो रहे थे। ऐसी दशा में भारतीय समाज अपने आपको एक ऐसी मरुस्थली मरीचिका के सम्मुख उपस्थित पाता था जो क्षण-क्षण परिवर्त्तित होती जा रही थी और जिसे पूर्णतया तथा समग्रतः आत्मसात् करने के सभी प्रयत्न विफल हो रहे थे। उसने किसी विचार-धारा या रीति-नीति को आज नूतन जानकर अपनाया नहीं कि किसी दूसरी नूतनतर विचारधारा ने आकर उसके स्वप्न को चकनाचूर कर दिया और उसे प्रवाह के पीछे छोड़ दिया। जीवन के प्रति उदार दृष्टि रखने वाले भी घटनाओं के इस तीव्र प्रवाह को देखकर विस्मय-विमुग्ध थे। परन्तु विभिन्न क्षेत्रों में जो राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक विप्लव घटित हो रहा था उसने समाज को अनिवार्यतः उन परिस्थितियों में ला खड़ा किया जिनमें बैठकर सोचने, समझने और निर्णय करने का अवकाश नहीं था। अठारहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक उक्त विप्लव के विभिन्न चरणों का सम्पादन हुआ। इन डेढ़ सौ वर्षों के अल्पकाल में ही भारतीय समाज एक पुष्ट और परम्परागत जीवन-व्यवस्था का परित्याग कर नवीन व्यवस्था की ओर अग्रसर हुआ। इस प्रगति का संक्षिप्त परन्तु ब्यौरेवार सिंहावलोकन यहाँ अनिवार्य है।

पाश्चात्य सम्पर्क

राजनीतिक :

जैसा ऊपर कहा गया, १७५७ का प्लासी युद्ध अंग्रेजी राज्यसत्ता के प्रसार के इतिहास में निर्णायक और महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इस घटना के अनन्तर, पारस्परिक वैमनस्य से पीड़ित और क्षुद्र राजनीतिक स्वार्थों की संकुचित परिधि में आवृत, भारतीय राजे, सामन्त और बादशाह एक-एक करके अंग्रेजों की कुटिल नीति और दुर्दमनीय शक्ति के सम्मुख झुकने लगे। उधर पानीपत के मैदान में सन् १७६१ के युद्ध ने मराठों की अतुलनीय संगठित सैनिक शक्ति को इतना गहरा धक्का पहुँचाया कि फिर लाख-लाख कोशिशों के बावजूद भी न तो वह शक्ति ही पुनरुज्जीवित हो सकी और न ही मराठों का अधःपतन रोका जा सका। अंग्रेज राजनीतिज्ञों की दृष्टि इन घटनाओं की ओर लगातार लगी रही और वे अवसर की ताक में घात लगाये बैठे रहे। पेशवाई के उत्तराधिकार का प्रश्न खड़ा होने पर मराठों के आन्तरिक मामलों में अंग्रेजों का हस्तक्षेप शुरू हुआ और तीन युद्धों में ही सम्पूर्ण मराठा-शक्ति का विनाश करके वे इस विशाल भूभाग के शासक बन बैठे। उधर दक्षिण में हैदर-अली और टीपू सुल्तान जैसे योग्य सेनानायक और शासक, कूटनीतिक छल-छन्दों के चक्र में इस प्रकार उलझाये गये कि केवल चार युद्धों के उपरांत मैसूर की उठती हुई शक्ति को विनष्ट कर अंग्रेजों ने दक्षिण भारत में अपनी निष्कंटक प्रभुसत्ता स्थापित

कर ली। उन्नीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ होते ही अंग्रेजों की दृष्टि दक्षिण भारत की ओर से हटकर उत्तर और उत्तर-पश्चिम भारत की ओर पहुँच गई, परिणामस्वरूप अनेक छोटे-मोटे युद्धों द्वारा सन् १८५३ ई० तक सम्पूर्ण भारतवर्ष अंग्रेजों के आधिपत्य में आ गया। सन् १८५७ ई० में हिन्दू और मुसलमान शासकों के नेतृत्व में अंग्रेजी राज्य सत्ता के विरुद्ध भयंकर विद्रोह हुआ परन्तु संगठन के अभाव और सैनिक शक्ति की अल्पता के कारण, सफल होने के पूर्व ही वह बुरी तरह कुचल दिया गया। तदनन्तर भारतवर्ष के शासन का भार कम्पनी के कन्धों पर से उतरकर ब्रिटिश पार्लियामेंट के ऊपर आ पड़ा और शासन-सुधार के नये-नये प्रयोग किये जाने लगे।

आर्थिक :

आर्थिक और व्यापारिक क्षेत्रों में भी राजनीतिक परिवर्तनों के समानान्तर महत्त्वपूर्ण क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। वस्तुस्थिति तो यह रही कि १९ वीं शती के मध्यकाल तक अंग्रेजों की उद्योग-व्यापार-नीति उनके राजनीतिक प्रयत्नों को इतनी दूर तक अनुप्राणित और आच्छादित किये रही कि दोनों को पूर्णतया विलग करके देखना इतिहास की बारीक दृष्टि के लिये भी सम्भव नहीं। अपने उद्योग व्यापार की वृद्धि और सुरक्षा के निमित्त ही प्रारम्भ में वे युद्ध में प्रवृत हुए, और अपनी प्रारम्भिक सफलताओं तथा भारतीयों की संगठनात्मक दुर्बलताओं को देखते हुए राज्य-प्रसार की आकांक्षा भी उनके मन में जाग पड़ी। अंग्रेजों ने यहाँ आते ही नये-नये उद्योगों में हाथ लगाया और किसी मात्रा तक उपयोगी समझ कर कुछ पुराने कुटीर उद्योगों को भी आधुनिक ढंग से आयोजित किया, लेकिन यह सत्य है कि उन्होंने अधिकांश भारतीय उद्योगों को अपनी कुटिल व्यापार नीति की सफलता के लिये तहस-नहस कर डाला। अपने लाभ के लिये उन्होंने नील और चाय के उद्योगों का बंगाल, बिहार और असम में फैलने के लिये भरसक प्रोत्साहन दिया। नील की खेती भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित थी परन्तु अंग्रेजों की व्यापार-बुद्धि ने उसकी खपत के लिये योरुप का विशाल बाजार ढूँढ़ लिया, यह उद्योग बहुत बड़े पैमाने पर तब तक चलता रहा जब तक रंग बनाने के नवीन साधनों और पद्धतियों का आविष्कार नहीं हो गया। ऐसा प्रसिद्ध है कि भारतवर्ष में पूँजीवाद के विकास का प्रथम चरण नील के उद्योग से ही संपन्न हुआ।[1] इसी प्रकार चाय जो पहले तैयार होकर चीन से आया करती थी असम के पहाड़ी ढालों पर उत्पन्न की जाने लगी और उसके निर्यात के लिये भी पर्याप्त बाजार प्राप्त हो गया। इन दोनों उद्योगों ने भारतीय व्यापार को कुछ व्यापक स्तर पर प्रतिष्ठित किया ही था कि उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में कोयले और लोहे की खानों का काम शुरू होने पर बंगाल और बम्बई

1. "The indigo industry is of particular interest in this connection, for in it we can trace the causes and the stages of the development of capitalism by the British in India."—*The British Impact on India*, p. 432. by P. Griffiths.

में जूट और सूत की फैक्टरियाँ खुल पड़ीं और भीमाकार उद्योगों का प्रवर्तन हुआ।[1] औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात वस्तुतः यहीं से हुआ। यातायात के साधनों में परिवर्तन होने से इन उद्योगों में और भी क्षिप्रता आई। सन् १८५२ ई० में १८ नवम्बर को भारतभूमि पर पहली रेलगाड़ी चली और उसके लगभग २८ वर्ष बाद (सन् १८८० तक) भारत की धरती की लगभग साढ़े आठ हजार मील लम्बी भूमि रेल के पहियों के नीचे आ गई। यातायात के इस विस्तार का परिणाम यह हुआ कि उत्पादित और कच्ची सामग्री अत्यधिक सरलता के साथ देश के भीतरी भागों तक पहुँचाई और लाई जाने लगी। सामाजिक, धार्मिक और नैतिक आचारों के ऊपर भी यातायात की इस सुविधा का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। इस औद्योगिक क्रान्ति के अवसर पर विदेशी पूँजी के अतिरिक्त देशी पूँजी भी व्यापार में प्रयुक्त हुई और आगे चलकर तो दोनों में एक होड़ या प्रतिद्वन्द्विता-सी लग गई। देश की अपार जनसंख्या बड़े-बड़े उद्योग-केन्द्रों की ओर उलट पड़ी और इस प्रकार आधुनिक ढंग के विशाल नगरों की सृष्टि होने लगी।[2] फलस्वरूप मनुष्यों के दो नये वर्ग—मजदूर और मध्यम वर्ग—इसी समाज में से उत्पन्न हुए जिनका महत्त्व देश के सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में बहुत अधिक बढ़ चला। कृषि-व्यवसाय के ऊपर अब भी बहुत बड़ी जनसंख्या निर्भर करती थी परन्तु जीविका-निर्वाह के एकदम नये साधन भी दिखाई देने लगे, सम्पत्ति का पुँजीकरण भूस्वामियों के यहाँ न होकर उद्योगपतियों और व्यापारियों के यहाँ होने लगा और एक ऐसी जटिल रहस्यमयी पद्धति पर द्रव्य-शक्ति समाज को संचालित करने लगी थी कि भारत की परंपरागत प्राचीन अर्थव्यवस्था की नींव हिल गई और उसका बना-बनाया सम्पूर्ण ढाँचा ही ढह गया।

सांस्कृतिक संघात :

इन राजनीतिक और औद्योगिक परिवर्तनों के फलस्वरूप धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारतवर्ष नवजीवन के स्पंदन से चंचल हो उठा। धर्म, दर्शन और आचार-विचार के क्षेत्रों में जीवन की प्रगति के अनुरूप अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। जैसा पहले कहा गया है, राज्य-प्रसार और उद्योग व्यापार के साथ-साथ अंग्रेज अपने आचार-विचार

---

१. सन् १८५४ में पहली सूती मिल बम्बई में तथा सन् १८५५ में पहली जूट की मिल बली रिसड़ा में।

२. अंग्रेजों के आने के पूर्व भी भारतवर्ष में बहुत बड़े पैमानों पर कुछ उद्योग चलाये जा रहे थे परन्तु उत्पादन की प्रणाली और वितरण की व्यवस्था मध्यकालीन पद्धति पर चला करती थी। ग्रिफिथ ने अपनी पुस्तक 'ब्रिटिश इम्पैक्ट ऑन इंडिया' के पृ० ४२९ पर टैवर्नियर नामक एक अंग्रेज लेखक की साक्षी इस प्रसंग में निम्नलिखित रूप में उद्धृत की है:—

"The first time I was at this mine (Diamond mine at Gani) there were nearly 60,000 persons, working there, including men, women, and children, who are employed in diverse ways, the men in digging, the women and children in carrying earth."

और धर्म-प्रचार का भी, कभी प्रत्यक्ष रूप से और कभी परोक्ष रूप से, कार्य करते रहे। परन्तु यह बात ध्यान देने की है कि राजनीतिक और आर्थिक पराजय स्वीकार कर लेने पर भी भारतीय जनसमूह धर्म तथा दर्शन के क्षेत्रों में पराजित होने के लिये तैयार न था। अतः उसके इस पहलू पर ज्यों ही पहला आघात लगा त्यों ही शरीर की सारी शिरायें एक साथ ही फड़क उठीं और सदियों का सोया हुआ अभिमान फुंकार करके जग पड़ा। भारतीयों को अचानक यह अनुभव हुआ कि जिन आचार-विचार और विश्वासों को जीवन के लिये अनिवार्य और शाश्वत जानकर वे ढोते चले आ रहे थे, वे तत्कालीन जीवन के लिये नितान्त अनुपयोगी ही नहीं अपितु व्यर्थ और हानिकर भी हो चुके थे अतः जनता के सामने केवल इतना ही प्रश्न नहीं था कि वह नूतन विचार-प्रणाली का स्वागत कैसे करे प्रत्युत उसके सामने यह भी प्रश्न आ खड़ा हुआ कि वह, किस प्रकार, निर्मम बनकर, अपने प्रिय-से-प्रिय विश्वास को भी अंधविश्वास और कुसंस्कार कह कर तिरस्कृत करे। ठीक इसी अवसर पर भारतीय समाज के कुछ प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने आगे बढ़कर जनता को कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से मुक्त करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया। भारतीय नव जागरण के वैतालिक यही थे।

ब्रह्म-समाज :

ऐसे व्यक्तियों में सबसे पहला नाम राजा राममोहन राय[1] (१७७५-१८३३) का लिया जाना चाहिये जिन्होंने सन् १८२८ ई० में ब्रह्म-समाज की स्थापना करके भारतीय धर्म और संस्कृति का महत्त्व प्रतिपादित किया और धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार किया, इस समाज में सन् १८३० में जो दस्तावेज़ प्रस्तुत किया गया, उसमें यह बात दृढ़ता के साथ प्रतिष्ठित की गई थी कि समाज के सदस्य किसी भी ऐसे देवता की निंदा या भर्त्सना न करें जिसकी पूजा देश के किसी भू-भाग में होती हो, तथा केवल उन्हीं बातों का प्रचार समाज के मंच पर से होना चाहिये जो विभिन्न धर्मावलंबियों में सद्भाव और सहिष्णुता की निर्मल चेतना जगा सकें। वेदान्त को अपना दार्शनिक आधार-ग्रन्थ मानकर राममोहन राय ने मूर्तिपूजा और तीर्थाटन आदि की प्रवृत्तियों का घोर खण्डन किया, अवतारवाद की भावना को उखाड़ फेंकने का प्रयास किया और निराकार निर्विकार ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन किया। सन् १८३३ के उपरांत ब्रह्म-समाज का नेतृत्व महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के कंधों पर आ पड़ा। उन्होंने यथाशक्ति समाज के संगठन को दृढ़ करने का प्रयास किया और

---

१. 'संस्कृति के चार अध्याय' नामक अपनी पुस्तक में 'दिनकर' जी ने श्री एच० सी० ई० जकारिया की पुस्तक 'रिनासैन्ट इण्डिया' की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की हैं जो राममोहन राय के महत्त्व के ऊपर प्रकाश डालती हैं:-

"भारतीय नवोत्थान की धारा के क्रम में छोटे-बड़े अनेक व्यक्तित्व उत्पन्न हुए हैं। यह धारा अब भी प्रवाह में है और आज भी ऐसे व्यक्तित्वों का आविष्कार अवरुद्ध नहीं हुआ है। किन्तु इन सारे व्यक्तित्वों के आध्यात्मिक पिता राममोहन राय हैं।"—पृष्ठ ४४१।

हिन्दुत्व के तर्कसंगत स्वरूप को उभार कर जनता के सम्मुख रखा, परन्तु कुछ ही दिन आगे चल कर केशवचन्द्र सेन से मतभेद हो जाने पर महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर को समाज को दो भागों में बांटना पड़ा । श्री केशवचन्द्र सेन जिस समाज को लेकर अलग हुए वह उदारता, सहिष्णुता और समन्वय के नाम पर ईसाइयत के अत्यन्त निकट पहुँच गया । 'दिनकर' जी ने ठीक ही लिखा है कि—

"·····केशवचन्द्र के समय में तो वह (समाज) हिन्दुत्व से इतना अलग और ईसाइयत के इतना समीप जा पहुँचा कि लोगों को सात्विक भ्रम हो गया कि यह और कुछ नहीं, सम्पूर्ण हिन्दू समाज को एक साथ ईसाइयत में दीक्षित करने का आयोजन मात्र है ।"[1]

इतना होने पर भी यह मानना पड़ेगा कि ब्रह्म-समाज के प्रचारकों ने भारतीय जन-समुदाय के सामने स्पष्ट कर दिया कि यदि जीवन की नवीन परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालना है और अगर अवश्यम्भावी महाविनाश से अपने धर्म और संस्कृति के आधारभूत उपादानों की रक्षा करनी है तो निर्भीक भाव से अंधविश्वासों और मिथ्या मान्यताओं को पद-दलित करके धर्म के बुद्धि-सम्मत रूप का व्याख्यान करना होगा । यह सत्य है कि समाज के सदस्यों की संख्या भारत जैसे विशाल देश को देखते हुए अत्यन्त अल्प क्या, नगण्य थी, परन्तु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय जन-समूह में नवीन तर्काधारित बौद्धिकता का आलोक ब्रह्म-समाज के प्रचारकों ने ही उत्पन्न किया । उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि धर्म का सच्चा रूप पुराणों की कथाओं, तीर्थयात्राओं और नाना प्रकार के मिथ्या आचारों से आच्छादित नहीं किया जा सकता ।

आर्यसमाज :

इधर ब्रह्म-समाज की शक्ति पारस्परिक मतभेद के कारण क्षीण हुई ही थी कि पश्चिमी भारत में आर्यसमाज के संस्थापक और नेता बनकर स्वामी दयानन्द जी आ गए । सन् १८७५ ई० में बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना हुई थी परन्तु उसके कई वर्ष पहले से ही हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच प्रचलित रूढ़ियों, कुसंस्कारों और अंधविश्वासों का प्रत्याख्यान करके स्वामी जी जनता के समक्ष वेद की प्रामाणिकता के आधार पर हिन्दू धर्म का बुद्धि-सम्मत रूप प्रतिपादित करते चले आ रहे थे । एक बात बड़े मार्के की है कि ब्रह्म-समाज की बौद्धिकता को ही पूर्णतया अपनाकर स्वामी जी ने तद्वत् धर्म-सहिष्णुता या समन्वय की नीति नहीं बरती । उन्होंने जिस विचार को सत्य करके स्वीकार किया उसका दृढ़तापूर्वक प्रचार और पक्ष-समर्थन भी किया । परन्तु जिस विचार या विश्वास से वे सहमत नहीं हुए उसका खण्डन इतनी तीव्रता और जोश के साथ किया कि ठण्डे और संयत मस्तिष्क वाले विरोधी भी विचलित हुए बिना नहीं रह सके । हिन्दू धर्म की आलोचना के साथ-साथ स्वामी जी

---

१. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४५२ ।

ने ईसाइयत और इस्लाम की भी कड़ी आलोचना की। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी-भाषी समुदाय जितना आर्यसमाज से प्रभावित हुआ उतना ब्रह्म-समाज से नहीं। ब्रह्म-समाज का छनकर आया हुआ परोक्ष प्रभाव ही इस समुदाय पर पड़ा परन्तु आर्यसमाज के विचारों का जादू तो सिर पर चढ़ कर बोलने लगा। सनातन मतावलम्बियों की ओर से स्वामी जी का विरोध और तिरस्कार भी बहुत हुआ परन्तु महत्त्व की बात यह रही कि राजस्थान, पंजाब, संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रदेश आदि में निवास करने वाला विशाल तरुण समाज उनकी प्रचण्ड हुंकार से एकबारगी जग पड़ा। इस समाज के अधिकांश लोग मध्यम वर्ग के वे शिक्षित या अर्द्ध-शिक्षित व्यक्ति थे जो पाश्चात्य ज्ञान और दर्शन का आभास पाकर अपने देश में फैले हुए अंधविश्वास तथा कुसंस्कार के मोहांधकार को दूर भगाना चाहते थे परन्तु जिनके लिए यह सोचना मुश्किल था कि सदियों की गहराई तक धँसे हुए संस्कारों और उनका समर्थन करने वाले सम्मान्य ग्रन्थों की राशि को परे धकेल कर बुद्धि-सम्मत धर्म और आचार-विचार का वास्तविक रूप कैसे उद्घाटित किया जाय। स्वामी जी के दुर्दम-नीय साहस और प्रचण्ड प्रतिभा ने यह कार्य सरल कर दिया। पद-दलित भारतीयों में आत्मगौरव की भावना जगाने के लिये उन्होंने यह सिद्ध किया कि ज्ञान विज्ञान के मूल उत्स वेद हैं जो संसार में ईश्वर द्वारा ही प्रेरित हैं। उन्होंने यह भी बताया कि संसार की प्राचीनतम वाणी संस्कृत में फूटी और इसी से विश्व की सभी बोलियाँ निःसृत हुई। आगे चलकर उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि आर्यों का आदि-देश भारतवर्ष ही है और ये लोग ही संसार के प्राचीनतम मानव हैं। वेद को स्वतः प्रमाण मानकर स्वामी जी ने अपनी मान्यताओं का व्याख्यान किया, अतः वेद-विरोधी मतों का प्रतिपादन करने वाले सभी धर्म-ग्रंथ, चाहे पुराण हों या महाकाव्य, स्मृतियाँ हों या गीता, उनके कोप-भाजन बने। शुद्धि की प्रक्रिया का सूत्रपात करके तो स्वामी जी ने मानो कूप-जल के रूप में निबद्ध हिन्दू समाज को जीवन्त मानव समुदाय की जलधारा के रूप में प्रवाहित करने का श्लाघनीय प्रयास किया। उनके द्वारा प्रचा-रित दार्शनिक सिद्धान्तों, धार्मिक तथा सामाजिक आचार-विचारों और आर्य जाति सम्बन्धी मान्यताओं में सचाई कितनी है, इस बात में पर्याप्त विवाद रहा है, और रह सकता है, परन्तु निष्पक्ष इतिहास-लेखक इस तथ्य से इंकार नहीं कर सकता कि भारतीय समाज और विशेषकर हिन्दी-भाषी समुदाय[1] नवोत्थान काल में उन्हीं विचारों

---

१. ऐसा प्रसिद्ध है कि ब्रह्म-समाजियों ने ही स्वामी जी को बताया था कि संस्कृत के स्थान पर हिन्दी को प्रचार माध्यम बनाने से विशेष लाभ होगा। ब्रह्म-समाज ने बंगाल और हिन्दी प्रदेश में प्रचार के लिए देशी भाषाओं को ही अपनाया था—दिनकर जी ने लिखा है :

"कहते हैं, कलकते में ही केशवचन्द्र सेन ने स्वामी जी को यह सलाह दी कि यदि आप संस्कृत छोड़कर हिन्दी में बोलना प्रारम्भ करें तो देश का असीम उपकार हो सकता है। तभी से स्वामी जी के व्याख्यानों की भाषा हिन्दी हो गई....." संस्कृति के चार अध्याय—पृ० ४६८।

की ठोकर से जग पड़ा और नवयुग की राजनीतिक-अर्थनीतिक परिस्थितियों तथा तज्जनित बौद्धिकता के अनुरूप अपने को ढालने का प्रयास करने लगा।

रामकृष्ण मिशन : विवेकानन्द :

इधर ब्रह्म-समाज तथा आर्यसमाज के उच्च स्वर भारतीय आकाश में गूंज ही रहे थे कि पाश्चात्य रंगमंच पर अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और विश्वमानवतावाद के दृश्य साकार होने लगे और सर्वधर्म-समन्वय का क्षीण प्रयास भी अपना आभास देने लगा। उक्त दोनों ही समाज राष्ट्रीय दायरे में ही अपनी अद्‌भुत शक्ति तथा क्षमता का परिचय दे रहे थे परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हिन्दुत्व की गरिमा और उदात्त आदर्शों का सम्यक् व्याख्यान स्वामी रामकृष्ण के मेधावी शिष्य स्वामी विवेकानन्द के द्वारा ही सम्पन्न हुआ। यद्यपि ब्रह्म-समाज और आर्यसमाज के प्रचारक भी अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं में प्रविष्ट हुए तथापि किसी परवर्ती प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के अभाव में संसार के सामने भारत की आत्मा का आलोक ये लोग उद्‌भासित नहीं कर सके। अतः नवोत्थान युग में विदेशों के अन्तर्गत भारतीय धर्म-दर्शन और आचार-विचार सम्बन्धी मान्यताओं की पृष्ठभूमि में निहित महती मानवता के सर्वप्रथम संदेश-वाहक और वैतालिक बनकर स्वामी विवेकानन्द ही पहुँचे और अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भारतीयों की विचार-सम्पदा का महत्त्व प्रतिष्ठित करके उन्होंने ही जनता में आत्म-गौरव की व्यापक भावना जगाई। सन् १८९३ वाले शिकागो के अखिल धर्म-सम्मेलन में स्वामी जी के ओजस्वी भाषणों का जो शानदार और अप्रत्याशित स्वागत हुआ उसने भारतीयों के समक्ष यह स्पष्ट कर दिया कि भौतिक युग की विघटनकारी शक्ति के आघात से पीड़ित और पूँजीवाद के ह्रास-युग का त्रस्त विश्वमानव भारत के प्राचीन ज्ञानालोक से अपने अदृष्ट के अन्धकार को दूर करने के लिये लालायित है। रामकृष्ण मिशन के संस्थापक स्वामी रामकृष्ण जी तो धर्म सम्बन्धी विचारों और मान्यताओं को अपने व्यक्तित्व, आचरण और जीवन में उतार कर चरितार्थ करने वाले असाधारण महापुरुष थे, स्वामी विवेकानन्द के रूप में उन्हें बौद्धिकता और वाणी का वरदान मिला। दोनों के संयोग से भारतीय आत्मा का जितना तीव्र आलोक विश्व में वितरित हुआ उतना गौतम बुद्ध के उपरांत किसी दूसरी भारतीय प्रतिभा या संस्था के द्वारा शायद नहीं हुआ था। स्वामी जी के विदेशी व्याख्यानों का सबसे बड़ा लाभ अपने देश में तो यह दिखाई पड़ा कि पाश्चात्य विचार-दर्शन से प्रभावित और आक्रान्त भारतवर्ष के वे तरुण, जो अपनी सारी प्राचीन परम्पराओं को जड़ और उपेक्षणीय ठहरा कर किसी विश्वास के अभाव में या तो किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे या इधर-उधर भटकने लग गये थे, यहाँ की प्राचीन विचार-सम्पदा का निरीक्षण और संचय करने की ओर झुक पड़े, कारण यह था कि पश्चिम के जिस जीवन-सुख और विचार-दर्शन को उन्होंने अपना एकमात्र आदर्श बना रखा था उसके भोगी तथा अनु-

यायी योरुप और अमेरिका के निवासी बहुत बड़ी संख्या में स्वामी जी के प्रशंसक या शिष्य बन गए। इस प्रकार पाश्चात्य जीवन-दर्शन और ईसाइयत का बढ़ता हुआ जहरीला प्रभाव, जो राजा राममोहन राय तथा स्वामी दयानन्द के वज्र-सदृश प्रचण्ड आघात से भी समाप्त नहीं हुआ था, प्रायः निःशेष हो चला। अगर ईसाइयत के छोटे-मोटे प्रचार-प्रयत्नों की बात छोड़ दी जाए तो 'दिनकर' जी का यह कथन पूर्णतया सत्य सिद्ध होता है कि "हिन्दुत्व को लीलने के लिए, अंग्रेजी भाषा, ईसाई धर्म और योरोपीय बुद्धिवाद के पेट से जो तूफान उठा था, वह स्वामी विवेकानन्द के हिमालय जैसे विशाल-वक्ष से टकराकर लौट गया।"[1] परन्तु स्वामी जी प्रवृत्ति-मार्गी और कर्म-योगी वेदांती थे, निष्क्रिय संन्यास और कर्महीन आत्म-चिन्तन के पक्षपाती नहीं थे, इसी-लिए संसार के कल्याण के लिए उन्होंने यह अनिवार्य समझा कि योरुप के शरीर और भारत की आत्मा का समन्वय होना चाहिए।

भारतीय नवोत्थान युग में बीसवीं शती के प्रारम्भ होने के पूर्व उपर्युक्त तीन प्रधान संस्थाओं के अतिरिक्त अन्य अनेक छोटे-मोटे संगठन भी कार्य कर रहे थे, परन्तु उनके द्वारा किया गया कार्य उक्त तीन प्रधान संस्थाओं के विस्तार में ही समा-हित हो सकता है।

भारतीय नवजागरण के धार्मिक-सांस्कृतिक उत्थान को जीवन की समग्रता के साथ मिलाकर देखने से सिद्ध हो जायेगा कि आर्थिक-राजनीतिक क्षेत्रों की क्रांति से कहीं अधिक पुष्ट और दृढ़ यह सांस्कृतिक पुनर्जागरण ही था। योरोपीय पुनर्जागरण के साथ इसका साम्य बहुत थोड़ी दूर तक ही है—उसकी सभी स्थितियाँ और प्रवृत्तियाँ यहाँ दिखाई नहीं पड़तीं। धर्म और संस्कृति के स्वर का प्राधान्य भी इसकी अपनी विशेषता है। पराधीनता के कारण आत्म-गौरव के उन्मेष का तीव्र आलोक भी इसमें विद्यमान है। आत्म-गौरव की यह भावना हमारे राष्ट्रीय आंदोलन का सांस्कृतिक चरण सम्पन्न करती है। प्रौढ़ और परिपक्व मस्तिष्क वालों के ऊपर इस जागरण का जो भी प्रभाव पड़ा हो, किन्तु किशोरों और तरुणों के मन में अपने धर्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, आचार-विचार आदि के प्रति प्रेम, आदर और श्रद्धा का भाव उसी से उत्पन्न हुआ। शिकागो सम्मेलन को ही लिया जाय, तो उस समय स्वामी विवेकानन्द की सफलता से भारत की समूची जनता विशेषकर तरुणों और किशोरों को जिस उल्लास और उत्साह का अनुभव हुआ होगा, उसका अनुमान लगाना कठिन नहीं। शुक्ल जी की आयु उस समय लगभग १० वर्ष की थी। ठीक ज्ञात नहीं कि उस अल्प आयु में उनके ऊपर, इस घटना का क्या प्रभाव पड़ा किन्तु इतना प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है कि उनके साहित्य में प्रारम्भ से ही भारत की सांस्कृतिक सम्पदा के प्रति आदर और श्रद्धा की भावना रही है। अपनी आलोचना में भी जहाँ वे एक ओर अत्यन्त गंभीर प्रश्नों से उलझते-सुलझते जटिल

---

१. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ४९९।

गुत्थियों को सुलझाते चले जाते हैं वहाँ दूसरी ओर भारत के गौरव का प्रत्यक्ष या परोक्ष चिन्तन भी अवश्य करते जाते हैं। उनका सम्पूर्ण समीक्षा-साहित्य राष्ट्रीय भावनाओं से भरपूर है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि उन्होंने साहित्य को राष्ट्रीय दृष्टि से देखा है। इस दृष्टि का सीधा और प्रत्यक्ष सम्बन्ध नव-जागरण के सांस्कृतिक पक्ष से ही है। जब तक उस भूमिका में हम शुक्ल जी के समीक्षात्मक साहित्य का मूल्यांकन न करेंगे, तब तक इस बात का भ्रम हुआ करेगा कि पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों के प्रति उनकी अनुदारता अनुचित है। भारतीय साहित्य-सिद्धान्तों को अधिक गौरव प्रदान करना भी सर्वदा ही खटकता रहेगा। उनका साहित्य हमारे नव-जागरण की एक शृंखला है। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिये नव-जागरण का संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया गया है। आगे हम यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि इस जागरण-यज्ञ में भारतेन्दुकालीन हिन्दी साहित्यकारों ने कितनी आहुतियाँ दीं, क्योंकि शुक्ल जी उन्हीं साहित्यकारों की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले लेखक के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

साहित्यिक संघात :

यह ध्यान में रखने की बात है कि उक्त धार्मिक और सांस्कृतिक आंदोलनों ने भारतीय समाज को बुद्धि और विचार के स्तर पर ही स्पंदित किया था, उसके रागतन्तुओं को झंकृत करने और भाव तथा विश्वास के स्तर पर नवयुग की परिस्थितियों से उद्भूत मान्यताओं को प्रतिष्ठित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य साहित्य-कारों के द्वारा ही सम्पन्न हुआ। यह भारतीय धर्म, संस्कृति आदि के साथ-साथ भारतीय साहित्य के भी व्यापक जागरण का काल था और चूँकि पाश्चात्य सम्पर्क के प्रभाव से बंगाल में औद्योगिक क्रांति सबसे पहले घटित हुई थी इसलिए साहित्यिक जागरण का नूतन स्वर भी सबसे पहले वहीं सुनाई पड़ा। इस प्रकार किसी को यह मानने में हिचक नहीं होनी चाहिये कि जिस प्रकार भौतिक जीवन के क्षेत्र में योरोपीय अर्थ-प्रणाली समुद्र के तटवर्ती प्रान्तों से छन कर देश के भीतरी भागों में पहुँची और जैसे योरोपीय संस्कृति और धर्म का प्रवाह बंगाल से चलकर देश के पश्चिमोत्तर प्रदेश तक पहुँचा, उसी प्रकार योरुप का साहित्यिक प्रभाव भी बंगाल से होता हुआ हिन्दी-भाषियों तक पहुँचा था। बंग-साहित्य में बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय तथा माइकेल मधुसूदन दत्त जागरण के अग्रदूत हुए और अपनी रचनाओं द्वारा उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया कि सामन्तकालीन काव्य-रूढ़ियों और रूपों तथा विषय-सीमाओं में अवरुद्ध साहित्य घुट-घुट कर मर जायेगा, अतः, यदि उसे पुनरुज्जीवित करना है, तो नूतन विषय सामग्री से समृद्ध करके तदनुरूप नूतन काव्य-रूपों और अलंकारों से सुसज्जित करना पड़ेगा। हिन्दी साहित्य में इस नई भावना का सूत्रपात प्रथम बार भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के द्वारा ही हुआ अतः उसके नव-जागरण को समझने के लिए हम अपनी दृष्टि मुख्यतः १९वीं शती के उत्तरार्द्ध तक ही सीमित रखेंगे और यह देखने

का प्रयत्न करेंगे कि नयी परिस्थितियों से साहित्यकार किस प्रकार अपना तादात्म्य स्थापित करने लगे। साहित्यिक जागरण को तीव्र और बलवत्तर बनाने वाले दो अन्य उपादान औद्योगिक क्रान्ति के युग में ही निर्मित हो गये थे। पहला था मुद्रण-यन्त्रों का आविष्कार तथा गद्य का प्रसार और दूसरा था पत्रकारिता का सूत्रपात। यह रोचक बात है कि भारतेन्दु युग के अधिकांश लेखक पत्रकार पहले हैं और पुस्तक लेखक बाद में। मुद्रण-यन्त्रों का प्रयोग होने से गद्य का विकास बड़ी तेजी से हुआ और नया तथा प्राचीन साहित्य विपुल परिमाण में प्रकाशित होकर सर्वसाधारण के पास तक पहुँचने लगा, केवल गोष्ठी या दरबार के रसिकों तक ही उसकी सीमा न रही। कुछ पाश्चात्य प्रभाव और कुछ जीवन की बढ़ती हुई जटिलता के कारण साहित्य का सामन्तकालीन संकुचित दृष्टिकोण भी अधिक उदार और व्यापक बना तथा कविता एवं नाटक के अतिरिक्त, उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना आदि भी साहित्य-सीमा के भीतर विकसित हुए। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन ने इन साहित्यिक प्रयत्नों को प्रोत्साहित किया, अतः सर्वप्रथम उनके विकास को देखना आवश्यक होगा।

पत्रकारिता :

१९वीं शती के पूर्वार्द्ध में केवल कुछ पत्रों का ही प्रकाशन हो सका जिनमें 'उदन्त मार्तंड' (१८२६ ई०), 'बनारस अखबार' (१८४५ ई०) तथा 'सुधाकर' (१८५० ई०) ही प्रमुख हैं। इन पत्रों में विचारों की स्वतन्त्रता का आभास प्रायः नहीं मिलता। कारण यह था कि अंग्रेज प्रभुसत्ताधारियों ने लार्ड वैलेज़ली और मिण्टो के युग में कानून बनाकर प्रेस के ऊपर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये थे। सर चार्ल्स मेटकॉफ़ ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारतीयों को कुछ अधिक प्रबुद्ध बनने का अवसर देते हुए सन् १८३५ ई० में उक्त प्रतिबन्धों को हटा लिया। सन् १८५७ के अप्रत्याशित राजनीतिक विप्लव ने गौरांग शासकों के कान खड़े कर दिये। फलस्वरूप समाचार-पत्रों पर भी कड़े नियंत्रण लगाये गये। परन्तु मार्के की बात यह है कि उधर कानून का पंजा पत्रों को जकड़ता जा रहा था और इधर दैनिक, मासिक तथा साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़-सी आ रही थी।

'समाचार-सुधावर्षण' जो हिन्दी भाषा का सर्वप्रथम दैनिक पत्र था सन् १८५४ में प्रकाशित हुआ। कलकत्ते से निकलने के कारण उसमें बंगला भाषा का भी यथा-स्थान प्रयोग हुआ करता था। स्वयं भारतेन्दु ने सन् १८६८ ई० में 'कविवचन-सुधा' का प्रकाशन प्रारम्भ किया जो हिन्दी में आधुनिक ढंग की विविध-विषयमयी सबसे पहली पत्रिका मानी जा सकती है। इसके अन्तर्गत साहित्य के सभी अंगों और शैलियों का समावेश हुआ। सन् १८७३ में "हरिश्चन्द्र मैगज़ीन" का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। उसके मुख पृष्ठ पर यह लिखा था :

"A monthly journal published in connection with the Kavi-vachan Sudha containing articles of literary, scientific, political,

and religious subjects, antiquities, reviews, dramas, history, novels, poetical selections, gossip, humour and wit."

'कविवचन-सुधा' ने विषय-विविधता का निर्वाह उच्च स्तर पर किया और उसके संपादन की कला-विदग्धता और योग्यता का सबूत यह था कि वह मासिक से पाक्षिक और पाक्षिक से साप्ताहिक भी हो गई। सन् १८८० में प्रकाशित सामग्री को आपत्ति-जनक ठहराकर सर विलियम मुइर ने 'पत्रिका' की सरकारी सहायता बन्द करवा दी परन्तु अपने निजी उद्योग तथा जनता के सहयोग के बल पर भारतेन्दु अपने जीवन के अंतिम काल तक उसका संपादन करते रहे। 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' को भी वे मासिक से प्रारम्भ करके साप्ताहिक पत्रिका तक ले आये परन्तु सरकारी सहायता बन्द हो जाने के कारण उसकी अत्यन्त दुर्दशा हुई। सन् १८८० में वह 'मोहन चन्द्रिका' के साथ मिला दी गई परन्तु कुछ दिनों के बाद, भारतेन्दु के अवसान के अनन्तर, मोहन लाल विष्णु लाल पंड्या के कानूनी शिकंजे में पड़ जाने के कारण बाबू राधाकृष्ण दास को उसका प्रकाशन रोक देना पड़ा। सन् १८७४ में भारतेन्दु ने 'बाल-बोधिनी' नामक पत्रिका निकाली परन्तु आर्थिक कठिनाइयों और राजनीतिक प्रकोप के कारण उसका प्रकाशन भी बन्द करना पड़ा। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के अतिरिक्त दूसरे साहित्य-प्रेमियों ने भी अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किया जिनमें मुख्य-मुख्य पत्र निम्नां-कित हैं :—

'काशी पत्रिका' १८७६ ई०, 'आर्यदर्पण' १८७७ ई०, 'सारसुधा-निधि' १८७७ ई०, 'हिन्दी-प्रदीप' १८७७ ई०, 'भारतमित्र' १८७७ ई०।

कहना व्यर्थ है कि घोर आर्थिक संकट और राजनीतिक प्रकोप के बावजूद भी उक्त पत्रों ने साहित्य की श्रीवृद्धि और प्रसार में अपूर्व योग दिया। फिर आगे चल कर जब १८७८ ई० के वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट को लार्ड रिपन ने वापस लिया और पत्रों को कुछ विशेष सुविधायें प्रदान कीं तब इस क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं में विशेष उत्साह दिखाई पड़ा। सन् १८८० से लेकर १८९८ के बीच 'आनन्दकादम्बिनी', 'ब्राह्मण', 'हिन्दोस्थान', 'प्रयाग-समाचार', भारत-जीवन', 'भारतेन्दु', 'भारतोदय', 'आर्यसिद्धान्त', 'उपन्यास' आदि राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन और प्रसार हुआ। यह बात दूसरी है कि अनेक कठिनाइयों के कारण ये पत्र जनता के सामने उतना ऊँचा आदर्श नहीं प्रस्तुत कर सके जितना वांछनीय था परन्तु इतना निर्विवाद है कि जन-साधारण में राजनीति, संस्कृति और साहित्य की तीव्र चेतना उत्पन्न करके इन्होंने उसे अपने लक्ष्यों की ओर बढ़ने के लिए अपूर्व प्रेरणा और संबल प्रदान किया। एक दूसरा लाभ यह भी हुआ कि प्रचुर मात्रा में गद्य-साहित्य (नाटक, निबन्ध, आलोचना, उपन्यास, कहानी) का निर्माण हो गया। 'शुक्ल' जी के आविर्भाव के ठीक पूर्व हिन्दी साहित्य की वास्तविक स्थिति क्या थी यह जानने के

लिए विभिन्न साहित्यिक शैलियों में किये गये कार्य का मूल्यांकन कर लेना आवश्यक होगा।

भारतेन्दु-युगीन साहित्य :

कविता—उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में गद्य-साहित्य का पर्याप्त प्रसार हो जाने पर भी काव्य के क्षेत्र में सामन्त-युग की पतनकालीन प्रवृत्तियों का ही प्राबल्य रहा। काव्य-रूप और विषय, दोनों ही के चुनाव में रीतिकालीन रूढ़, शास्त्र-निबद्ध परंपरा का पतन हो रहा था। अपने चतुर्दिक् फैले हुए मानव-समाज की दैनिक समस्याओं और राष्ट्रीय अथवा सामाजिक प्रश्नों से जी चुराकर कवि-समाज मृतप्राय दरबारी मनोवृत्ति का परिचय दे रहा था। परन्तु सन् '५७ के राजनीतिक विप्लव के उपरान्त हम हिन्दी कविता के आकाश को नये-नये विचारों की घटाओं से उल्लसित-पुलकित देखते हैं। इस विप्लव का प्रत्यक्ष चित्रण हमें तत्कालीन हिन्दी या उर्दू कविता में नहीं मिलता परन्तु आगे के इतिहास को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवियों का मानसिक क्षितिज उस घटना के उपरान्त अधिक व्यापक और संवेदनशील हो गया है। हिन्दी में इस विप्लव को लेकर लिखी गई वे कवितायें इनी-गिनी हैं जो विप्लवी भारतीयों का पक्ष-समर्थन करती हैं[1] परन्तु दूसरी ओर आप उन कविताओं को भी नहीं पा सकते जो अंग्रेजों का समर्थन इस प्रश्न पर करती हों। फिर कवियों के इस मौन का कारण क्या है? मेरी समझ से इस विषय में विशेष अनुसन्धान की आवश्यकता है, क्योंकि यह प्रश्न केवल हिन्दी उर्दू के कुछ गिने-चुने साहित्यकारों तक ही सीमित नहीं है। भारतीय नवोत्थान-युग के अनेक बड़े-बड़े विचारक और स्वतन्त्रचेता विद्वान्, जिनमें स्वामी दयानन्द जी भी हैं, इस प्रश्न से संलग्न हैं। चूंकि विप्लव प्रधानतया हिन्दी-क्षेत्र में ही घटित हुआ था अतः उन कवियों और साहित्यकारों का इसके प्रति मौन धारण करना अवश्य खटकता है। इस सम्बन्ध में अनुमान के आधार पर दो समाधान दिये जा सकते हैं। पहला तो यह कि विप्लव या क्रांतियों का प्रत्यक्ष ब्यौरेवार विवरण काव्य में सदैव नहीं मिला करता, उसका आन्तरिक प्रभाव अवश्य लक्षित होता है। दूसरा यह कि, विप्लव के उपरान्त हिन्दी कविता के क्षेत्र में मध्य-वर्गीय भावनाओं तथा विचारों का ही आकलन मिल सकता है, कारण यह है कि सभी कवि मध्यम वर्ग में से निकल कर आये थे। यह ध्यान में रखने की बात है कि विप्लव के समय हिन्दी-भाषी-क्षेत्र में औद्योगिक पश्चगामिता के कारण मध्यम वर्ग का या तो पूर्ण अभाव था या अगर वह था तो अत्यन्त अल्प या नगण्य मात्रा में। यही कारण

---

१. जैसे प्रतापनारायण मिश्र की निम्नांकित कविता :—

दुष्ट समझ अपने भाइन कहं साथ न दीन्हों।
भोजन बिन विद्रोहिन दल निर्बल कीन्हों।
ठौर ठौर निज घर लुटवाये अरु फुंकवाये।
प्रान खोय बहु ब्रिटिश [illegible] के प्रान बचाये॥

था कि विप्लव का नेतृत्व सामन्तों ने किया। जब मध्यवर्गीय चेतना इतनी क्षीण और दुर्बल थी तब उसके कवियों से इस प्रसंग पर काव्य-रचना की आशा कैसे की जा सकती थी ? लेकिन एक बात सबको स्वीकार करनी पड़ेगी कि कवियों की उपेक्षा के बावजूद भी लोक-गीतों के माध्यम से विप्लवी नेताओं की पुनीत स्मृति पर सर्व-साधारण ने श्रद्धा के फूल दोनों हाथों से चढ़ाये। भोजपुरी क्षेत्र में कुँवर साहब, बुंदेल-खण्ड में झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई और अवध में नाना साहब की वीर-गाथायें स्त्रियों के गीतों तक में स्थान पा सकीं।

भारतेन्दु-युग में अंग्रेजी राज्य के प्रति भक्ति और प्रशंसा का भाव भी दिखाई पड़ता है परन्तु उसके समानान्तर आर्थिक शोषण और विभेद-नीति के प्रति तीव्र विद्रोह के भाव भी प्राप्त होते हैं। स्वयं भारतेन्दु में यह अंतर्विरोध इतना तीव्र है कि एक ओर तो वे अंग्रेजों की मिश्र-विजय में सहायता करने वाली सेना की प्रशंसा करते नहीं अघाते[1] और दूसरी ओर शोषण की कुटिल नीति की क्रूरता और निर्ममता पर व्यंग्य करना भी नहीं भूलते।[2] जनता की दारुण यातनाओं के ऊपर कवियों का ध्यान कैसे न जाता ? शोषण की कुटिल नीति के कारण ही देश को बार-बार अकाल का सामना करना पड़ा।[3] हिन्दी-कवियों की ही नहीं, भारतीय विचारकों की भी सीमा यही थी कि वे समस्याओं को अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ में रखकर नहीं देख पाते थे। मिश्र-विजय की प्रशंसा का एक कारण यह भी हो सकता था। यह स्वीकार करना होगा कि भारतेन्दु के अतिरिक्त अन्य कवियों में भी यह प्रवृत्ति सामान्यतः पाई जाती है। इस अंतर्विरोध-पूर्ण मनोवृत्ति का मुख्य कारण यह था कि तत्कालीन मध्यवर्गीय चेतना अपने विचार-दर्शन की सुनिश्चित आधार-भूमि नहीं ढूँढ़ पा रही थी। अपने

---

१. 'विजयिनी-विजय-पताका' शीर्षक कविता विजय के उपलक्ष्य में भारतेन्दु द्वारा काशी में एक तत्कालीन सभा में पढ़ी गई थी जिसका विवरण पत्रों में इस प्रकार छपा था :—

Babu Harishchandra read an excellent poem in Hindi on the subject. The opening stanzas of the poem explain the cause of India's unusual cheerfulness. It is the signal success of the Indian army in Egypt. A vivid contrast is drawn between the past and present conditions of India and the victory of the British nation in Egypt is described.

—भारतेन्दु ग्रंथावली ७६७-७६८

२. भीतर भीतर सब रस चूसै, हंसि हंसि कै तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज, क्यौं सखि साजन ? नहिं अंग्रेज।

3. By a moderate calculation, the famines of 1877 and 1878, of 1892 and 1899, of 1897 and 1900 have carried off fifteen millions of people. The population of a fair-sized European country has been swept away from India within twenty-five years.—*Economic History of India*—R. C. Datta, Vol. I, Preface—Page VI.

स्वभाव के अनुसार वह कभी तो तीव्र भावुकता के आवेश में उग्र क्रान्तिकारी भाषा में प्रकट होती थी और कभी समझौतावादी दृष्टि के प्रधान हो जाने पर श्रद्धा, भक्ति या प्रशंसा के रूप में प्रस्फुटित होती थी। यह विरोध मध्यवर्गीय जागरण की एक सामान्य विशेषता होती है, अतः उसे देखकर विस्मित होने की आवश्यकता नहीं।

राष्ट्रीय जागृति और सामाजिक सुधार आदि को भी आधार बनाकर अनेक फुटकल कवितायें लिखी गई थीं। धर्म-सुधार तथा सांस्कृतिक उत्थान की चर्चा भी इन कविताओं में सदैव रहती थी परन्तु नये वस्तु-विस्तार को समग्रतः परिवेष्टित करने के लिए पुराने काव्य-रूप पर्याप्त नहीं हो रहे थे। कविता में ब्रजभाषा को ही माध्यम बनाया गया था परन्तु कभी-कभी खड़ी बोली का प्रयोग भी इसके लिए हो जाया करता था। सन् १८८१ ई० के 'भारतमित्र' में भारतेन्दु के कुछ दोहे निम्नांकित ढंग के छपे थे :—

खोल-खोल, छाता चले, लोग सड़क के बीच।
कीचड़ में जूते फँसे, जैसे अघ में नीच॥[1]

परन्तु काव्य-विषय जितना ही अधिक समृद्ध होता गया और जीवन के ज्वलन्त रूपों की जितनी अधिक अभिव्यक्ति होने लगी नये-नये काव्य-रूपों—भाषा, छन्द, मुक्तक, प्रबन्ध आदि को तदनुरूप सुसज्जित और अलंकृत करना उतना ही दुष्कर जान पड़ने लगा। फलस्वरूप तत्कालीन कविता में जीवन की अभिव्यक्ति, जनता के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, रागद्वेष की व्यंजना अवश्य हुई परन्तु कुल मिलाकर प्रथम कोटि के काव्य का सृजन न हो सका।

नाटक :

भारतेन्दु-युग में नाटक-रचना का सूत्रपात ही हुआ था और रंगमंच के निर्माण का प्रश्न भी तभी खड़ा हुआ। भारतेन्दु से पूर्व सन् १८५९ ई० में श्री गिरिधर दास ने 'नहुष' नाटक लिखा था। 'विद्यासुन्दर' का अनुवाद सन् १८६८ में भारतेन्दु ने ही प्रकाशित किया और तदुपरान्त कई सुन्दर मौलिक नाटकों का सृजन उनकी लेखनी से हुआ। 'सत्य-हरिश्चन्द्र', 'भारत-दुर्दशा', 'नीलदेवी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' आदि कृतियाँ हिन्दी की प्रारम्भिक नाट्य-कला को देखते हुए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। भारतेन्दु के अतिरिक्त अन्य हिन्दी लेखकों ने भी धार्मिक, सामाजिक,

---

१ इसके साथ भारतेन्दु का पत्र भी छपा था—

'प्रचलित साधु भाषा में यह कविता भेजी है। देखियेगा कि इसमें क्या कसर है और किस उपाय के अवलंबन करने से इसमें काव्य-सौंदर्य बन सकता है। इस सम्बन्ध में सर्वसाधारण की सम्मति ज्ञात होने से आगे वैसा ही परिश्रम किया जायेगा। लोग विशेष इच्छा करेंगे तो और भी लिखने का यत्न करूँगा।' भारतेन्दु-युग—डॉ० राम विलास शर्मा—पृष्ठ १६८-६९।

पौराणिक तथा ऐतिहासिक कथा-प्रसंगों को लेकर ऐसे नाटकों की सृष्टि की जो ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। 'तप्तासंवरण', 'प्रह्लादचरित्र', 'संयोगिता-स्वयंवर', 'गन्नौर की रानी', दुखिनी बाला', 'महाराणा प्रताप', 'अमरसिंह राठौर' आदि उस काल की कुछ प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय कृतियाँ हैं।

हिन्दी की अपनी नाट्य-कला तथा रंगमंच के अभाव के कारण उक्त नाटक-कार कभी प्राचीन संस्कृत नाट्य-शास्त्र के नियमों की शरण लेते थे, कभी नाटक की नवीन पाश्चात्य कला को आत्मसात् करने का प्रयास करते थे तथा कभी पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों के दृश्य-विधान तथा घटना-संयोजन का भी उपयोग कर लेते थे। यद्यपि भारतेन्दु-मण्डल के लेखकों ने बड़े उत्साह और लगन के साथ रंगमंच-निर्माण का कार्य शुरू किया था तथापि कलात्मक संचालन और नाटकीय उपादानों के एकांत अभाव के कारण अभिनीत नाटकों की त्रुटियां भी पकड़ में नहीं आती थीं। अधिकांश हिन्दी-नाटक तो अब तक भी पाठ्य-ग्रन्थ बनकर ही रह गये हैं।

शैली-शिल्प की दृष्टि से इन नाटकों का कलात्मक स्तर, चाहे जैसा रहा हो परन्तु इसमें संदेह नहीं कि नवजागरण-कालीन विचारों और भावों की अभिव्यक्ति इनमें अधिक व्यंग्यात्मक और प्रभावशालिनी होकर फूट पड़ी।

निबन्ध :

निबन्धों और लेखों का प्रारम्भ भी खड़ी बोली गद्य का प्रचार हो जाने के उपरांत भारतेन्दु-युग में ही हुआ। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन ने सबसे अधिक प्रोत्साहन निबन्ध-लेखन को ही दिया। प्रत्येक पत्रिका के प्रायः हरेक अंक में तीन-चार निबन्धों-लेखों का प्रकाशन प्रायः साधारण-सी बात थी। परन्तु प्रभावशाली सुन्दर निबन्धों के लेखक उँगलियों पर ही गिने जाने के योग्य थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अतिरिक्त पं० प्रताप नारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, बाबू तोताराम, राजा शिवप्रसाद, राधाचरण गोस्वामी आदि लेखक निबन्ध-रचना के क्षेत्र में ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य कर गये हैं। इन निबन्ध लेखकों के शैली-शिल्प और विषय-वस्तु की समीचीनता आदि का विवेचन यहाँ प्रासंगिक नहीं; केवल इतना कह रखना आवश्यक है कि राष्ट्रीय, धार्मिक, सांस्कृतिक, नैतिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि सभी प्रकार की तत्कालीन समस्याओं पर विभिन्न दृष्टियों से विचार करके इन निबन्धकारों ने जीवन की प्रगति के समानोन्तर साहित्य को प्रधावित करने का सराहनीय उद्योग किया। इन निबन्धों में एक अपूर्व मस्ती तथा हास्य-व्यंग्य का ऐसा उच्छलित रूप दिखाई पड़ा जो अधुनातन निबन्ध-लेखक के लिए भी ईर्ष्या की वस्तु है। नवोत्थान-कालीन हिन्दी-भाषी समुदाय को प्रबुद्ध और सजग करने का कार्य इन निबन्धों ने विशेष किया।

इतर-साहित्य :

भारतेन्दु-युग में साहित्य-समालोचना का सूत्रपात तो अवश्य हुआ परन्तु वह

इतनी प्रारम्भिक अवस्था में थी कि नव-जागरण कालीन साहित्यिक कृतित्व को प्रेरित या प्रभावित करने में अंशतः ही सफल हो सकी। अतएव उसके ऐतिहासिक महत्त्व का उल्लेख प्रसंग आने पर, 'शुक्ल' जी की आलोचना-पद्धति पर विचार करते समय, किया जायेगा।

नवोत्थान-सम्बन्धी भावनाओं और विचारों को उद्दीप्त करने में कथा-साहित्य का महत्त्व भी कम नहीं है। यद्यपि भारतेन्दु के जीवनकाल में न तो आधुनिक ढंग की मौलिक कहानियाँ ही लिखी जा सकीं और न ही आधुनिक उपन्यास का सृजन हो सका तथापि उनके निधन के उपरान्त कथा-साहित्य एकाएक गतिशील हो उठा और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होने के साथ ही लघु आख्यायिकाओं और उपन्यासों का प्रभूत साहित्य प्रकाशित हो गया। बालकृष्ण भट्ट के 'सौ अजान एक सुजान', 'नूतन ब्रह्मचारी', किशोरीलाल गोस्वामी के 'त्रिवेणी' और 'लवंग-लता', राधाचरण गोस्वामी की 'विधवा विपत्ति' तथा गोपाल राम गहमरी के अनेक उपन्यास जो जनता के बीच बहुत लोकप्रिय हो गये थे उन्नीसवीं शती के अंतिम चरण में ही लिखे गये थे। कहना न होगा कि पाश्चात्य प्रभावों से प्रेरित होने के कारण उपन्यास-रचना का गठन भी पाश्चात्य ही रहा परन्तु इतना अवश्य कहा जायेगा कि हिन्दी की प्रारम्भिक औपन्यासिक-कला पाश्चात्य प्रभावों को सीधे न ग्रहण करके बंगला के माध्यम से ग्रहण कर रही थी। बंकिम बाबू के ऐतिहासिक उपन्यास, जिनका अनुवाद हिन्दी में उन्हीं दिनों हो गया था, हिन्दी के अधिकांश लेखकों और पाठकों के लिये प्रकाश-स्तम्भ का कार्य कर रहे थे। अतः छन कर आया हुआ प्रभाव अपना विदेशीपन पहले ही खो बैठा था। कुछ मौलिक प्रयास भी उपन्यास-रचना के क्षेत्र में उस समय किये गये थे परन्तु समाज में व्यक्ति-वैचित्र्य तथा वर्ग-वैषम्य का पूर्ण विकास न होने के कारण उनमें विषय और घटना का बाहुल्य तो हो जाता था परन्तु चरित्रों की सृष्टि नहीं हो पाती थी।[1] व्यक्तिगत वैशिष्ट्य का ऐसा निरूपण नहीं हो सकता था जो एक पात्र को दूसरे से अलग करके प्रत्यक्ष कर सके। परन्तु बीसवीं शताब्दी के पूर्व यह बात प्रत्यक्ष हो चुकी थी कि उपन्यास जीवन की वास्तविक अभिव्यक्ति का बड़ा सबल और प्रभावशाली माध्यम बन सकता है।

प्रचारात्मक कार्य :

भारतेन्दु-युग एकान्त साहित्य-साधना का युग नहीं था। उस समय सभा-समाजों, विचार-गोष्ठियों तथा भाषण-व्याख्यानों की भी धूम मची हुई थी। इन माध्यमों से साहित्य-रचना को प्रोत्साहन तो मिला ही, साथ ही उसके प्रचार-प्रसार

---

1. Such an art form as the novel could, therefore only arise in a society where economic differentiation gives such scope for the realisation of individual difference that it is useful and valuable to tackle man, the individual, from this angle."—*Illusion and Reality* by Christopher Caudwell—page 18 (1947).

में भी पर्याप्त सहायता मिली। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही 'कविता-वर्द्धिनी-सभा' (१८७०) और 'तदीय-समाज' (१८७३ ई०) जैसी गोष्ठियों की आयोजना की थी जिनमें नूतन रचनाओं का पाठ तो होता ही था, साथ ही उनपर विचार-विमर्श भी सामान्य साहित्य-चर्चा के साथ-साथ हुआ करता था। इसी प्रकार सुधाकर द्विवेदी द्वारा स्थापित तथा संचालित 'तुलसी-सभा' और बाबू तोताराम की 'भाषा-संवर्द्धिनी सभा' (अलीगढ़) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गोष्ठियां थीं। हिन्दी-भाषी-क्षेत्र में, कदाचित्, उस समय कोई भी ऐसा नगर नहीं था जहां दो-चार साहित्य-प्रेमी रहते हों परन्तु कोई स्थायी विचार-सभा न स्थापित की गई हो। यद्यपि साहित्य का प्रकाशन बड़े पैमाने पर हो रहा था और लेखकों की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ शीघ्र छपकर सर्वसाधारण तक सरलता से पहुँच जाती थीं, तथापि दरबारों की प्राचीन गोष्ठी-परम्परा की उपयोगिता का अनुभव लेखकगण अब भी कर रहे थे। इन गोष्ठियों में साहित्यकारों को जहाँ एक ओर अपनी रचनाओं की परिमार्जना का अवसर मिल जाता था वहाँ दूसरी ओर कुछ ऐसी रचनाओं का भी पाठ हो जाया करता था जिनका जनता में तत्काल स्वागत नहीं हो सकता था।

निष्कर्ष :

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि भारतेन्दु-युगीन साहित्य में तत्कालीन जीवन के अनुरूप व्यापकता और प्रसार तो अवश्य हुआ परन्तु परम्परागत साहित्यिक प्रवृत्तियाँ जीर्ण तथा कालातीत होने पर भी अपना आतंक जमाये हुए थीं। कविता में ब्रजभाषा केवल माध्यम ही नहीं थी अपितु ब्रजभाषा काव्य का पुराना ढाँचा ही कवियों का आदर्श बना हुआ था। यद्यपि स्वामी दयानन्द की नीतिमत्ता और कर्मवादिता के सामयिक प्रचार तथा नवयुगीन क्रान्तिकारी विचारधारा से आतंकित कोई कवि नारी को मात्र शृंगार की प्रतिमा के रूप में प्रतिष्ठित करके पुरुष-नारी सम्बन्ध को कलंकित करने का साहस नहीं रखता था तथापि प्राचीन 'नायिका-भेद' के आकर्षण और 'रसिकता' से उसका पिंड नहीं छूट सका था। इसका प्रधान कारण यही रहा कि तत्कालीन भारतीय समाज का सामंती ढाँचा पूर्णतया विनष्ट नहीं हुआ था, उस ढाँचे के ऊपर अभी यंत्र-युग की सभ्यता का पहला ही आघात लगा था। अतः उस प्राचीन व्यवस्था से सम्बद्ध विचार और भाव-परम्परायें अभी चली जा रही थीं।

इस युग में नवजीवन को समग्रतः परिवेष्टित करने के लिए विषय-वस्तु का अकल्पित विस्तार तथा नूतन साहित्य-रूपों का निर्माण जिस अनुपात में करना पड़ा उसी अनुपात में उनका संस्कार और मार्जन करने का अवसर नहीं मिला। परिणाम-स्वरूप अव्यवस्थित तथा अपरिपक्व साहित्यिक कृतियों का अम्बार एकत्र हो गया जिसे देखकर अनेक आलोचकों को यह सात्त्विक भ्रम हो जाता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी ने किसी प्रतिभाशाली साहित्यकार को जन्म ही नहीं दिया और इसी भ्रम की झोंक में ऐसे आलोचक एक ओर ग़ालिब तथा इक़बाल और

दूसरी ओर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कृतित्व से भारतेन्दुयुगीन कृतित्व की तुलना करके अपने पक्ष का समर्थन करना चाहते हैं।[1] परन्तु वास्तविकता यह थी कि तत्कालीन हिन्दी लेखक खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा के समानान्तर प्रयोग से ऐसी विलक्षण परिस्थिति में पड़ गये थे जिससे उर्दू और बंगला के लेखक पूर्णतया अपरिचित थे और जो साहित्यिक कृतित्व की परिपक्वता में बाधा-स्वरूप थी। पुष्टिमार्गीय भक्ति-भावना से भीगे हुए भारतेन्दु के मनोहर रसपूर्ण सवैये तथा पद किसी साधारण कवि की रचना नहीं जान पड़ते। प्रतिभा का अनुमान भारतेन्दु की खड़ी बोली वाली दो-चार कविताओं को ही देखकर नहीं किया जा सकता और यदि ३५ वर्ष की अल्पायु में दिये गये भारतेन्दु के सम्पूर्ण साहित्यिक दान को ठीक-ठीक आँका जाय तो, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के प्रति अपनी अमिश्र श्रद्धा बनाये रखकर भी, हम इस बात पर संदेह प्रकट किए बिना नहीं रह सकते कि उसी आयु तक उन्होंने जो कुछ बंगला साहित्य को दिया वह भारतेन्दु से कुछ अधिक था, यद्यपि तुलना कर बैठने की क्षुद्र प्रवृति में हम दोनों साहित्यकारों की परम्परागत साहित्यिक भूमिकाओं को भुला कर ही चलते रहेंगे। जो हो, हम यह मानने से इंकार नहीं कर सकते कि भारतेन्दु युगीन हिन्दी साहित्य विषय की दृष्टि से व्यापक अवश्य था परन्तु उसकी कलात्मक ऊँचाई बहुत कम थी, इसका एक कारण यह भी था कि तत्कालीन जीवन के प्रश्न बुद्धि से ही टकरा सके थे, साहित्यकारों के हृदय में उनका रागात्मक परिपाक नहीं हो सका था।

भारतेन्दु-युग में बंगाली लेखकों के साथ हिन्दी लेखकों का व्यक्तिगत सम्पर्क भी हो चला—ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और भारतेन्दु की मैत्री तो प्रसिद्ध ही है। कलकत्ते में रहकर कार्य करने वाले लेखक बंगाल की नयी साहित्यिक चेतना के प्रत्यक्ष और निकट सम्पर्क में थे। अतः तत्कालीन हिन्दी साहित्य पर बंगला का—विशेष रूप से कथा साहित्य का—प्रभाव विशेष पड़ा। परन्तु कुछ साहित्यकार भारतेन्दु-युग के उत्तर-काल में मूल पाश्चात्य स्रोत की ओर अग्रसर हुए। उन दिनों अंग्रेजी कविता का विक्टोरियन युग अपने पूर्ण वैभव पर पहुँच चुका था, रोमांटिक युग की काव्य-परम्परा विगत इतिहास की वस्तु बन कर रह गई थी और उसके पूर्व का अठारहवीं शती का अंग्रेजी काव्य तो अब केवल पढ़ने-पढ़ाने का विषय मात्र था। लेकिन ईसा की बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होने के ठीक पूर्व हिन्दी कवियों तथा पाठकों का सबसे अधिक प्रिय कवि संभवतः[2] गोल्डस्मिथ ही था। इतना ही नहीं कि उसके काव्य-ग्रंथ हिन्दी में बड़ी तेजी के साथ अनूदित हो रहे थे बल्कि उसकी कविता की प्रेरणा से नये काव्य भी लिखे जा रहे थे। कुछ विद्वानों का यह

---

१. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष—शिवदान सिंह चौहान—पृ० २६।

२. भारतेन्दु-युग में सम्भवतः गोल्डस्मिथ हिन्दी लेखकों का सर्वप्रिय अंग्रेजी कवि था।
—हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव—डॉ० रवीन्द्र सहाय वर्मा, पृष्ठ ७४।

अनुमान है कि तत्कालीन शिक्षा के पाठ्यक्रम में निर्धारित होने के कारण गोल्डस्मिथ की कविताएँ सर्वसाधारण में लोकप्रिय हो गईं। और कवियों को भी उनसे प्रेरणा मिली।[1] परन्तु इस अनुमान की प्रामाणिकता उसी क्षण खंडित हो जाती है जब हम यह देखते हैं कि क्लासिकल युगों के कवि पाठ्य-क्रम में रखे जाने पर भी इतने प्रभावशाली न बन सके कि हिन्दी कवियों की साहित्य-सृष्टि को प्रेरित कर सकें। पाठ्य-क्रम में रखे जाने का बहुत स्थूल प्रभाव ही पड़ सकता है। रचना की सूक्ष्म प्रेरणायें उसके आधार पर नहीं पहचानी जा सकतीं। छात्रों को अंग्रेजी साहित्य और उसके इतिहास का बोध करने के लिए पाठ्यक्रम में अन्य युगों के कवि भी निर्धारित किये जाते रहे और अब भी किए जाते हैं परन्तु इस कारण से न तो वे भारतेन्दु कालीन लेखकों को कभी प्रभावित कर सके और न आजकल के लेखकों को। वस्तुतः इस प्रभाव का कारण दोनों देशों की सामाजिक और नैतिक मान्यताओं या आदर्शों की समानता में ढूँढ़ना चाहिए। हम ऊपर कह आये हैं कि पाश्चात्य जगत् में मशीनों के आविष्कार के कारण जो नई सभ्यता विकसित हुई उसका ढाँचा, किसी अंश तक, भारतवर्ष में भी स्वीकार कर लिया गया। भौतिक व्यवस्था को स्वीकार कर लेने के कारण भारतीयों को, सांस्कृतिक और नैतिक मान्यतायें भी स्वीकार करनी पड़ीं। यह सांस्कृतिक चेतना, परोक्षतः ही सही, साहित्य की आत्मा और कभी-कभी उसकी साज-सज्जा को भी रूपायित करती रहती है। दूसरी ओर उसका सम्बन्ध समाज के भौतिक प्रयत्नों से जुटा रहता है। इस दृष्टि से, तत्कालीन भारतीय इतिहास को देखने से प्रकट होगा कि भारतेन्दु-काल की साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना समाज-व्यवस्था की अनिवार्य सीमाओं के कारण गोल्डस्मिथ-काल की अंग्रेजी साहित्य-चेनता से मेल खाती थी। उसी प्रकार छायावादी काव्यधारा पर फ्रांसीसी राज्य-क्रांति से उत्पन्न योरोपीय विचारों तथा शेली, कीट्स आदि रोमांटिक कवियों का जो प्रभाव पड़ा उसका कारण निर्धारित पाठ्य ग्रन्थों में न ढूँढ़ा जाकर तत्कालीन समाज के विकास-क्रम में ही ढूँढ़ा जा सकता है।

भारतेन्दु-युगीन साहित्य संक्रांतिकाल का साहित्य है, इसलिए उसमें जीवन का संघर्ष-पक्ष मुखरित हुआ है। 'संक्रांति' में अव्यवस्था भी रहती ही है और शृङ्गार-सज्जा का अवसर न मिलने से सजावट की कमी भी, किन्तु इन त्रुटियों के बावजूद भी, उसमें जीवन का वेग और प्राणों की स्फूर्ति दिखाई पड़ती है। भारतेन्दु-युगीन-साहित्य में यह वेग या यह स्फूर्ति, मुख्यतः खड़ी बोली गद्य के माध्यम से व्यक्त हुई। नवयुग के विचारों और भावों की संवाहिका खड़ी बोली ही बनी—ब्रज-भाषा ने पुरानी परम्परा का ही निर्वाह किया। इन दोनों भाषाओं की तत्कालीन रचनाओं के देखने से यह प्रमाणित हो जाता है कि एक संस्कृति के दूसरी संस्कृति में बदलते समय भाषा या बोली आदि के रूप भी बदल जाते हैं। इस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के इतिहास

---

१. हिन्दी कविता पर आंग्ल प्रभाव—डॉ० रवीन्द्र सहाय वर्मा—पृष्ठ ७४।

में यह एक अनोखा काल माना जा सकता है। एक ही युग में दो सांस्कृतिक तत्वों की अभिव्यक्ति, एक ही साहित्य में भिन्न-भिन्न भाषाओं के माध्यम से हो, ऐसा बहुत कम देखा जाता है। इस विलक्षण परिस्थिति की ओर कवियों और लेखकों का ध्यान भारतेन्दु-युग में ही चला गया और खड़ी बोली-ब्रजभाषा-विवाद भी उसी समय उत्पन्न हो गया किन्तु उसकी परिसमाप्ति द्विवेदी-काल के अन्त में ही हुई। खड़ी बोली की विजय नई संस्कृति की विजय बन गई।

द्विवेदी युग और शुक्ल जी का आविर्भाव :

ऊपर बताई हुई सामाजिक भूमिका तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों को लेकर हिन्दी के साहित्यकारों ने बीसवीं शताब्दी में प्रवेश किया। शताब्दी-परिवर्तन से तो कोई विशेष बात नहीं हो सकती थी, किन्तु इसी समय 'सरस्वती' के प्रकाशित होने और पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्पादक बनकर आ जाने से भाषा और साहित्य के विकास का पूर्ववर्ती प्रवाह अत्यन्त तीव्रता से सुनिश्चित सरणियों में प्रवाहित हो चला। साहित्य की विभिन्न शैलियों—काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, समालोचना आदि—का बहुमुखी विकास द्विवेदी युग में हुआ। प्रत्येक क्षेत्र में कवियों और लेखकों की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ भी उभरने लगीं, लेकिन कुल मिलाकर यह हिन्दी-साहित्य की नवीन सृष्टि का शैशव ही सूचित करता है। साहित्य के 'रूप' और 'वस्तु' का उत्कर्षपूर्ण सामंजस्य इस युग में दुर्लभ ही रहा।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होने के साथ ही साथ आचार्य शुक्ल की प्रारम्भिक रचनाएँ भी प्रकाशित होने लगीं। अतः द्विवेदी-युगीन प्रवृत्तियों के समानान्तर रख कर ही उनके साहित्य का अध्ययन समुचित है। उस युग की धारा में प्रवाहित अनेक लेखकों की भाँति वे भी एक लेखक हैं, भारतेन्दु-युग ही उनके साहित्य की वास्तविक पृष्ठभूमि है। इसलिए द्विवेदी-युग की केवल प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्तियों और उसकी प्रेरणा देने वाली सामान्य शक्तियों का विचार ही इस प्रकरण में अपेक्षित है—शुक्ल जी के निबन्ध, काव्य, आलोचना, कहानी आदि पर विचार करते हुए हम सभी विधाओं पर कुछ अलग से सोचने का अवसर पायेंगे।

द्विवेदी-युग कठोर नीतिमत्ता और आदर्शवादिता का युग माना जाता है। समाज के अन्य क्षेत्रों में नैतिक उन्नयन का जो स्वर उठाया गया था, साहित्य के भीतर भी उसे बाँधने का प्रयास किया गया। हम पहले देख चुके हैं कि यह प्रवृत्ति भारतेन्दु-युग में ही दिखाई पड़ी थी किन्तु उसका साहित्यिक संस्कार उस समय सम्भव नहीं हुआ। उस समय विचारों को केवल तर्क और बौद्धिकता से ग्रहण करने का प्रयास किया गया था, जीवन में उनके रागात्मक-सामंजस्य की परिकल्पना नहीं की गई थी। किन्तु द्विवेदी-युग में, जब अधिकांश प्राचीन संस्कार लुप्त हो चुके थे, उन्हीं विचारों का मन के साथ सांस्कृतिक परिपाक, धीरे-धीरे होने लगा। रागात्मक-सामंजस्य

के अभाव में जीवन और समाज सम्बन्धी कविताओं में सर्वत्र नीरसता का साम्राज्य हो गया था। ऐसा लगता है, जैसे पूरा साहित्य ही प्रचारात्मक हो। पुरानी कविता के स्थान पर जो नई छायावादी कविता द्विवेदी-युग में प्रादुर्भूत हुई वह कवियों के अन्तर्मन और जगत् के रागात्मक सामंजस्य से अनुप्राणित थी। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने यह प्रतिपादित किया है कि "जिस नीतिवाद, व्यवहारवाद अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद का द्विवेदी-युग प्रतीक है उसे पराकाष्ठा पर पहुँचा देने का श्रेय शुक्ल जी को प्राप्त है।"[1]

आगे शुक्ल जी की साहित्यिक मान्यताओं की भूमिका को स्पष्ट करते हुए हम यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि उन्होंने मनोविज्ञान समर्थित नीतिवादिता का आश्रय लिया। वे भाव की 'स्थायी दशा' को ही तत्कालीन मनोवैज्ञानिकों की भाँति आचरणों का प्रतिरूप मानते रहे। नैतिकता और मनोवेगों का उन्होंने इतना गहरा और अटूट सम्बन्ध जोड़ा कि सहसा यह समझना कठिन है कि वे नैतिकता का आधार ढूँढ़ने के लिए मनोविज्ञान के पास पहुँचे अथवा मनोविज्ञान की ओर से चलते-चलते नैतिकता की प्रतिष्ठा कर सके।

द्विवेदी-युग हमारे राष्ट्रीय उन्मेष का दूसरा चरण है। स्वतन्त्रता-आन्दोलन इस युग में अधिक उग्र और परिस्फुट हो गया। यद्यपि उसमें प्रधानता मध्यवर्गीय समाज की ही रही तथापि ग्राम जनता में भी राष्ट्रीयता की सामूहिक चेतना जग पड़ी। इस लिए केवल राजनीति में ही नहीं, साहित्य में भी किसान-जागरण और संगठन की चर्चा होने लगी। लेकिन यह चर्चा अधिकांश मध्यवर्गीय जागृति की सूचना देती है। इसका मुख्य लक्ष्य, अपनी प्राचीन सांस्कृतिक सम्पदा का, नये जीवन-मूल्यों के आलोक में, पुनः परीक्षण करना था। वास्तव में, भारतेन्दु-कालीन पुनर्जागरण के नये विचार जो व्याख्यानों और धार्मिक प्रवचनों में प्रकट हुआ करते थे, इस समय साहित्य के कलात्मक आवरण में परिस्फुट होने लगे। प्राचीन पौराणिक कथा-प्रसंगों में निहित सत्य का उद्‌घाटन जैसे पहले प्रचारक और समाज-सुधारक किया करते थे उसी प्रकार कवि और साहित्यकार कल्पना का प्रयोग करके पुरातन कथानकों में नया अर्थ-गौरव उत्पन्न करने लगे। विजेता जाति की संस्कृति के समकक्ष अपनी सांस्कृतिक परम्परा को रखने की जो प्रक्रिया भारतेन्दु-काल में शुरू हुई थी वह इस युग में भी पूर्ण वेग के साथ चल रही थी।

साहित्य के क्षेत्र में एक बड़ी भारी विशेषता यह दिखाई पड़ी कि इस युग में पाश्चात्य साहित्य की मूल्यवान् सम्पत्ति को हिन्दी में अवतरित करने का व्यापक और संगठित उद्योग हुआ। हिन्दी भाषा के भण्डार को भरने के लिए सबसे सुगम तात्कालिक साधन यही था। पाश्चात्य ग्रन्थों 'के आधार पर' सैकड़ों ग्रन्थ, निबन्ध और

---

१. 'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल' में बाजपेयी जी का निबन्ध, पृ० ६५।

काव्य भी इस युग में लिखे गए। 'मनोरंजन पुस्तक माला' में प्रकाशित अधिकांश ग्रंथ इसी कोटि के थे और 'सरस्वती' के प्रायः प्रत्येक अंक में एकाध लेख ऐसा अवश्य हुआ करता था जिसमें किसी विदेशी लेखक के विचारों का संकलन किया गया हो। अन्य पत्रिकाओं में भी ऐसे लेखों की भरमार रहती थी जो किसी अन्य देशी अथवा विदेशी भाषा के निबन्धों के आधार पर लिखे गये थे। नीचे लिखे लेख ऐसे ही हैं--

'समालोचना'[१], 'काला पहाड़',[२] 'शिक्षा-संस्कार',[३] 'उत्तर प्रदेश के प्राचीन ऐतिहासिक स्थान',[४] 'आर्य शब्द की व्युत्पत्ति',[५] आदि।

शुक्ल जी के अधिकांश अनूदित ग्रन्थ और लेख इसी श्रेणी के हैं। मूल का अक्षरशः अनुवाद करना उनका लक्ष्य नहीं था। 'द्विवेदी-युग' के इस प्रयास के कारण एक ओर तो हिन्दी-भाषी समुदाय के लिए उच्च कोटि का मानसिक खाद्य मिला और भाषा की व्यंजना-शक्ति भी बढ़ गई। नये शब्द-समूह के संयोग में उसमें पर्याप्त समृद्धि आ गई।

द्विवेदी-युग हिन्दी भाषा और विशेष कर हिन्दी-गद्य के परिष्कार और संस्कार का युग भी था। 'सरस्वती' के संपादक के रूप में द्विवेदी जी ने व्याकरण-रूपों के स्थिरीकरण का जो स्तुत्य प्रयास किया वह साहित्य के इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध है। डा० उदयभानुसिंह ने अपने प्रबन्ध 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग', में द्विवेदी-कृत संशोधनों की जो लम्बी सूची एकत्र की है उससे सिद्ध हो जाता है कि छोटे-बड़े, कोई लेखक ऐसे नहीं थे जिनकी शुद्धि के लिए आचार्य ने कलम न चलाई हो। और सभी लेखकों ने बिना किसी हिचक के परिशुद्ध रूप को स्वीकार कर लिया। जो ऐसा नहीं कर सके वे कदाचित् बड़े लेखक बन ही न सके। पंडित रामचन्द्र शुक्ल के लेख का भी उन्होंने कितना परिष्कार किया यह हम निबन्ध प्रकरण में देखेंगे। भाषा का स्वरूप व्यवस्थित होने और व्यंजना-शक्ति के समृद्ध हो जाने के कारण मौलिक निबंधों और आलोचनाओं के लिए भी पूरा अवकाश निकल आया। इसलिए इस दिशा में भी कुछ मूल्यवान् प्रयास उस समय किये गये।

---

१. विलियम हैजलिट के 'क्रिटिसिज्म' निबन्ध के आधार पर—श्री कृष्ण बिहारी मिश्र 'मर्यादा', मार्च १९१२।

२. उड़िया मासिक पत्र 'उत्कल साहित्य' में प्रकाशित 'काला पहाड़' के आधार पर—श्री मुकुटधर पाण्डेय, 'मर्यादा', दिसम्बर १९१२।

३. मूल लेखक श्री रवीन्द्र नाथ ठाकुर, अनुवादक—नाथूराम प्रेमी 'मर्यादा' दिसम्बर १९१३।

४. श्री हीरानन्द शास्त्री के लेख का मर्मानुवाद—नील किशोर—काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, मार्च-अप्रैल १९१६।

५. पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, 'प्रवासी' में प्रकाशित एक लेख के आधार पर, 'सरस्वती', नवम्बर, १९०९।

साहित्य-समालोचना का बहुत परिष्कृत रूप उस समय नहीं मिलता। यद्यपि पत्र-पत्रिकाओं के निबन्धों और स्वतन्त्र पुस्तकों के रूप में पर्याप्त आलोचना-साहित्य प्रकाश में आ गया था तथापि रचयिताओं की आन्तरिक वृत्तियों का परीक्षण और उनकी कृतियों का निष्पक्ष विवेचन उस समय न हो सका। आलोचना सम्बन्धी अधिकांश प्रयास ऐसे थे जिनमें या तो कृति अथवा कृतिकार की कुछ त्रुटियों को लक्ष्य करते-करते उसका अवमूल्यन कर दिया जाता था या उसके कुछ गुणों का उद्‌घाटन करते-करते, लच्छेदार शब्दों में स्तवन कर दिया जाता था। लेखकों के व्यक्तिगत राग-द्वेष और आक्रोश आदि की व्यंजना भी इन लेखों में बहुत हुआ करती थी। इसलिए प्रथम कोटि की व्यावहारिक आलोचना द्विवेदी-काल में नहीं मिलती। और सैद्धांतिक आलोचना तो अधिकतर प्राच्य अथवा पाश्चात्य मतवादों की उद्धरणी करने में लगी रही।

ऐसे साहित्यिक प्रवाह के बीच आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का आविर्भाव हुआ। आधुनिक साहित्य के लगभग सभी काल उन्होंने अपनी आँखों से देखे। भारतेन्दु-युग शिशुता में चला गया किन्तु द्विवेदी-युग में उन्होंने अपनी रचनाओं में पर्याप्त ख्याति अर्जित कर ली। लेकिन यह युग भी उनकी साधना और तैयारियों का युग था। उनका सहज अन्वेषी मन अपने लिये कोई निश्चित आधार ढूँढ़ रहा था—आधार मिलने पर ही वे प्रयोगात्मक आलोचना के क्षेत्र में उतरे।

उनके संस्कार भारतीय थे, किन्तु भारतेन्दु-कालीन नव-जागरण की छाया उन पर पूरी-पूरी दिखाई पड़ती है। पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के अनुशीलन से उन्होंने जो कुछ प्राप्त किया उसे अपने संस्कारगत आदर्शों के साथ मिलाकर देखने का प्रयास वे सदैव करते रहे। बुद्धि की तुला पर जो कुछ ठीक उतरा, वह चाहे भारतीय हो चाहे पाश्चात्य, उनके द्वारा अंगीकार किया गया। लेकिन वे केवल अंगीकार करने वाले नहीं थे, सच्चे अर्थों में मौलिक निर्माता भी थे। भारतीय संस्कार के साथ पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का सुन्दर सामंजस्य करके उन्होंने हिन्दी के अपने साहित्य-शास्त्र का निर्माण किया। वे साहित्य के वास्तविक आचार्य बने।

आलोचना के क्षेत्र में उनकी देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि उनके सम्पूर्ण साहित्यिक प्रयासों में विचारणा का मूल सूत्र एक ही है, तथापि आलोचना के क्षेत्र में ही वह अधिक परिस्फुट हो सका। उनकी आलोचना द्विवेदी-युग के उदर से उत्पन्न हुई अवश्य, किन्तु किसी भी तत्कालीन आलोचक के साहित्य से उसे समीकृत नहीं किया जा सकता। वह तत्कालीन आलोचना से गुणात्मक रूप से भिन्न है। लेकिन उसके भीतर भारतेन्दु और द्विवेदी-कालीन नव-जागरण से प्रतिफलित होने वाला राष्ट्र-प्रेम सर्वत्र है। हम इस बात को भुला कर उनके आलोचना-साहित्य का ठीक-ठीक मूल्य नहीं आँक सकते। पाश्चात्य सिद्धान्तों और मतवादों पर विचार करते समय उनकी

अपनी मान्यतायें ही नहीं प्रकट होतीं अपितु नवजागरण-कालीन आत्म-गौरव की भावना भी दिखाई पड़ती है।

शुक्ल जी की साहित्यिक मान्यतायें द्विवेदी-युग में ही निर्मित हुईं। उनके निर्माण में जो कुछ पाश्चात्य सहयोग काम कर रहा था उसका अधिक सम्बन्ध मनोविज्ञान से था। साहित्य-शास्त्र के पके-पकाये सिद्धान्त उन्होंने पश्चिम से नहीं लिये। प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों को भी ज्यों-का-त्यों वे स्वीकार नहीं कर सके—उसमें जो कुछ बुद्धि-ग्राह्य नहीं था उसे अत्यन्त विनम्र भाव से अस्वीकृत करते अथवा रूपांतरित करते चला जाना उनका लक्ष्य था। पाश्चात्य मनोविज्ञान उनके आलोचनागत मानदण्डों में कितनी गहराई तक प्रविष्ट हो सका है इसकी विवेचना अभी नहीं के बराबर ही हुई है यद्यपि आलोचक रूप में शुक्ल जी को जो इतनी अधिक सफलता मिली उसका बहुत कुछ कारण यह मनोविज्ञान ही है। यह कौन नहीं जानता कि उनकी व्यावहारिक आलोचनाओं के सबसे मूल्यवान् अंश वे ही हैं जहाँ वे भावों का परीक्षण करते या उनकी स्थायी दशा की ओर संकेत करते हुए चरित्रों का विकास दिखाते हैं। इस क्षेत्र में उनके साथ टक्कर लेने वाले आलोचक कम ही मिलेंगे। उन्होंने भाव-विवेचन स्वतन्त्र रूप से भी किया है। दोनों को साथ-साथ देखने से यह सिद्ध हो जाता है कि स्वतन्त्र रूप से किया गया भाव-विवेचन केवल उनकी व्यावहारिक आलोचना की ही नहीं अपितु सैद्धांतिक आलोचना की भी भूमिका स्पष्ट करता है। साहित्येतर मान्यताओं और विश्वासों तक में भी उसके चिह्न पाये जा सकते हैं। इसी बात को ध्यान में रखते हुए हम पहले उनकी साहित्यिक मान्यताओं को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

—:o:—

दूसरा अध्याय

साहित्यिक मान्यतायें

आचार्य शुक्ल आलोचना के सिद्धान्तों के व्याख्याता अथवा निर्माता के रूप में उतने प्रसिद्ध नहीं जितने प्रयोगात्मक आलोचना लिखने वाले रसग्राही विद्वान् के रूप में। बहुधा यह समझ लिया जाता है कि वे किसी छोटे साहित्यिक प्रश्न को लेकर एक निश्चित संदर्भ और सीमा के अन्तर्गत अपनी तर्कपूर्ण सम्मति दे सकते हैं किन्तु समग्र रूप से साहित्य की मूलभूत समस्याओं का विश्लेषण करके व्यापक शास्त्र का निर्माण नहीं कर सकते। डा० देवराज के निम्नांकित कथन से अनेक लोग सहमत होंगे कि—

"वे (शुक्ल जी) जहाँ रसानुभूति के विभिन्न अवसरों पर असाधारण खण्ड-सिद्धान्तों का आविष्कार कर डालते हैं वहाँ उन खण्ड-सिद्धान्तों का एक महासिद्धान्त के रूप में समन्वय नहीं कर पाते—वे रिचर्ड्स की भाँति सिद्धान्त-पद्धति के निर्माण (System Building) में पटु नहीं हैं।"[1]

यदि महासिद्धान्त के रूप में समन्वय करने का यह अर्थ हो कि आलोचना शास्त्र पर एक स्वतन्त्र सम्पूर्ण पुस्तक लिखी जाय, तो उक्त कथन में कोई संदेह नहीं कियाजा सकता। किन्तु बात ऐसी नहीं है। शुक्ल जी ने ऐसी पुस्तक लिखने की योजना बनाई थी, ऐसा कहा जाता है। 'रस-मीमांसा' के प्रकाशित होने से भी इस बात का संकेत मिल जाता है कि उनके पास ऐसा व्यापक सिद्धान्त अवश्य था जिसके अनुशासन के अन्तर्गत ही वे विभिन्न अवसरों पर अनेकानेक लघु-सिद्धान्तों का निरूपण करते रहे। यदि 'रस-मीमांसा' को न देखकर केवल उनके अन्य ग्रन्थों का ही मनन किया जाय तो भी हमें पूर्ण व्यापक साहित्य दृष्टि का परिचय मिले बिना न रहेगा। कारण यह है कि इतने अधिक खण्ड-सिद्धान्तों का विश्लेषण नितान्त अविरोधी भाव से कोई एक व्यक्ति तब तक नहीं कर सकता जब तक उसके पास अपनी मौलिक जीवन-दृष्टि और तदनुरूप साहित्य-समीक्षा की स्वतन्त्र कसौटी न हो। इसलिए इन सिद्धान्तों को किसी महासिद्धान्त के अंग रूप में देखना ही उचित है।

फिर प्रश्न यह होगा कि आलोचना का वह कौन-सा महासिद्धान्त है जिसे शुक्ल जी ने निर्मित किया, साथ ही उसकी विविधताएँ और मर्यादायें क्या हैं। इस जिज्ञासा को लेकर जब हम शुक्ल-साहित्य का परीक्षण करते हैं तो सबसे अधिक महत्त्व की बात यह दिखाई पड़ती है कि उन्होंने समूची साहित्यिक-साधना को, और विशेष

---

१. 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' में संकलित निबन्ध, पृ० १४३।

रूप से काव्य-साधना को, 'भाव-योग' के रूप में ही जाँचा और परखा है। यदि सूत्र रूप में कहना हो तो इस 'भाव-योग' के सिद्धान्त को ही हम उनका आलोचना-शास्त्र कह सकते हैं और उसे एक स्वतन्त्र मौलिक उद्भावना के रूप में ग्रहण भी कर सकते हैं। विचार करने पर, उनके सारे खण्ड-सिद्धान्तों, सम्पूर्ण खंडन-मंडन और तमाम साहित्यिक विचारणा का मूल केन्द्र भाव-योग ही ठहरता है।

साहित्य-मात्र का मूल प्रारम्भिक प्रयोजन वे उसके द्वारा, हृद्गत भाव का जागरण ही मानते हैं। उनकी तमाम साहित्यिक ही नहीं, साहित्येतर मान्यताओं के धुर मूल में भी यह धारणा विद्यमान है और यदि एक बार हम इससे सहमत हो गये तो फिर आगे वाली स्थापनाओं से असहमत होने का अवसर हमें शायद ही मिले।

यहाँ यह संकेत दे देना आवश्यक है कि जब शैंड की 'फाउण्डेशन्स ऑफ कैरेक्टर' पुस्तक सन् १९१४ में प्रकाशित हुई और जब उसने यह सिद्ध कर दिया कि मनुष्य के सम्पूर्ण आचार-विचार के मूल निर्माता मनोगत भाव ही हैं तब शुक्ल जी की अस्पष्ट धारणायें उनके मन में और भी स्पष्ट हो गई। ऐसा लगता है कि जिस तथ्य को उन्होंने अपनी विवेक-शक्ति से कुछ अस्पष्ट रूप में ग्रहण किया था उसे शैंड की पुस्तक ने तर्क का पुट देकर अधिक स्पष्ट तथा चमत्कारपूर्ण बना दिया। शैंड द्वारा निरूपित Sentiment (भावकोष) और Emotion (भाव, के भेद का मनन करते-करते ही शुक्ल जी इस तथ्य पर जा पहुँचे कि भाव की तीन दशाएँ संभव हैं—(१) क्षणिक दशा, (२) स्थायी दशा, (३) शील दशा। हम अन्यत्र देखेंगे कि तीनों दशाओं का संकेत शैंड में है किन्तु वे स्थायी दशा को शील दशा से अलग करके नहीं देखते। इन तीनों दशाओं का अनुसंधान करके ही शुक्ल जी एक ओर तो रस-सिद्धान्त के भीतर अनेक अपवादी स्थितियों का पता लगा सके और दूसरी ओर साहित्य के भीतर नैतिक मान्यताओं को प्रतिष्ठित करने में सफल हुए। उनकी सैद्धान्तिक विवेचना और प्रयोगात्मक आलोचनाओं को देखने से यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि वे अनेक अवसरों पर इन अवस्थाओं का आश्रय लेते हैं। उनके कुछ प्रसिद्ध सिद्धान्त और मान्यताओं के निर्धारण में इस स्थापना का विनियोग कैसे हुआ, आगे संक्षेप में यह दिखाने का प्रयास किया गया है।

सबसे पहले उनकी इस मूल स्थापना को लिया जाय कि 'प्रत्येक भाव का प्रथम अवयव विषयबोध ही है'। किसी वस्तु का ज्ञान होने पर ही उसके प्रति मन का भाव जग सकता है, अन्यथा नहीं। कविता किसी-न-किसी रूप में इस भाव को जगाने का प्रयास करती है, इसलिए उसे किसी-न-किसी वस्तु को ही सामने रखना पड़ता है। इन दो आधारभूत धारणाओं को लेकर चलने के बाद अनेक उपपत्तियाँ क्रमशः सामने आती चली जाती हैं।

सबसे पहली बात यह प्रत्यक्ष होती है कि काव्य में आलंबन का महत्त्व बहुत अधिक है, क्योंकि भाव को उद्बुद्ध करने वाला मूल कारण वही है। जब तक विषय

या आलंबन का 'बोध' या ज्ञान नहीं होगा, जब तक उसका कवि-निर्मित बिम्ब सामने नहीं आयेगा तब तक भाव जग नहीं सकता। इसलिए कविता में केवल अर्थ-बोध से काम नहीं चलता, बिम्ब-ग्रहण भी अपेक्षित होता है।

जब भाव का प्रथम अवयव विषय-बोध है तब वे विषय जो अज्ञात हैं, जिनके बारे में हमारी बुद्धि कुछ नहीं जानती, काव्य के भीतर गृहीत नहीं हो सकते। शुक्ल जी का मत है, "मनोमय कोश ही प्रकृत काव्य-भूमि है, यही हमारा पक्ष है। इसके भीतर की वस्तुओं की कोई मनमानी योजना खड़ी करके उसे इससे बाहर के किसी तथ्य का, जिसका कुछ ठीक-ठिकाना नहीं, सूचक बताना हम सच्चे कवि का क्या, सच्चे आदमी का काम नहीं समझते।"[1]

और आगे कहते हैं, "हमारा कहना यही है कि हृदय का अव्यक्त और अगोचर से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। प्रेम, अभिलाषा जो कुछ प्रकट किया जायेगा वह व्यक्त और गोचर ही के प्रति होगा।"[2]

विषय और भाव के उद्‌बोधक-उद्‌बोध्य सम्बन्ध को ध्यान में रखकर ही शुक्ल जी काव्य में कल्पना का उपयोग, विशेषतया प्रस्तुत पक्ष में ही, ठीक समझते हैं और अलंकार की सार्थकता वहीं तक मानते हैं जहाँ तक उसके द्वारा प्रस्तुत वस्तु की भावोत्तेजक क्षमता बढ़ती चली जाती है। कुन्तक के वक्रोक्तिवाद में निहित सत्य वे वहीं तक स्वीकार करते हैं जहाँ तक उसके द्वारा भाव में तीव्रता उत्पन्न हो सकती है, उससे आगे नहीं। क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' को वे वहाँ पहुँचकर अस्वीकृत कर देते हैं जहाँ वह प्रस्तुत अर्थ, विषय या आलंबन के सम्बन्ध में किसी प्रकार की सामान्यता या असामान्यता अथवा नैतिकता या अनैतिकता के प्रश्नों को अनावश्यक ही नहीं, निरर्थक भी कहने लगता है। काव्य के अन्तर्गत भाव की तीन दशाओं—क्षणिक दशा, स्थायी दशा और शील दशा का अनुसन्धान करते-करते वे इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि प्रबन्धों की रस-योजना मुक्तक की अपेक्षा महत्तर होती है, कारण, मुक्तक में भाव क्षणिक दशा को प्राप्त रहता है किन्तु प्रबन्ध में स्थायी दशा और शील दशा के लिए पूर्ण अवकाश है। इसी धारणा को लेकर वे कहते हैं कि, "रस-संचार से आगे बढ़ने पर हम काव्य की उस उच्च भूमि में पहुँचते हैं जहाँ मनोविकार अपने क्षणिक रूप में ही न दिखाई देकर जीवन-व्यापी रूप में दिखाई पड़ते हैं। इस स्थायित्व की प्रतिष्ठा द्वारा शील-निरूपण और पात्रों का चरित्र-चित्रण होता है।"[3] इसमें 'रस-संचार' केवल उसी अवस्था से सम्बन्ध रखता है जिसमें एक ही आलंबन के प्रति एक समय में कोई भाव रहता है, यानी यह भाव की क्षणिक-

१. चिंतामणि भाग (२), पृष्ठ ८०।
२. चिंतामणि भाग (२), पृष्ठ ९१।
३. गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ ११३।

दशा से सम्बद्ध है। इस प्रकार शील या सदाचार का मनोविकारों के साथ व्यापक सम्बन्ध स्थापित करने में वे सफल हो जाते हैं। उन्होंने करुणा' शीर्षक लेख में स्पष्ट ही कहा है कि 'मनोवेग-वर्जित सदाचार दंभ है।'

केवल साहित्यिक ही नहीं साहित्येतर मान्यताओं में भी 'भाव' और विषय की यही महत्ता विद्यमान है। उनका यह मंतव्य है कि परोक्ष ज्ञान से ही पूरा पड़ता न देखकर 'परोक्ष' हृदय की खोज आरम्भ हुई, तब 'सगुण ईश्वर की अवतारणा' हुई और मनुष्य के भाव के लिए उपयुक्त आश्रय मिल गया। आगे बढ़कर वह यह भी कहते हैं कि भक्ति यदि कोई भाव है तो वह ज्ञात या व्यक्त के प्रति ही हो सकता है, अज्ञात और अव्यक्त के प्रति नहीं। इसलिए वे काव्य के क्षेत्र में निर्गुण के प्रति अनुदार और सगुण के प्रति आकर्षित दीखते हैं। लोक-धर्म की ठीक पहचान के लिए भी वे तर्क या बुद्धि का आश्रय उतना ठीक नहीं समझते जितना भाव का। उनका कहना है कि काव्य या नाटक के श्रवण या दर्शन से 'सहृदय' के मन में कुछ पात्रों के प्रति तो सहानुभूति जग पड़ती है और कुछ दूसरे पात्रों के प्रति क्रोध, घृणा आदि मनोविकार उत्पन्न हो जाते हैं। जिन पात्रों के साथ सहानुभूति हो उनकी गति ही धर्म या मंगल की गति मानी जायेगी और जिनके प्रति क्रोध या घृणा उत्पन्न हो उनकी गति लोक-विरुद्ध समझी जायेगी। कहना नहीं होगा कि काव्यगत वस्तु के औचित्य-अनौचित्य का जितना सुन्दर निर्धारण इस कसौटी के आधार पर हो सकता है उतना और किसी पद्धति से नहीं।

इन उदाहरणों से प्रकट है कि भाव और उसके विषय के मूल सिद्धान्त को ही काव्य में ग्रहण करके शुक्ल जी अपने अवान्तर सिद्धान्तों का उपस्थापन करते चले जाते हैं। यह सभी जानते हैं कि अपने मूल रूप में यह स्थापना प्राचीन मनोविज्ञान से तो समर्थित थी ही, आधुनिकतम मनोविज्ञान भी इसे अस्वीकार नहीं कर सकता। अतः इस मूल स्थापना को मान लेने के बाद उनके अन्य सिद्धान्तों से हमारा कोई तात्त्विक मतभेद नहीं हो सकता, केवल मात्रा या तथ्य का ही भेद हो सकता है। उनके इस सिद्धान्त के मूल रचनात्मक उपादान क्या हैं, और कहाँ तक वे भारतीय या पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र से सम्बद्ध हैं, ये प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। शुक्ल जी के ऊपर विचार करते हुए, आलोचकों ने उनके कुछ सिद्धान्तों का सम्बन्ध रिचर्ड्स की मान्यताओं से जोड़ा है और कुछ का डंटन आदि दूसरे पाश्चात्य समीक्षकों से। उनके दर्शन सम्बन्धी विचारों के ऊपर भी कभी-कभी पाश्चात्य प्रभाव देखा गया है, किन्तु वस्तु-स्थिति का सच्चा रूप इस प्रकार के विवेचन से स्पष्ट नहीं होता।

उनके ऊपर पश्चिम का ऋण अवश्य है और पर्याप्त मात्रा में है, किन्तु साहित्य-शास्त्र के मूल प्रश्नों पर विचार करते समय वे शायद ही किसी पाश्चात्य समीक्षक से आतंकित हुए हों। रिचर्ड्स, डंटन अथवा अन्य किसी पाश्चात्य आलोचक का जब कभी भी वे प्रशंसापूर्वक नाम लेते हैं तब उनका उद्देश्य केवल इतना ही

होता है कि अपने पक्ष का समर्थन उन विद्वानों के वाक्यों से कर सकें। ऐसे आलोचकों के विचारों की उद्धरणी अथवा उनके आलोचनात्मक सिद्धान्तों का भारतीय साहित्य के ऊपर अंधाधुंध प्रयोग उन्होंने कभी नहीं किया। जो व्यक्ति अपने प्रतिपादित सिद्धान्तों पर अविचल भाव से खड़े रह कर साहित्य की परम वेगमयी धाराओं का विरोध कर सकता है और सिद्धान्त के विपरीत पड़ जाने पर बड़े-से-बड़े कवि की असफलता को निर्भीक भाव से उद्घाटित कर सकता है वह प्रौढ़ावस्था में पहुँचकर आलोचकों से प्रभावित होता हुआ नहीं चल सकता और न अपनी आलोचना के लिए उनके मतों का संग्रह ही कर सकता है। यह नितान्त आकस्मिक बात नहीं है कि आलोचना के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल उस समय उतरे जब उनकी आयु लगभग ३८ वर्ष की हो चुकी थी, और उनके अनेक निबन्ध जिनका सम्बन्ध अधिकतर मनोविकारों से है तथा लगभग सभी प्रमुख कवितायें, कहानी आदि उससे पूर्व ही प्रकाशित हो चुके थे। उनकी रचनाओं का प्रकाशन सन् १९०२ से ही प्रारम्भ हो गया था जब 'सरस्वती' में उनकी पहली कविता छपी, किन्तु अपने साहित्यिक विकास की वास्तविक दिशा उन्होंने लगभग २० वर्षों बाद अपनाई। इन बीस वर्षों तक वे कार्य-क्षेत्र में अग्रसर करने वाले साधनों का सम्बल एकत्र करते रहे, मानव-ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का अनुशीलन और मनन भी करते रहे। कदाचित् पूर्ण परिपक्व धारणाओं के साथ ही वे प्रयोगात्मक आलोचना के क्षेत्र में उतरना चाहते थे। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि उनकी साहित्यिक मान्यताओं के मूल स्रोत इन २० वर्षों की साधना में ही कहीं छिपे पड़े हैं। और यह बात सहज स्पष्ट है कि इस बीच में उनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य मनोविकारों पर लिखे हुए निबन्धों के रूप में प्रतिफलित हुआ। इस प्रकार, इन निबन्धों में आये हुए भाव-विवेचन का सीधा-सम्बन्ध 'भाव-योग' वाले आलोचनात्मक सिद्धान्त से जुट जाता है।

भाव-विवेचन करना शुक्ल जी का लक्ष्य नहीं था और न इस क्षेत्र में उनकी मान्यताओं को मौलिक माना जा सकता है। वास्तव में वे एक ओर तो साहित्यिक निबन्धों की सृष्टि करना चाहते थे और दूसरी ओर रस-शास्त्र के अन्तर्गत विवेचित भावों को नवीन ज्ञान के आलोक में देखने-दिखाने का प्रयास कर रहे थे। इस भाव-विवेचन को विशुद्ध मनोविज्ञान की दृष्टि से भी मौलिक समझा जाता रहा है किन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि इस विवेचन के लगभग सभी प्रधान सूत्र उन्नीसवीं शती के प्रथम चरण के पाश्चात्य मनोविज्ञान से लिए गये हैं। और इसी आधार पर यहाँ यह कहने का साहस किया जा रहा है कि आचार्य शुक्ल के मुख्य आलोचनात्मक सिद्धान्त (भाव-योग) के धुर मूल में ही पाश्चात्य मनोविज्ञान का बड़ा गहरा प्रभाव है। जो आलोचक किसी पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र का प्रभाव उनकी मान्यताओं में ढूँढ़ने जायेंगे उन्हें अधिकांश निराश ही होना पड़ेगा। आचार्य शुक्ल ने किसी आलोचक से ऋण न लेकर पश्चिम से मनोविज्ञान के नूतन सिद्धान्तों का ऋण लिया और अपने मौलिक साहित्य-शास्त्र की प्रतिष्ठा की। जैसा आगे के विवेचन से स्पष्ट हो

जायेगा, मनोविज्ञान के आचार्य के रूप में उनकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती और न ही उनकी तत्सम्बन्धी उद्भावनायें मौलिक कहला सकती हैं, किन्तु साहित्य-शास्त्र के मौलिक प्रतिष्ठाता के रूप में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। इन दोनों तथ्यों को प्रमाणित करने के लिए हमें उनके भाव-विवेचन के कुछ अधिक विस्तार में जाना पड़ेगा। उनकी रसवादी समीक्षा को ठीक-ठीक हृदयंगम करने के लिए भी यह विस्तार नितान्त अनिवार्य है।

शुक्ल जी की जीवनी को देखने से यह ज्ञात होता है कि वे प्रारम्भ से ही मनोविज्ञान के अध्ययन में तत्पर थे। वे अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में ही हर्बर्ट स्पेंसर की 'Principles of Psychology' नामक पुस्तक में डूबे रहते थे, मनोविज्ञान के अन्य प्रसिद्ध आचार्यों के ग्रन्थों का अवलोकन भी उन्होंने अवश्य किया होगा, यह अनुमान लगाना कठिन नहीं। उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में मनोविज्ञान की जो प्रगति हुई उसका बहुत गहरा अध्ययन उन्होंने किया था। उस अध्ययन के परिणामस्वरूप उन्हें जो कुछ उपलब्धि हुई उसे अपने भीतर आत्मसात् करने का प्रयास वे करते रहे। मनोविज्ञान की वे नई खोजें भारतीय साहित्य-शास्त्र की परम्परा से कहाँ तक मिलती-जुलती हैं और किस सीमा तक उसके भीतर समाविष्ट हो सकती हैं, इस प्रश्न पर भी वे धीरे-धीरे विचार करते आ रहे थे। सन् १९१२ में जब उनकी आयु लगभग २८ वर्ष की थी, तब मनोवैज्ञानिक निबन्धों के रूप में उनके उक्त अध्ययन का प्रतिफल सामने आने लगा। सन् १९१९ तक उनके निबन्ध 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका', में समय-समय पर निकलते रहे। इनसे पहले भी 'सरस्वती' में 'कविता क्या है ?' शीर्षक लेख लिखकर इन विचारों का कुछ आभास वे दे चुके थे। इन सभी निबन्धों में 'जीवन', 'साहित्य' और 'भाव' का जैसा गूढ़ एकीकरण उपलब्ध होता है उसे देखने से ज्ञात होता है कि शुक्ल जी की उक्त धारणा यहाँ पहुँचते-पहुँचते अत्यन्त पुष्ट हो गई थी। इस पुष्ट धारणा को लेकर ही वे सन् २० के बाद प्रयोगात्मक साहित्यालोचना के क्षेत्र में उतरे और आजीवन, अपनी पुस्तकों और निबन्धों में निर्भीक भाव से, उसका प्रयोग करते रहे।

शुक्ल जी के भाव-विवेचन का प्रकाशन 'विचार वीथी' एवं 'चिन्तामणि' के निबन्धों के रूप में हुआ। किन्तु 'रस-मीमांसा' के प्रकाशित हो जाने के उपरान्त ही भाव के सामान्य स्वरूप के सम्बन्ध में उनकी धारणायें अधिक स्पष्ट हुई हैं। आगे, इन्हीं पुस्तकों के आधार पर उनकी धारणाओं को समझने और तत्कालीन मनोविज्ञान के समानान्तर रखने का प्रयास किया जा रहा है।

सबसे पहला प्रश्न है कि भाव क्यां है।

भाव :

भाव के तीन संयोजक तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए अलैग्जैंडर शैंड ने कहा है कि मूल भाव, उसकी आंतरिक प्रक्रिया (वेग) और उसकी बाह्याभिव्यक्ति—इन

का ध्यान आदि से अन्त तक पूरी कर्म-शृंखला पर से होता हुआ उसकी सफलता रूपी समाप्ति तक फैला रहता है।" कहना अनावश्यक है कि इस उत्तर से प्रश्न का ठीक समाधान हो या न हो किन्तु वस्तु-स्थिति का ठीक परिचय मिल जाता है। कर्म और फल को समान महत्त्व देने के कारण ही आलंबन का विस्तार उन्होंने, यहाँ से वहाँ तक, मान लिया है। बेन ने उत्साह को Emotions of Action के अंतर्गत रखा है जिसका अर्थ यह हुआ कि कर्म में प्रवृत्त हुए बिना उत्साह का स्वरूप व्यक्त नहीं होता। शुक्ल जी ने इसी मंतव्य को दो रूपों में प्रकट किया "हमारे देखने में तो उद्योग की तत्परता में ही उत्साह की अभिव्यक्ति होती है, अतः कर्मवीर ही कहना ठीक है (बुद्धिवीर नहीं)।"[1] "जब तक आनन्द का लगाव किसी क्रिया, व्यापार या उसकी भावना के साथ नहीं दिखाई पड़ता तब तक उसे उत्साह की संज्ञा नहीं प्राप्त होती है।"[2] बेन ने वैज्ञानिक पद्धति पर इस भाव की अन्य प्रवृत्तियों और रूपों का निरूपण अपने 'The Emotions and the Will' नामक ग्रंथ में किया है। उसने बताया है कि क्रियात्मक पक्ष में, परिणाम के असंभावित या संभावित होने के विचार से, उत्साह में भयमूलक अनिश्चय और आनन्दमूलक निष्कृति दोनों विद्यमान रहते हैं,[3] किन्तु ऐसा तभी होता है जब फल की भावना और उसकी प्राप्ति में पर्याप्त व्यवधान हो—

"When an interval occurs between the conceiving of an end and the fruition of it—the interval of action—there is scope for the situation now described."[4]

मैग्डूगल ने अपनी पुस्तक 'Social Psychology' में, सन् १९१२ के आस-पास, एक अतिरिक्त अध्याय में कर्म-सिद्धान्त अर्थात् कर्म में प्रेरित करने वाली शक्तियों का विवेचन किया। उन्होंने अनेक सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए इसी मत का प्रतिपादन किया कि परिणाम का पूर्ण-कल्पित रूप ही कर्म-प्रवाह को विशिष्ट दिशा में गतिशील करता है, किन्तु कर्म करने की अनिवार्य शर्त तो यह है कि मन में कर्म के लिए Conative tendency हो।

"The truth is that the anticipatory representation of the end of action merely serves to guide the course of action in detail, the essential condition of action is that a conative tendency, a latent disposition to action, shall be evoked."

—Social Psychology, page 309.

कर्म की प्रेरणा कहाँ से मिलती है, इसके दार्शनिक और धार्मिक पक्षों की ओर भी शुक्ल जी ने संकेत किया। इस प्रसंग में अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों के मतों का

---

१. चिं०, भाग १, पृ० १०।
२. वही, पृ० ९।
३. *Emotions and the Will*, page 152.
४. वही, पृ० १५२।

उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया कि उनके बीच इस प्रश्न को लेकर शताब्दियों तक विवाद चलता रहा है। कांट ने कहा कि कर्म-संकल्पवृत्ति सर्वथा स्वतन्त्र है और मनोविज्ञान के नियमों के अनुसार उसका विचार नहीं हो सकता।[1] इसके विपरीत स्पिनोजा कर्म के पीछे कार्य-कारण-शृंखला का अस्तित्व अनिवार्य मानता है।[2] शुक्ल जी ने मनोविज्ञान और दर्शन दोनों का समन्वय करके कर्म की प्रक्रिया में रहने वाले तत्परतापूर्ण आनन्द की व्याख्या की।

श्रद्धा-भक्ति :

'चिंतामणि' का दूसरा निबन्ध है—श्रद्धा-भक्ति। प्राचीन रस-शास्त्र में इन दोनों भावों की मीमांसा कम है किन्तु पाश्चात्य मनोविज्ञान में इनका विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। प्रायः सभी प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिकों ने अपने भाव-विवेचन में इनको स्थान दिया है। शुक्ल जी के विश्लेषण में उससे भिन्नता अवश्य लक्षित होती है किन्तु भावों के मूल रूप और प्रवृत्तियाँ उन्होंने भी वही रखीं जो मनोविज्ञान में बताई गई हैं। श्रद्धा नामक भाव का पूर्ण बोध मनोविज्ञान के दो शब्दों से होता है—(१) Admiration तथा (२) Esteem अलैग्जैडर बेन ने दोनों भावों की निम्नांकित परिभाषाएँ दी हैं :—

"Admiration is the response to pleasurable feeling aroused by Excellence or Superiority, a feeling closely allied to Love.[3] Esteem refers to the performance of essential duties, whose neglect is attended with evil."[4]

श्रद्धा का सामान्य लक्षण स्थिर करते हुए शुक्ल जी ने Admiration के मूल तत्त्व को ही ग्रहण किया है—"किसी मनुष्य में जन साधारण से विशेष गुण व शक्ति का विकास देख उसके सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनन्द-पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते हैं।" महत्त्व का स्वीकार और साथ-साथ चलने वाला आनंद का भाव दोनों ही परिभाषाओं में विद्यमान है। किन्तु शुक्ल जी की परिभाषा में श्रद्धा को स्थायी आनन्द-पद्धति के रूप में देखा गया है जिसका अर्थ यह है कि उसके अंतर्गत अन्य भावों का अभ्युदय भी होता रहता है। यानी जिसके प्रति श्रद्धा है उसकी बढ़ती से हम प्रसन्न होंगे तथा उसकी निन्दा से दुःखी या क्रुद्ध।[5] शैंड ने इस प्रकार के भावों को Sentiments कहा था और मैग्डूगल ने Admiration को Sentiments के

---

१. विश्व प्रपंच, पृ० १११ (पद टिप्पणी)।

२. वही, पृ० १११।

३. *Mental and Moral Science*, page 247.

४. वही, पृ० २४८।

५. चिं०, भाग १, पृ० १७।

निकट पहुँचा हुआ एक संश्लिष्ट भाव ही माना है।[1] इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी की परिभाषा पाश्चात्य निष्कर्ष का आधार लेकर बनी है।

बेन ने जिस भाव को Esteem कहा है उसे शुक्ल जी शील-सम्बन्धिनी श्रद्धा के रूप में देखते हैं जिसमें श्रद्धालु की दृष्टि श्रद्धेय के आचरण और उत्तरदायित्व-निर्वाह पर होती है। ऐसे व्यक्तियों पर श्रद्धा रखना समाज के प्रत्येक प्राणी का कर्त्तव्य है।[2]

श्रद्धा का भाव किन व्यक्तियों के हृदय में उत्पन्न हो सकता है, इसका उल्लेख करते हुए पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने कहा है कि भाव के उदय के लिए अपने भीतर आत्म-निषेध या हीनता की भावना आवश्यक है। जिस मनुष्य में दंभ या गर्व की मात्रा अधिक होगी वह श्रद्धालु नहीं बन सकता। मैग्डूगल के अनुसार आत्म-निषेध अथवा आत्म-हीनता की भावना श्रद्धा के लिए अनिवार्य है, अत्यधिक आत्म-विश्वासी, आत्म-तुष्ट और अहंकारी व्यक्ति श्रद्धालु नहीं हो सकता। अहं का किंचित् विसर्जन और उदारता का रहना सच्ची श्रद्धा के लिए अनिवार्य है।[3]

आचार्य शुक्ल ने उक्त तथ्य को निम्नांकित ढंग से निरूपित किया, "जिनकी स्वार्थ-बद्ध दृष्टि अपने से आगे नहीं जा सकती..... वे श्रद्धा ऐसे पवित्र भाव की धारणा" नहीं कर सकते और "स्वार्थियों और अभिमानियों के हृदय में श्रद्धा नहीं टिक सकती।"[4]

आगे चलकर उन्होंने श्रद्धा के विषय को तीनों रूपों में विभक्त किया—प्रतिभा, शील और साधन-सम्पत्ति—लेकिन जैसा उनके वक्तव्य से ही स्पष्ट है यह विभाजन तात्त्विक या वैज्ञानिक नहीं है, मनुष्य के ऐसे जटिल जीवन में भावों के विषयों का वर्गीकरण स्थूलतः ही किया जा सकता है। यही कारण है कि मनोविज्ञान इस दिशा में प्रवृत्त नहीं होता।

श्रद्धा का भाव विकसित बुद्धि की अपेक्षा रखता है। इसलिये जानवरों अथवा छोटे बच्चों में उसका विकास मनोविज्ञान को मान्य नहीं—"We can hardly suppose any of the animals to be capable of admiration in the proper sense of the word, nor is it displayed by very young children."[5]

---

१. *Social Psychology*, page 110 (1950 Ed.) ; (First published in 1908)

२. चिं०, भाग १, पृ० २१-२२।

३. "It is because negative self-feeling is an essential element in admiration that the extremely confident, self-satisfied, and thoroughly conceited person is incapable of admiration, and that genuine admiration implies a certain humility and generosity. *Social Psychology*, page 111.

४. चिं०, भाग १, पृ० २१-२२।

५. *Social Psychology*, pages 110-111.

शुक्ल जी का कहना है कि "बच्चों में कृतज्ञता का भाव पाया जाता है। पर सदाचार के प्रति उस कृतज्ञता का नहीं जिसे श्रद्धा कहते हैं।"[१] उक्त दोनों कथनों का साम्य स्वतः स्पष्ट है।

भक्ति-भाव (Veneration) के अंतर्गत बेन ने तीन भावों का संयुक्त रूप देखा (१) आश्चर्य (Wonder), (२) प्रेम (Love), (३) दैवी-त्रास (Awe)।[२] किन्तु मैग्डूगल के अनुसार भक्ति [भगवद्भक्ति reverence] चार भावों का संश्लिष्ट रूप है—"Reverence is the religious emotion par excellence; few merely human powers are capable of exciting reverence, this blend of wonder, fear, gratitude, and negative self-feeling."[3]

शुक्ल जी के मत से "श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।"[४] पहले दिये गये उद्धरणों से प्रकट है कि श्रद्धा के अंतर्गत वे कृतज्ञता और आत्म-निषेध के भाव को भी ग्रहण कर लेते हैं। 'आश्चर्य' नामक भाव को श्रद्धा या भक्ति के संयोजक मनोविकारों में स्थान न देकर उन्होंने अपने लक्षण को अधूरा बनाया, किन्तु भय या त्रास को अर्द्ध-विकसित मानव-मन में स्थापित कर भक्ति के प्रारम्भिक विकास में उसका महत्त्वपूर्ण योग वे स्वीकार कर गये हैं। उनका कहना है कि देवताओं के प्रति सबसे पहले भय, लोभ या कृतज्ञता के भाव ही थे।[५]

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि 'श्रद्धा और भक्ति' जैसे भावों के निरूपण का मुख्य आधार भी पाश्चात्य मनोविज्ञान है।

करुणा :

संग्रह का तीसरा निबन्ध करुणा है। भारतीय साहित्य-शास्त्र में करुण रस के अन्तर्गत इसका विवेचन हुआ है, किन्तु शुक्ल जी ने उस विवेचन को अपने निबन्ध का आधार नहीं बनाया। उन्नीसवीं शती की मनोविज्ञान संबन्धी उपपत्तियाँ ही इस निबन्ध में भी दिखाई पड़ती हैं। करुणा के आनन्दात्मक अंश के ऊपर पश्चिम में बहुत दिनों से विवाद चला आ रहा था, बेन और स्पेंसर के युग में आकर यह विवाद अपनी चरम सीमा को पहुँच गया। हर्बर्ट स्पेंसर वह पहला मनोवैज्ञानिक था जो इस आनन्द का स्रोत ढूंढ़ते-ढूंढ़ते भाव के धुर-मूल तक पहुँचा और जिसने अपने 'Principles of Psychology' नामक ग्रंथ के दूसरे भाग में 'करुणा' का विवेचन करते हुए यह प्रतिपादित किया कि इसका सम्बन्ध वास्तव में वात्सल्य या Parental feeling से है। स्पेंसर की यह स्थापना किसी-न-किसी रूप में मैग्डूगल तक को मान्य

---

१. चिं०, भाग १, पृ० २१।
२. *Emotions and the Will*, page 91.
३. *Social Psychology*, page 113.
४. चिं०, पृ० ३२।
५. सूरदास (भक्ति का विकास), पृ० १७।

तीनों के संयोग का नाम 'भाव' है।

"Thus the three distinguishable parts of the system of the emotion, the emotion itself, the process connected with it in the organism, and its outward expression and modes of behaviour, all belong together, and form one system"[1]

शुक्ल जी ने उक्त तथ्य को कुछ परिवर्तित रूप में इस प्रकार रखा है—'भाव का विश्लेषण करने पर उसके भीतर तीन अंग पाये जाते हैं—

(१) वह अंग जो प्रवृत्ति या संस्कार के रूप में अन्तःसंज्ञा में रहता है। (वासना)।

(इसे Instinct कहते हैं)

(२) वह अंग जो विषय-बिम्ब के रूप में चेतना में रहता है और भाव का प्रकृत स्वरूप है। (भाव, आलम्बन आदि की भावना)

(३) वह अंग जो आकृति या आचरण आदि में अभिव्यक्त होता है और बाहर देखा जा सकता है। (अनुभाव और नाना प्रयत्न)[2]

उक्त दोनों उद्धरणों की तुलना से स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने जहाँ Instinct अथवा मूल प्रवृत्ति या वासना को भाव का अनिवार्य अंग माना वहाँ शैंड ने उसे छोड़ दिया है। वास्तव में भावों के जटिल विकास के कारण मूल वासनाओं के साथ सब समय उनका सम्बन्ध जोड़ना शक्य नहीं। यह पता लगना सर्वथा असंभव हो गया है कि किस भाव के मूल में कौन सी वासना काम कर रही है अथवा कौन भाव किस विशिष्ट वासना का परिणाम है। शैंड ने कहा है—

'Now in attaching an instinct so rigidly to primary emotion, and a primary emotion to a particular instinct, three important facts seem to be obscured.

"1. That an instinct may be excited, and even evoke the behaviour which is characteristic of it, without exciting a particular emotion.

"2. That in the system of a primary emotion there may be not only one but several instincts.

"3. That sometimes the same instinct may be found organised in the system of different emotions."[3]

इसी कठिनाई के कारण विशुद्ध भाव की परिभाषा देते हुए शैंड ने Instincts को Emotion में स्थान नहीं दिया। "Emotion for us will connote not feeling abstracted from impulse, but feeling with its impulse and

---

१. *Foundations of Character*, page 180.

२. रस-मीमांसा, पृ० १६४।

३. *Foundations of Character*, page 188.

feeling which has essentially a cognitive attitude, however vague, and frequently definite thoughts about its object."[1]

इसका अर्थ यह हुआ कि भाव के अन्तर्गत Feeling अर्थात् अनुभूति, Impulse अर्थात् वेग और विषय-बोध का होना ही आवश्यक है। इन्हीं तीनों तत्त्वों के समावेश से ही शुक्ल जी ने अपनी परिभाषा बनाई है जो शैंड की परिभाषा का ही प्रतिरूप जान पड़ती है—

"प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेग-युक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम भाव है।"[2]

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह परिभाषा साहित्य-दर्पण की इस परिभाषा से बहुत दूर है कि 'निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथम विक्रिया।' विश्वनाथ ने इसकी वृत्ति में लिखा है—

जन्मतः प्रभृति निर्विकारे मनसि उद्बुद्ध-मात्रो-विकारो भावः।[3] अर्थात् जन्म से निर्विकार चित्त में उद्बुद्धमात्र विकार को भाव कहते हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से भाव का यह लक्षण अधूरा ही कहा जायेगा, कदाचित् इसीलिए शुक्ल जी ने शैंड वाले लक्षण का आश्रय लिया।

स्थायी एवं संचारी भाव :

स्थायी और संचारी भावों की सम्बन्ध-व्यवस्था पर पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों तथा प्राच्य साहित्य-शास्त्रियों के मतों की समीक्षा करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है कि पश्चिमी विचारकों के अनुसार मूल या जनक भाव स्वप्रवर्त्तित अन्य भाव के उदय के समय अपना स्वरूप विसर्जित कर देता है।[4] उदाहरण के लिए अपने प्रिय के ऊपर किए गए अत्याचार को ले सकते हैं जो हमारे मन में इतना उग्र क्रोध उत्पन्न कर देगा कि प्रेम भाव के लिए स्थान नहीं रहेगा। किन्तु शैंडने भाव-चक्र (Emotional System) का विवेचन करते समय यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रवर्तक भाव अपने स्वरूप का विसर्जन नहीं करता अपितु अपने अनुशासन में ही सहायक भावों को जगते रहने का अवकाश देता रहता है—

".....We can see that these great sentiments, working to their appointed ends, will assimilate or exclude any given emotion according as it can or cannot be utilized by them."[5]

दूसरी बात यह भी है कि शुक्ल जी ने जो उदाहरण चुना है उसमें आलम्बन

---

१. *Foundations of Character*, page 190.
२. रस-मीमांसा, पृष्ठ १६८।
३. साहित्य-दर्पण, (बिमला टीका) पृ० ८३।
४. रस मीमांसा, पृ० १९९।
५. *Foundations of Character*, page 61.

बदल गया है, भाव-विसर्जन नहीं हुआ है। प्रेम भाव का विषय तो अपना प्रिय ही है, किन्तु क्रोध का विषय तो वह अत्याचारी व्यक्ति है जो प्रिय को पीड़ा अथवा कष्ट पहुँचाता है। और, पाश्चात्य या प्राच्य, किसी भी दृष्टि से इस तथ्य में कोई अड़चन नहीं उत्पन्न हो सकती कि दो भिन्न आलम्बनों के प्रति किसी आश्रय में युगपत् रूप से दो भाव जगते रहें। अतः भाव के विसर्जित होने का प्रश्न ऐसे प्रसंग में उठ भी नहीं सकता।

शुक्ल जी के अनुसार भारतीय रस-व्यवस्था में आलम्बन की इस भिन्नता का कोई महत्त्व नहीं, क्योंकि यदि संचारी भाव का आलम्बन स्थायी भाव के आलम्बन से भिन्न भी हुआ तो श्रोता या दर्शक का ध्यान मुख्यतया स्थायी भाव के आलम्बन की ओर ही आकर्षित होगा। साहित्य-ग्रन्थों में स्थायी-संचारी भावों की सम्बन्ध-व्यवस्था वस्तुतः इसी प्रकार की है किन्तु पुराने आचार्यों ने भी जब बड़े-बड़े महा-काव्यों या नाटकों में किसी एक प्रधान भाव या रस की व्यापकता की बात कही तब उनका लक्ष्य भी उसी प्रवर्तक भाव-चक्र की ओर संकेत करना था जिसका विवेचन आगे चलकर पाश्चात्य मनोविज्ञान में हुआ। स्वयं शुक्ल जी ने ही गोस्वामी तुलसीदास द्वारा वर्णित प्रेम की व्यापकता, स्थायित्व और उदात्तता की सराहना करते हुए लिखा है कि—

—यह राम को निर्जन वनों और पहाड़ों में घुमाने वाला, सेना एकत्र कराने वाला, पृथ्वी का भार उतारने वाला वियोग है।[1]

कौन कह सकता है कि राम के मन में 'वियोग' नामक भाव के अनुशासन के अन्तर्गत राक्षसों के संहार की उत्तेजना उत्पन्न करने वाले क्रोध, उत्साह आदि भाव नहीं उत्पन्न हुए होंगे, यद्यपि सीता के प्रति उनके प्रेम-भाव का विसर्जन कभी नहीं हुआ होगा।

अतः मनोविज्ञान के भाव-चक्र तथा साहित्य-शास्त्र के स्थायी-संचारी विधान के बीच इस आधार पर भेद नहीं स्थापित किया जा सकता कि एक में प्रधान भाव का विसर्जन हो जाता है और दूसरे में नहीं।

चिंतामणि के कुछ निबन्धों में अनेक स्थायी और संचारी भावों का निरूपण हुआ है। हम उनपर क्रमशः विचार करेंगे।

उत्साह :

सबसे पहले 'उत्साह' को लीजिए। भारतीय रस-शास्त्र में इसकी गणना स्थायी भावों के अन्तर्गत की गई किन्तु पश्चिम के अनेक मनोवैज्ञानिकों (शैंड, मैग्-डूगल आदि) ने अपने भाव-विवेचन में इसे स्थान नहीं दिया। उन्नीसवीं शती के प्रसिद्ध प्राचीन मनोवैज्ञानिक अलैग्जेंडर बेन ने अपने ग्रन्थों में Emotions of action के अन्तर्गत 'Pursuit' शीर्षक से उक्त भाव का विश्लेषण किया है। उन्होंने

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ९२।

'उत्साह' की दो मानसिक प्रतिक्रियाएँ बताई हैं—(१) फल प्राप्ति की आवेगपूर्ण कामना जो सिद्धि के निकट पहुँचाती हुई उत्तरोत्तर तीव्र होती चली जाती है। (२) अन्तर से हटकर बाह्यविषय की ओर उन्मुखता।[1] जब तक फल की भावना या परिणाम की सम्भावना नहीं होती तब तक उत्साह का भाव उदित नहीं होता :— "Some end is needed to stimulate the voluntary energies, and by the law of self-conservation the gradual approach towards the consummating of the end heightens the energies, and intensifies the pursuit."[2]

शुक्ल जी ने उत्साह की उत्पत्ति तीन कारणों से मानी है—(१) कर्म-भावना से, (२) फल-भावता से तथा (३) विषयान्तर से। तीसरे को हम कोई वास्तविक कारण नहीं मान सकते। इसके अंतर्गत शुक्ल जी ने उस उत्साह को लिया है जो उत्पन्न तो होता है किसी अन्य विषय से किन्तु उस समय जो भी कर्म सामने आता है उसी में विनियुक्त हो जाता है। यदि हम पहले से उत्साहित हैं, तो जिस किसी भी काम में लगेंगे उसमें उत्साह का भाव पूरा-पूरा मिलेगा। किन्तु यह बात तो क्रोधादि अन्य मनोविकारों में भी दिखाई पड़ती है, अतः उत्साह के कारण-रूप में इसकी विशिष्टता स्वीकार नहीं की जा सकती। जहाँ तक कर्म-भावना और फल-भावना का सम्बन्ध है, शुक्ल जी दोनों का अलग-अलग उल्लेख करके भी, न तो विशुद्ध कर्म-भावना-मूलक (फल-भावना-हीन) उत्साह का प्रतिपादन कर सके और न ही विशुद्ध फल-भावना-मूलक उत्साह का उदाहरण प्रस्तुत कर सके। आगे चलकर उन्हें लिखना पड़ा—"उत्साह वास्तव में कर्म और फल की मिली-जुली अनुभूति है जिसकी प्रेरणा से तत्परता आती है।"[3] यदि ऐसी बात थी तो दोनों कारणों को अलग-अलग निर्दिष्ट करने की आवश्यकता क्या थी ? वास्तव में शुक्ल जी अपनी इस धारणा को प्रतिष्ठित करना चाहते थे कि कर्म-भावना-प्रधान उत्साह ही लोकोपकारक और श्रेयस्कर है, फल-भावना-प्रधान उत्साह उतना सम्माननीय नहीं हो सकता। बेन ने जो बात सूत्र रूप में कही वह भाव के मूल स्रोत का अधिक वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करती है, शुक्ल जी के वक्तव्य में बारीकी और सूक्ष्म दृष्टि तो है किन्तु उसे हम वैज्ञानिक नहीं कह सकते।

बेन ने उत्साह की जो दूसरी प्रतिक्रिया बताई उसका सम्बन्ध भाव के आलम्बन या विषय से है। वे निश्चयपूर्वक नहीं बता सके कि उक्त भाव का वास्तविक आलम्बन कौन है, केवल इतना ही संकेत देते हैं कि हम उत्साह के क्षण में विषयोन्मुख या बहिर्मुख हो जाते हैं। शुक्ल जी इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि "उत्साही वीर

---

१. *Mental and Moral Science* (1884) by A. Bain, page 268

२. वही, पृ० २६८।

३. चिं०, भाग १, पृ० १२।

is excited by a wrong thing really done or by a *wrong thing supposed to be done.*'[1]

अनेक दृष्टांतों और उदाहरणों से पुष्ट करके शुक्ल जी ने लज्जा के इन्हीं लक्षणों को निरूपित किया है। वे कहते हैं :—

" 'लज्जा' का कारण अपनी बुराई, त्रुटि या दोष का हमारा अपना निश्चय नहीं, दूसरे के निश्चय का निश्चय या अनुमान है··· ।"[2]

और

"किसी बुरे प्रसंग में यदि निमित्त रूप से भी हमारा नाम आ जाता है तो हमें लज्जा होती है...चाहे ऐसा हमारी जानकारी में हुआ हो, चाहे अनजान में... ।"[3]

'रस-मीमांसा'[4] पुस्तक में 'ग्लानि' का प्रसंग आने पर आचार्य शुक्ल ने यह कहा है कि इस भाव का ठीक-ठीक बोध करानें वाला कोई शब्द अंग्रेजी भाषा में नहीं है, इसलिए अंग्रेजी-भाषी इस भाव की उतनी सटीक व्याख्या नहीं कर सकते जितनी हिन्दी-भाषी। उन्होंने यह भी सुझाया कि भारतनिवासी अपनी भावुकता के लिए संसार में बदनाम हैं, इसलिए और क्षेत्रों में वे जगत् को कुछ नया प्रदान कर सकें अथवा नहीं, किन्तु भाव-विवेचन के क्षेत्र में तो वे अवश्य ही अग्रणी बन सकते हैं। किन्तु इसी 'ग्लानि' भाव की जैसी सूक्ष्म व्याख्या हर्बर्ट स्पेंसर आदि ने की है उसे देखते हुए शुक्ल जी का उपर्युक्त वक्तव्य ही खण्डित नहीं हो जाता अपितु यह भी प्रमाणित हो जाता है कि उन्होंने स्पेंसर के लक्षण को ही कुछ शब्दों के हेर-फेर के साथ स्वीकार कर लिया है। 'ग्लानि' को स्पेंसर ने मनुष्य की 'उच्चतम नैतिक स्थिति' के रूप में देखा और कहा कि वह इस बात पर निर्भर नहीं करती कि दूसरे लोग हमारे आचरण के सम्बन्ध में क्या धारणा रखते हैं, बल्कि वह इस पर निर्भर करती है कि हम अपने आचरण में क्या त्रुटियाँ या दोष देखते हैं। उनकी महत्त्वपूर्ण परिभाषा निम्नांकित है—

And here we may see how far men at present are from that *highest moral state*, in which the supreme, and most powerful sentiments are those called forth by *contemplation of conduct itself, and not by contemplation of other persons' opinions of conduct.*'

---

१. *Principles of Psychology*, vol. II, page 605.

२. चिं०, भाग १, पृ० ५७।

३. वही, पृ० ६१।

४. र० मी०, पृ० १७७।

५. *Principles of Psychology*, page 606.

उक्त परिभाषा में भाव का नामोल्लेख नहीं है किन्तु उनके ठीक-ठीक रूप का बोध लेखक को अवश्य है। 'ग्लानि' की इन्हीं दोनों विशेषताओं को शुक्ल जी ने निम्नांकित ढंग से निरूपित किया —

"अपनी बुराई, मूर्खता, तुच्छता इत्यादि का एकान्त अनुभव करने से वृत्तियों में जो शैथिल्य आता है, उसे ग्लानि कहते हैं। इसे अधिकतर उन लोगों को भोगना पड़ता है जिनका अंतःकरण सत्त्व प्रधान होता है, जिनके संस्कार सात्त्विक होते हैं। जिनके भाव कोमल और उदार होते हैं।"[१] स्पेंसर में जो 'Highest Moral State' है वही शुक्ल जी में 'सत्त्व प्रधान अंत:करण' बन गया है। अपनी मूर्खता, तुच्छता आदि का एकांत निजी अनुभव, ग्लानि का वास्तविक लक्षण है, यह दोनों ही विद्वान् स्वीकार करते हैं। इस प्रकरण में अपनी स्थापना की पुष्टि के लिए शुक्ल जी ने 'गरइ गलानि कुटिल कैकेयी' वाली जो चौपाई उद्धृत की है वह विषय को स्पष्ट करने के बजाय उसे और अधिक उलझा देती है। अगर ग्लानि सत्त्व-प्रधान अंतःकरण में ही उत्पन्न हो सकती है तो कैकेयी को कुटिल क्यों कहा गया ? यदि यह कहा जाय कि कैकेयी पहले कुटिल थी किन्तु चित्रकूट में पहुँचकर उसका अंतःकरण सात्त्विक हो गया था तो यह प्रश्न होगा कि उसके साथ फिर कुटिल विशेषण लगाने की क्या आवश्यकता थी। यदि यह माना जाय कि कुटिल कैकेयी में भी ग्लानि का संचार दिखाकर तुलसी ने राम, भरत आदि की उदारता का बोध कराया, तो अपनी परिभाषा के समर्थन में शुक्ल जी का उसे आगे ले आना अनुपयुक्त हो जायेगा। 'तुलसी' का उद्देश्य चाहे जो बताया जाय, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकरण में उक्त चौपाई से भ्रम ही उत्पन्न होता है।

आगे चलकर मनोवैज्ञानिकों ने Shame, Bashfulness, Shyness और Modesty आदि भावों तथा मानसिक स्थितियों का विश्लेषण किया। शुक्ल जी जिसे 'संकोच' कहते हैं और जिसको लज्जा का हल्का रूप बताते हैं, उसे बाल्ड्विन और मैग्डूगल आदि ने Bashfulness कहा है और यह माना है कि अपनी त्रुटि और दूसरों पर होने वाली उसकी प्रतिक्रिया का प्रारम्भिक परिचय मिलते ही यह भाव लज्जा (Shame) के रूप में बदल जाता है।

'लज्जा' के भाव का बहुत गहरा सम्बन्ध मैग्डूगल ने आत्म-सम्मान (Self-regarding sentiment) के साथ जोड़ा है। उन्होंने बताया कि पिता अपने पुत्र की किसी त्रुटि पर लज्जित होता है तो इसीलिए कि उसके आत्म-सम्मान को ठेस-सी लगती है। शुक्ल जी ने लज्जा के इस भाव का उल्लेख तो किया,[२] किन्तु आत्म-सम्मान के भाव के साथ वे इसे सम्बद्ध न कर सके।

---

१. चिं०, भाग १, पृ० ५८।
२. चिं०, भाग १, पृ० ६१।

लोभ और प्रीति

'लोभ' हमारे यहाँ विकारों में गिनाया गया किन्तु प्रीति को रति के रूप में शृंगार रस का स्थायी भाव माना गया। पाश्चात्य मनोविज्ञान में love शब्द के अंतर्गत दोनों को समाविष्ट कर लिया गया। लोभ और प्रीति के प्रचलित अर्थों को लेकर शुक्ल जी ने दोनों के बीच सूक्ष्म भेद स्थापित किया। उन्होंने बताया—'साधारणतः मन की ललक यदि वस्तु के प्रति होती है तो लोभ और किसी प्राणी या मनुष्य के प्रति होती है तो प्रीति कहलाती है।'[1]

मनोवैज्ञानिकों में भी यह धारणा प्रचलित थी कि प्रेम का वास्तविक रूप सजीव प्राणियों के बीच ही उपलब्ध होता है।[2] हर्बर्ट स्पेंसर ने प्रेम के जिन रचनात्मक उपादानों और प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है उनके अंतर्गत लोभ और प्रीति दोनों के मुख्य तत्त्व आ जाते हैं। उनके अनुसार काम-भावना, प्रेमाकर्षण, प्रेम, श्रद्धा, भक्ति, आत्म-श्लाघा, आत्म-सम्मान, प्राप्ति और अधिकार में रखने का आनन्द, स्वतंत्रता की भावना, और सहानुभूति का उदात्तीकरण ही प्रेम के मुख्य संयोजक तत्त्व हैं।[3] आगे आने वाले मनोवैज्ञानिकों ने भी प्रेम भाव की जटिलता और संश्लिष्टता को लक्ष्य किया, शैंड[4] ने इस सम्पूर्ण व्यवस्था को वैज्ञानिक रूप देते हुए सिद्ध किया कि प्रेम एक भाव मात्र नहीं है, अपितु वह एक ऐसा भाव-चक्र है जिसके अंतर्गत भय, क्रोध, दुःख और आनन्द जैसे भावों का गूढ़ संश्लेष होता रहता है। शैंड की इस स्थापना का समर्थन शुक्ल जी ने भी 'रस-मीमांसा' में किया है।[5] किन्तु 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबन्ध में शुक्ल जी का ध्यान न तो मनोविकार की मूल प्रवृत्तियों की ओर है और न वे अपत्य-प्रेम आदि जटिल मनोभावों का विवेचन करते हैं। प्रेम के लोकपक्षीय रूप का उद्घाटन करने की ओर उनकी प्रवृत्ति अधिक रही, और ऐसा करते समय, वे कर्म की प्रेरणा देने वाले प्रधान मनोवेग के रूप में उसका निरूपण कर गये हैं। लोक-पक्ष में जाने पर यही प्रेम 'करुणा', 'उत्साह' आदि का जटिल संयोग बन जाता है। शुक्ल जी इनके अलग-अलग विवेचन की ओर प्रवृत्त नहीं हुए।

साधारण बोली में 'लोभ' शब्द का जैसा व्यवहार होता है उसे देखते हुए उसकी गणना मनोविकारों में नहीं की जा सकती। वह इच्छा का ही कोई न कोई रूप है और इच्छा को शैंड ने भाव का स्थान नहीं दिया। रस-मीमांसा में शुक्ल जी भी इस मत से सहमत हो गये हैं। लोभ में इच्छा का तत्त्व कितनी दूर तक व्याप्त

---

१. चिं०, भाग १, पृ० ७०।

२. A human person combines the stimulants for this love beyond any other object. The sensuous exterior, the voice and movements purposely attuned, largely arouse the feeling, while the response supposes another personality.' —*Mental and Moral Science*, A. Bain, p. 243.

३. *The Foundations of Character*, page 55.

४. वही, पृष्ठ ३५।

५. रस-मीमांसा, पृष्ठ १७०।

है, इस पर विचार करते हुए वे स्वयं कहते हैं—'इच्छा लोभ या प्रीति का ऐसा आवश्यक अंग है कि यदि किसी को कोई बहुत अच्छा या प्रिय लगता है तो लोग कहते हैं कि वह उसे चाहता है।'[१] इससे सिद्ध हुआ कि 'लोभ' शब्द से अन्य किसी भाव की सूचना नहीं मिलती वह प्रेम का ही सामान्योन्मुख रूप है जिसमें इच्छात्मक अवयव प्रधान है। love और लोभ को मूलतः एक मानकर शुक्ल जी ने इसी तथ्य की ओर संकेत किया।[२]

बेन आदि मनोवैज्ञानिकों ने प्रेम के जिस स्वरूप को काम-वासना (Sex instinct) पर आधारित माना है शुक्ल जी ने केवल उसी का विवेचन किया है। यदि अपत्य-प्रेम का (जो Paternal instinct पर आधारित है) भी वे विवेचन करते तो प्रेम की परिभाषा को कुछ बदल कर रखना पड़ता। प्रेमी-प्रेमिका-सम्बन्ध में व्यक्त होने वाला प्रेम, प्रवृत्ति और प्रेरणा दोनों दृष्टियों से भिन्न है।

इससे प्रकट है कि इस निबन्ध में मनोविज्ञान के सूत्र बहुत अधिक नहीं हैं और शुक्ल जी की स्वतन्त्र दृष्टि का प्रसार ही प्रधान है।[३]

घृणा :

घृणा या जुगुप्सा की गणना साहित्य-शास्त्र में स्थायी भावों के भीतर की गई और उसी की चरम परिणति वीभत्स रस के रूप में स्वीकार की गई। मनोविज्ञान में Disgust, Repugnance और Hate या Hatred शब्दों से जिन भावों का बोध होता है, उन सबका संश्लिष्ट रूप 'घृणा' शब्द से सूचित होता है। शुक्ल जी ने 'घृणा' शीर्षक निबन्ध में इस भाव के जो लक्षण, प्रवृत्तियाँ आदि निरूपित की हैं उन्हें देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उक्त दोनों भावों के मिश्रित रूप को ही वे घृणा मानते हैं। उसका स्वरूप-निरूपण करते हुए उन्होंने कहा—"अरुचिकर विषयों के उपस्थित होने पर अपने ज्ञान-पथ से इन्हें दूर रखने की प्रेरणा देने वाला जो दुःख होता है उसे घृणा कहते हैं।"[४] जिस विषय से घृणा होती है उसका ज्ञान-पथ में आना मात्र भी अरुचिकर लगता है। शैंड कहता है—

---

१. चिं०, भाग १, पृष्ठ ७०।

२. वही, पृ० ८६।

३. यह निबन्ध जब 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में १९१९ में प्रकाशित हुआ तब इसका शीर्षक था 'लोभ और प्रेम'। किन्तु प्रेम में वह स्थायित्व नहीं जो प्रीति में—जैसे क्रोध का स्थायी रूप वैर है उसी प्रकार प्रेम का स्थायी रूप प्रीति। तुलसीदास की निम्नांकित चौपाई उक्त तथ्य के समर्थन में स्वयं शुक्ल जी ने ही उद्धृत की है।

वैर प्रीति नहिं दुरत दुराये।

प्रीति के इसी स्थायित्व की ओर ध्यान देने के कारण उन्होंने निबन्ध का शीर्षक परिवर्तित कर दिया।

४. चिं०, पृ० ९७।

है।[1] शुक्ल जी ने 'करुणा' की इस आनन्दमूलकता का संकेत तो अवश्य दिया है किन्तु वे इसके मूल-स्रोत तक पहुँचने का प्रयास नहीं करते। उन्होंने कई स्थानों पर यह विचार व्यक्त किया है कि 'करुणा ही एक ऐसा व्यापक भाव है जिसकी प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति सब रूपों में, सब दशाओं में रसात्मक (आनन्दात्मक) होती है।'[2]

शुक्ल जी ने पश्चिम के उन समाज-शास्त्रियों को फटकारा है जो करुणा का सम्बन्ध आत्मरक्षा के भाव से जोड़ते हैं और यह कहा है कि "संसार में एक-दूसरे की सहायता विवेचना द्वारा निश्चित इस प्रकार के दूरस्थ परिणाम पर दृष्टि रखकर नहीं की जाती, बल्कि मन की स्वतः प्रवृत करने वाली प्रेरणा से की जाती है।"[3] शुक्ल जी के खण्डन से इस बात का भ्रम हो सकता है कि सभी पाश्चात्य विचारकों ने एक स्वर से आत्म-रक्षा वाली बात ही दुहराई है, किन्तु बात ऐसी नहीं, स्वयं अलैक्ज़ैण्डर बेन ने ही उन अपवादी परिस्थितियों का उल्लेख किया है जो आत्मरक्षा वाले सिद्धान्त को समाप्त कर देती हैं—"The facts that refuse to be interpreted so are these : the instantaneous unreflecting impulses of pity to creatures in distress although strangers, enemies, criminals, noxious beasts, the absence of all balancings of immediate loss with ultimate gain and the setting on one side for the time being the services that would certainly bring a reutrn."[4]

शुक्ल जी ने भी इन स्थितियों का लगभग यही ब्यौरा दिया है।[5]

आगे चलकर शैंड ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि Disinterested action का सम्बन्ध किसी भाव की प्रकृति से जोड़ना गलत है। उसका वास्तविक सम्बन्ध उन परिस्थितियों या भाव-चक्रों से है जो विशेष भाव को जगाती हैं। पहले के सभी विचारक ऐसी निरपेक्ष क्रिया का सच्चा स्वरूप इसलिए नहीं उद्घाटित कर सके कि वे उसका सम्बन्ध किसी-न-किसी भाव से जोड़ना चाहते थे। "And the solution of this problem appears to be that, not the nature of the emotion, but the cause which excites it or the system in which it is organised makes it disinterested. The error of preceding theories has been due to the assumption that disinterested action is the consequence of the particular nature of some emotion."[6]

आगे चलकर मैग्डूगल ने भी 'करुणा' की इस अहैतुकता का बड़ा विस्तृत और

---

१. *Social Psychology*, pagees 56-60.
२. रस मीमांसा, पृ० २७४।
३. चिं०, भाग १, पृ० ५१।
४. *The Emotions and the Will*, page 144.
५. चिं०, भाग १, पृ० ४५ और ५१।
६. *The Foundations of Character*, page 45.

वैज्ञानिक निरूपण किया।[1] मैग्डूगल की पुस्तक १९०८ में पहली बार प्रकाशित हुई और शुक्ल जी का 'करुणा' शीर्षक निबन्ध १९१३ में 'ना० प्र० पत्रिका' में छपा।

स्पेंसर की जो राय उन्होंने स्वयं दी है उससे भी इसका खण्डन हो जाता है। परस्पर साहाय्य के जो सिद्धान्त हर्बर्ट स्पेंसर ने निर्धारित किये थे उनका उल्लेख 'विश्व-प्रपंच' की भूमिका में किया गया है। उस प्रसंग में स्पेंसर के मत के साथ शुक्ल जी की सहमति सहज स्पष्ट है—

"तत्त्वज्ञवर हर्बर्ट स्पेंसर ने विकास-सिद्धान्त की जो दार्शनिक स्थापना की है उसमें धर्म-तत्त्व की भी विस्तृत मीमांसा है। स्पेंसर ने अणुजीवों से लेकर मनुष्य तक सब प्राणियों का सूक्ष्म निरीक्षण करके अन्त में यही सिद्धान्त स्थिर किया कि "परस्पर साहाय्य की प्रवृत्ति धर्म की मूल-प्रवृत्ति है जो सजीव सृष्टि के साथ ही व्यक्त हुई और उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करती गई। यह प्रवृत्ति आदि में संतानोत्पादन और संतान-पालन के रूप में प्रकट हुई।"[2]

वस्तुतः पाश्चात्य समाज-विज्ञान में भी अधिकतर ऐसे ही विचारों का प्रतिपादन हो रहा था। साहाय्य की प्रवृत्ति सर्वत्र स्वार्थमयी अथवा परस्पर की रक्षा की भावना से भरी हुई रहती है, यह कहने वाले लोग कम ही थे।

बेन ने बताया है कि अपने निकटवर्त्ती लोगों के प्रति करुणा जल्दी जगती है और दूरस्थ व्यक्तियों के प्रति अपेक्षाकृत देर से। इसका कारण यह है कि 'करुणा' और 'प्रेम' में बहुत गहरा सम्बन्ध है—"It is notorious that we sympathize readily with those that we are attached to, less readily with indifferent persons and scarcely at all with those that we dislike."[3]

इसी बात को कुछ भिन्न शब्दावली में शुक्ल जी ने कहा, "जबकि अज्ञात व्यक्ति के दुःख पर दया बराबर उत्पन्न होती है तब जिस व्यक्ति के साथ हमारा अधिक संसर्ग होता है, जिसके गुणों से हम अच्छी तरह परिचित रहते हैं, जिसका रूप हमें भला मालूम होता है उसके उतने ही दुःख पर हमें अवश्य अधिक करुणा होगी।"[4]

प्रश्न हो सकता है कि करुणा प्रेष्य मनोविकार है अथवा नहीं : यानी जिसके ऊपर करुणा की जाती है वह बदले में करुणा करने वाले पर करुणा करता है अथवा नहीं। बेन का कहना है कि उसमें कृतज्ञता आदि कोमल भावनाएँ ही उद्दीप्त होती हैं सहायता-दान रूपी आत्मसंतोष नहीं उपलब्ध होता—"While the emotion of the protector is tender feeling as pity or benevolent regard, the emotion

---

१. *Social Psychology*, pages 66-67.

२. विश्व-प्रपंच (भाग १) भूमिका, पृ० ९६।

३. *The Emotions and the Will*, page 117.

४. चिं०, भाग १, पृ० ४६।

of the protected must contain elements of tenderness, without the pleasure of helping."[१]

अपनी दूसरी पुस्तक में इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा—The receipt of favours inspires gratitude, of which the foundation is sympathy, and the ruling principle justice."[२]

शुक्ल जी के निम्नांकित वाक्य में जैसे इन्हीं विचारों का प्रत्यक्षीकरण हुआ है—"जिस पर करुणा की जाती है वह बदले में करुणा करने वाले पर भी करुणा नहीं करता—जैसा कि क्रोध और प्रेम में होता है—बल्कि कृतज्ञ होता अथवा श्रद्धा या प्रीति करता है।"[३]

दोनों ही विद्वानों ने क्रोध को करुणा का विपरीत भाव माना है। शुक्ल जी ने कहा—"दुःख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उल्टा क्रोध है।"[४] बेन ने लिखा—"Of the higher emotions, the feeling of anger is by its very nature antipathic."[५]

सहानुभूति की उत्पत्ति के मूल में हर्बर्ट स्पेंसर ने तीन प्रधान उपादान रखे हैं (१) सजातीयता, (२) नर-मादा सम्बन्ध और (३) अपत्य-स्नेह। उनके अनुसार अविकसित-अर्द्धविकसित जीवों में उक्त तीनों उपादानों में से किसी-न-किसी का अभाव होने के कारण सहानुभूति की तीव्रता नहीं पाई जाती क्योंकि उसका मुख्य आधार है बोध-पक्ष की पुष्टता। स्पेंसर ने लिखा है कि "The capacity for being sympathetically affected implies the capacity for having an ideal feeling of some kind aroused by perception of the sounds and motions implying a real feeling of the same kind in another".[६]

अपने निबन्ध का सूत्रपात करते हुए ही शुक्ल जी ने यह बताया कि जब बच्चे को कार्य-कारण-ज्ञान प्रत्यक्ष होने लगता है "तभी दुःख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं।"[७] जब तक वह बच्चा दुःख के बाह्य लक्षणों का सम्बन्ध आन्तरिक अनुभूति के साथ नहीं जोड़ पाता तब तक उसमें करुणा का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। ध्यान देने की बात है कि स्पेंसर ने sympathy के विशिष्ट रूप को ही करुणा कहा है।

स्पेंसर ने करुणा को बड़ा महत्त्वपूर्ण और उपयोगी भाव माना और यह

---

१. *The Emotions and the Will*, page 144.
२. *Mental and Moral Science*, page 245.
३. चिं०, भाग १ पृ० ५२।
४. चिं०, भाग १ पृ० ४५।
५. *The Emotions and the Will*, page 117.
६. *The Principles of Psychology*, vol. II, page 568.
७. चिं०, भाग १ पृ० ४४।

बताया कि इससे आचरण परिष्कृत हो जाता है—"Sympathy with pain produces in conduct modifications of several kinds"[१] शुक्ल जी ने भी इसे उतना ही अधिक महत्त्व दिया और आगे बढ़कर कहा कि "मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्त्विकता का आदि संस्थापक यही मनोविकार है।"[२]

समाज में 'करुणा' और 'क्रोध' का समन्वित उत्कर्ष लोक-कल्याण का विधान करता है, यह तथ्य शुक्ल जी के भाव विवेचन में ही नहीं अपितु उनकी सम्पूर्ण साहित्यिक विचारणा के मूल में विद्यमान है। अपने 'क्रोध' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने उसी क्रोध को चरम कल्याणकारी बताया जो 'करुणा के आज्ञाकारी सेवक के रूप में हमारे सामने आता है।[३] राम के क्रोध में यही विशेषता है कि उसके अन्तर्गत सम्पूर्ण लोक के दुःख का क्षोभ समाया हुआ है।[४] करुणा और क्रोध का उक्त समन्वय मनोवैज्ञानिकों द्वारा भी बार-बार विवेचित है। मैग्डूगल का, यहाँ एक उद्धरण दिया जा रहा है—"The intimate alliance between tender emotion and anger is of great importance for the social life of man, and the right understanding of it is fundamental for a true theory of the moral sentiments, for the anger evoked in this way is the germ of all moral indignation, and on moral indignation justice and the greater part of public law are in the main founded."[५]

लज्जा और ग्लानि :

'चिन्तामणि' का चौथा निबन्ध 'लज्जा और ग्लानि' है। भारतीय रस-शास्त्र में इन दोनों भावों की गणना संचारियों में की गई और पाश्चात्य मनोविज्ञान में भी दोनों मनोभावों का पर्याप्त विवेचन हुआ है। आगे आने वाले समानान्तर उद्धरणों से यह प्रकट होता जायेगा कि शुक्ल जी के विवेचन पर मनोविज्ञान का ही प्रभाव है। हर्बर्ट स्पेंसर ने कहा है कि 'लज्जा' नामक भाव के लिए केवल इतना बोध ही आवश्यक है कि दूसरे लोग हमारे भीतर किसी बुराई या तुच्छता का आभास पाते हैं, यह आवश्यक नहीं कि हमने बुरा काम किया हो तभी लज्जित हों। बुरा काम न करने पर भी केवल उसके साथ नाम जुट जाने मात्र से ही लज्जा का अनुभव होने लगता है। स्पेंसर के निम्नांकित वाक्य में उक्त सभी लक्षण आ गये हैं :

'...Shame, produced by *representation of the contempt of others*, is the same in its essential nature whether this imagined contempt

---

१. *Principles of Psychology*, vol. II, pages 614-15.
२. चिं०, भाग १, पृ० ४६।
३. वही, पृ०, १३७।
४. वही, पृ० १३७।
५. *Social Psychology*, page 62.

"Disgust tends to exclude curiosity about its object and all further knowledge of it."[१] और

"Repugnance tends universally to exclude the perception or thought of its object."[२]

कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी की दी हुई परिभाषा में ये दोनों तत्त्व समाविष्ट हो गये हैं। Disgust की इसी प्रवृत्ति का उल्लेख मैग्डूगल ने भी किया है।[३]

आगे चलकर अपने निबन्ध में जब शुक्ल जी सम्प्रदायों में फैली हुई घृणा का विश्लेषण करने लगते हैं तब Hatred का भाव भी उसमें समाविष्ट हो जाता है। अपने प्रिय कवि गोस्वामी तुलसीदास में भी उन्हें इस सांप्रदायिक घृणा का बीज प्राप्त हुआ है।[४] बेन ने भी लिखा है—

"Men banded together in sects or parties, generally entertain a permanent animosity to their rival sects."[५]

साधु प्रकृति वाले व्यक्तियों में क्रोध जमते-जमते घृणा के रूप में बदल जाता है, किन्तु साधारण जनों में वही वैर का रूप धारण कर लेता है।[६] शुक्ल जी ने इस तथ्य का प्रतिपादन करते समय भी Hatred वाले भाव को ही ग्रहण किया है। मनोवैज्ञानिक भी मानते हैं कि विशिष्ट परिस्थितियों में क्रोध घृणा के रूप में परिवर्तित हो सकता है।[७]

इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि 'घृणा' शब्द के भीतर मनोवैज्ञानिकों द्वारा निरूपित उक्त तीनों भाव समाविष्ट कर लिये गये हैं। किन्तु पश्चिम में इन भावों का जितना विस्तृत निरूपण हुआ उतना शुक्ल जी के छोटे से निबन्ध में नहीं हो सका। शैंड की पुस्तक पर एक सरसरी निगाह डालने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उसने इन भावों की जितनी सूक्ष्म व्याख्या, विभिन्न प्रवृत्तियों को लक्ष्य करते हुए, की है उतनी शुक्ल जी के लेख में नहीं है।

ईर्ष्या :

ईर्ष्या की गणना, असूया नाम से, हमारे यहाँ संचारियों में की गई है, लेकिन शुक्ल जी ने इस भाव का जो विश्लेषण किया उसे देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि शास्त्रीय संचारी भाव की सीमा में ही इसका विवेचन किया गया है। पाश्चात्य

---

१. *Foundations of Character*, page 378.
२ वही, पृ० ४०३।
३. *Social Psychology*, pages 47-48.
४. चिं०, भाग १, पृ० १०१।
५. *Mental and Moral Science*, page 265.
६. चिं०, भाग २, पृ० ६६।
७. *Foundations of Character*, page 58.

मनोविज्ञान में इस भाव के सूचक दो शब्द हैं—Envy तथा Jealousy । किन्तु इन दोनों शब्दों के प्रयोग में मनोवैज्ञानिक भी उतने सजग प्रतीत नहीं होते। ऐसा लगता है जैसे पश्चिम में भी इन दोनों भावों के बीच कोई विभाजक रेखा न स्थापित की जा सकी हो। शुक्ल जी के निबन्ध में भी दोनों का मिश्रण हो गया है।

मैग्डूगल ने Envy को उतना जटिल भाव नहीं माना जितना Jealousy को, लेकिन मूल मनोविकारों में वे इनमें से किसी को नहीं ग्रहण करते।[१] शैंड का भी यही अभिमत है।[२] शुक्ल जी ने प्रारम्भ में ही कहा है कि "ईर्ष्या की उत्पत्ति कई भावों के संयोग से होती है···।"[३]

यदि ईर्ष्या एक संकर भाव है तो प्रश्न यह होगा कि वे कौन-कौन से भाव हैं जिनका संयोग इसे संघटित करता है। मैग्डूगल के मत से क्रोध और नकारात्मक अहंकार (Negative self-feeling) ही Envy को जन्म देते हैं,[४] किन्तु Jealousy के लिए प्रेम भाव का किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहना वे आवश्यक समझते हैं।[५] शैंड ने चार भावों के संयोग से इसकी उत्पत्ति मानी—

(१) भय, (२) क्रोध, (३) आत्मरति और (४) लज्जा।[६] इसमें लज्जा का भाव ऐसा है जो कारण-स्वरूप नहीं होता किन्तु जहाँ कहीं भी ईर्ष्या उत्पन्न होगी वहाँ इसका संचार अवश्य हो जायेगा। देखा जाय, शुक्ल जी किन भावों के संयोग से इसकी उत्पत्ति मानते हैं। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है :—

"ईर्ष्या एक संकर भाव है जिसकी संप्राप्ति आलस्य, अभिमान और नैराश्य के योग से होती है।"[७] आगे कहीं उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि आलस्य आदि का समावेश उस भाव के अंतर्गत कैसे हो जाता है, किन्तु यह प्रत्यक्ष है कि मनोवैज्ञानिकों ने जिन भावों को Self-love और Negative self-feeling कहा, उन्हीं को शुक्ल जी अभिमान और नैराश्य शब्द से अभिहित करते हैं। आलस्य का अस्तित्व उन्होंने इसलिए मान लिया है कि उनके मत से "ईर्ष्या में प्रयत्नोत्पादिनी शक्ति बहुत कम होती है।"[८] किन्तु यह सभी जानते हैं कि आलस्य किसी भाव का नाम नहीं, वह मन की एक स्थिति का वाचक-मात्र है।

---

१. "These facts do not necessitate the assumption that jealousy is a primary emotion..." —*Social Psychology*, page 118.

२. The jealousy appears to be a new blend of old emotions.
—*Foundations of Character*, page 259.

३. चिं०, भाग १, पृ० १०६।

४. *Social Psychology*, page 117.

५. वही, पृ० ११६।

६. *Foundations of Character*, page 258.

७. चिं०, भाग १, पृ० १०६।

८. वही, पृ० १२१।

लेकिन उक्त तीन भावों के संश्लेष से ही ईर्ष्या की उत्पत्ति नहीं हो सकती, ऐसा शुक्ल जी को भी मानना पड़ा है, तभी वे आगे चलकर लिखते हैं—

"ईर्ष्या में क्रोध का भाव किस प्रकार मिला रहता है इसका प्रमाण बराबर मिलता रहता है।"[१] न जाने क्या सोचकर प्रारम्भ में उन्होंने इस भाव को ईर्ष्या के अन्तर्गत नहीं माना था। निबन्ध के अंतिम अनुच्छेद में तो उन्होंने यह भी स्वीकार कर लिया है कि ईर्ष्या के साथ लज्जा का भाव लगा रहता है इसीलिए प्रत्येक मनुष्य उसे छिपाने का प्रयास करता है।[२] शैंड ने भी लज्जा का उल्लेख करते हुए ऐसा ही कहा था।[३]

अब केवल एक ही ऐसा भाव बच रहता है जिसका समावेश ईर्ष्या के अंतर्गत कुछ मनोवैज्ञानिकों ने माना और वह है—भय। शुक्ल जी ने भय अथवा आशंका से उत्पन्न हुई ईर्ष्या को शुद्ध ईर्ष्या नहीं माना क्योंकि उसके अंतर्गत आत्म-रक्षा का कुछ-न-कुछ भाव छिपा रहता है। इसीलिए प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार है कि वह ऐसे लोगों से खुलकर ईर्ष्या करे जो उसकी प्राप्त होने वाली चीजों को हथिया लिया करते हैं। यह ईर्ष्या बुरी नहीं मानी जा सकती।[४] यह ठीक है कि इस प्रकार की ईर्ष्या बुरी नहीं समझी जाती, और इसमें जहाँ तक आत्म-रक्षा की प्रेरणा मिली रहती है वहाँ तक विशुद्ध ईर्ष्या नहीं मानी जा सकती, किन्तु जब ईर्ष्या को भाव (Emotion) न मानकर भाव-कोश (Sentiment) मान लिया गया तब उसके अन्तर्गत जितने भाव आयोजित होंगे वे सभी ईर्ष्या के ही संयोजक माने जायेंगे। ऐसी परिस्थिति में भय अथवा आशंका भी ईर्ष्या के मूल में ही निहित समझी जायेगी जैसा शैंड ने कहा है।[५]

भय :

रस-शास्त्र में भय स्थायी भाव माना गया, उधर मनोवैज्ञानिकों ने भी निरपवाद रूप से इसकी गणना मूल मनोविकारों में की। पाश्चात्य मनोविज्ञान में भय की दो प्रवृत्तियाँ मानी गई हैं—एक भागने की या छिपने की और दूसरी स्तंभित हो जाने की। प्रोफेसर जी० एफ० स्टाउट ने दोनों प्रवृत्तियों का अलग-अलग निरूपण करते हुए कहा है कि भयभीत प्राणी के लिए सुरक्षा की दृष्टि से पहली प्रवृत्ति ही अधिक उपयोगी है, दूसरी का उपयोग तो शिकारी लोग, शिकार के समय, अपने लाभ

---

१. चिं०, भाग १, पृ० ११८।

२. वही, पृ० १२३।

३. The painfulness of this emotion is increased by the fact that it has to be concealed. For there is nothing noble and disinterested about it.

—*Foundations of Character*, page 259.

४. चिं०, भाग १, पृ० ११७।

५. *Foundations of Character*, page 257.

के लिए सदैव ही किया करते हैं।[१] मैग्डूगल, शैंड आदि ने भी इन प्रवृत्तियों का विस्तृत विश्लेषण किया है। शुक्ल जी ने अपने निबन्ध के प्रारम्भ में ही जो परिभाषा दी है उसमें इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों का उल्लेख है।

"किसी आती हुई आपदा की भावना या दुःख के कारण के साक्षात्कार से जो एक प्रकार का आवेगपूर्ण अथवा स्तंभकारक मनोविकार होता है उसी को भय कहते हैं।"[२]

'आवेगपूर्ण' का संबंध भागने या छिपने वाली प्रवृत्ति से है और 'स्तंभ-कारक' तो Paralysing के अत्यन्त निकट है ही। दोनों को 'अथवा' शब्द से जोड़कर लेखक ने यह संकेत दे दिया कि अलग-अलग प्रसंगों में अलग-अलग समयों पर ये प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुआ करती हैं।

भय की उक्त दोनों प्रवृत्तियों के लक्षित हो जाने के बाद यह पता लगाना सहज हो जाता है कि क्रोध और भय में प्रवृत्ति-भेद कहाँ है? शुक्ल जी ने बताया—"क्रोध दुःख के कारण पर प्रभाव डालने के लिये और भय उसकी पहुँच से बाहर होने के लिये प्रेरित करता है।[३] इसी बात को मनोविज्ञान में शास्त्र-पद्धति पर कहा गया।[४] श्री जेम्स सली ने भी दोनों भावों के मूल भेद का अच्छा निरूपण किया है जो इस प्रकरण में द्रष्टव्य है।[५]

शुक्ल जी ने प्रमाणित किया है कि "भय के लिये कारण का निर्दिष्ट होना जरूरी नहीं, इतना भर मालूम होना चाहिये कि दुःख या हानि पहुँचेगी"[६] और भय के वासनात्मक रूप का उल्लेख करते हुए उन्होंने अयत्र कहा है कि बहुत से जानवर

---

१. "Where mental and bodily purturbation are not violent enough to deprive the animal of all power of effective action, it takes to flight or hide itself." —*Manual of Psychology* (1907), page 313.

और

"Seal hunters often make use of the paralysing effect of fright in order to secure their prey." —*Ibid*, page 313.

२. चिं०, भाग १, पृ० १२४।

३. वही, पृ० १२४।

४. "Fear throughout its varieties strives to avoid aggressive behaviour." —*Foundations of Character*, page 217.

और

All varieties of anger tend to accomplish their ends by some kind of aggressive behaviour". —*Foundations of Character*, page 250.

५. *The Human Mind*, vol. II (1892), page 94.

६. चिं०, भाग १, पृ० १२४।

कोई धमाके की आवाज़ या खटाका सुनते ही भाग खड़े होते हैं।[१] भय के विषय में इन दोनों तथ्यों का संकेत प्रोफ़ेसर स्टाउट ने भी दिया है।[२]

भय का भाव असभ्य जातियों में बहुत होता है, ऐसा पश्चिम के अनेक समाज-शास्त्रियों ने कहा; मनोवैज्ञानिकों ने भी भगवद्भक्ति के मूल उत्स का अनुसन्धान करते-करते उसमें भय का अनिवार्य अस्तित्व स्वीकार किया। अलैग्ज़ैंडर बेन और मैग्डूगल आदि के भक्ति-विवेचन में हम यह बात पहले ही दिखा चुके हैं। शुक्ल जी ने भी एक अनुच्छेद में इस तथ्य का विश्लेषण करते हुए निष्कर्ष निकाला कि "अतिभय और भयकारक का सम्मान असभ्यता के लक्षण हैं।"[३]

जिनके मन में भय का भाव अक्सर उदित होने लगता है वे कायर कहलाते हैं। शुक्ल जी ने बताया "भय जब स्वभावगत हो जाता है तब कायरता या भीरुता कहलाता है।"[४] मनोविज्ञान की जटिल भाषा में इस बात को शास्त्रीय ढंग पर व्यक्त किया गया।[५]

इस प्रकार सिद्ध है कि शुक्ल जी द्वारा किया गया भय का स्वरूप-विवेचन और प्रवृत्ति-निरूपण बहुत कुछ पाश्चात्य मनोविज्ञान पर ही आधारित है।

क्रोध :

रौद्र रस के स्थायी के रूप में क्रोध की गणना की गई है। मनोवैज्ञानिकों ने इस भाव का अभ्युदय उसी अवस्था में माना है जब व्यक्ति को यह ज्ञान हो जाय कि दुःख जानबूझ कर पहुँचाया गया है। दूसरी बात उन्होंने यह भी बताई है कि बहुत छोटे बच्चे में यह भाव केवल शारीरिक दुःख के रूप में ही व्यक्त होता है, सच्चे क्रोध के रूप में नहीं।[६] अपने निबन्ध के प्रारम्भ में ही श्री जेम्स सली की भाँति शुक्ल जी ने लिखा है—

---

१. रस-मीमांसा, पृ० १६२।

२. The more suddenness or intensity or the combined suddenness and intensity, of an impression are sufficient to cause fear. A loud noise for which we are unprepared startles us with momentary alarm".—*Manual of Psychology*, page 317.

३. चि०, भाग १, पृ० १२७।

४. वही, पृ० १२५।

५. "Cowardice is an innate quality of the egoistic varieties of fear, of their emotion and of their instincts and behaviour.....".
—*Foundations of Character*, page 265.

६. "By anger is here meant the peculiar emotive reaction called forth by the conscious suffering or injury or infliction of pain".
—*The Human Mind*, vol. II, page 93.

"Anger shows itself in the case of the child in close connexion with physical pain. It becomes differentiated from mere physical suffering by the vague consciousness of other's action, *e.g.* when forced by the nurse to take its bath, or to be dressed." वही, पृ० ९५।

"क्रोध दुःख के चेतन कारण के साक्षात्कार या अनुमान से उत्पन्न होता है। साक्षात्कार के समय दःख और उसके कारण के सम्बन्ध का परिज्ञान आवश्यक है। तीन-चार महीने के बच्चे को कोई हाथ उठाकर मार दे तो उसने हाथ उठाते तो देखा है पर अपनी पीड़ा और उस हाथ उठाने से क्या सम्बन्ध है, वह यह नहीं जानता है। अतः वह केवल रोकर अपना दुःख मात्र प्रकट कर देता है।"[1]

चिन्तामणि तथा अन्य पुस्तकों में भी जहाँ कहीं प्रसंग आया है वहाँ शुक्ल जी ने क्रोध के कल्याणकर स्वरूप की महत्ता आवेगपूर्ण शब्दावली में प्रतिपादित की है। जैसा करुणा के ऊपर विचार करते हुए हम देख चुके हैं, बहेलिये के ऊपर बाल्मीकि का क्रोध और रावण के ऊपर राम का क्रोध वे इसीलिये सात्त्विक और आदरणीय ठहराते हैं कि उसमें आलम्बन के साथ उनका निजी संपर्क उतना नहीं है जितनी पर-कल्याण की भावना या पर दुःख-कातरता। टालस्टाय की आध्यात्मिकता का विरोध भी वे इसीलिए करते हैं कि उसमें अत्याचार या दुराचार को दमित करने वाले लोकोपयोगी क्रोध का नितान्त अभाव है। वे उस सम्पूर्ण मानव जीवन को रसहीन और व्यर्थ समझते हैं जिसमें अत्याचारी के क्रूर कर्म को देखकर क्रोध से तिलमिलाने की शक्ति नहीं है। क्रोध के इस लोकोपयोगी निर्विशेष रूप का विवेचन श्री जेम्स सली ने सुन्दर ढंग से किया है। उन्होंने इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है कि जहाँ हम व्यक्ति-बद्ध घेरे से बाहर जाकर लोक-रक्षा या समाज-रक्षा में तत्पर होते हैं वहीं हमारे क्रोध का सर्वोत्कृष्ट रूप दिखाई पड़ता है।[2] मनोवैज्ञानिकों में इस तथ्य के अनुसन्धान की भी प्रवृत्ति पाई जाती है कि ऐसे निर्विशेष या निरपेक्ष (Disinterested Anger) क्रोध का कारण क्या हो सकता है। बहुत ऊहापोह के बाद मैग्डूगल आदि ने इसका सम्बन्ध Paternal instinct (अपत्य प्रेम की मूल प्रवृत्ति) तथा कोमल भावों से जोड़ा है।[3] 'करुणा' के प्रकरण में हम देख चुके हैं कि शुक्ल जी इसका सम्बन्ध करुणा के साथ जोड़कर ही सन्तोष कर लेते हैं और कहते हैं कि "क्रोधोत्तेजक दुःख जितना ही अपने सम्पर्क से दूर होगा उतना ही लोक में क्रोध का स्वरूप सुन्दर और मनोहर दिखाई देगा।"[4]

---

१. चिं०, भाग १, पृ० १३१।

२. "The feeling of anger attains its highest development in the state of moral indignation, in which the sense of personal injury is lost in the feeling of our solidarity with community."

—*The Human Mind*, vol. II, page 96.

और

"On the other hand so far anger is sympathetically extended, so as to become a disposition to resent injury to others, the family or the community it acquires a new teleological significance as race-preserving."

—*The Human Mind*, vol. II, page 97.

३. *Social Psychology*, page 62.

४. चिं०, भाग १, पृ० १३६।

क्रोध का प्रारम्भिक लक्ष्य बहुधा यही होता है कि दुःख के कारण में भय उत्पन्न किया जाय, यह नहीं कि उसे पीड़ा ही पहुँचाई जाय और यदि भय का संचार करने में हम सफल हो जाते हैं तो हमें एक प्रकार का सन्तोष प्राप्त होता है। अलैग्ज़ैण्डर बेन ने इस तथ्य का प्रतिपादन अपनी पुस्तक में किया है।[1] शुक्ल जी के निबन्ध के निम्नांकित वाक्य इसी के निकट हैं:—

"क्रोध की उग्र चेष्टाओं का लक्ष्य हानि या पीड़ा पहुँचाने के पहले आलम्बन में भय का संचार करना रहता है।"[2]

और

"यदि क्रोध न हो तो मनुष्य दूसरों द्वारा पहुँचाए जाने वाले बहुत से कष्टों की चिर-निवृत्ति का उपाय ही न कर सके।"[3]

प्रतिकार की भावना को कुछ मनोवैज्ञानिकों ने सजग क्रोध कहा जिसमें व्यक्ति सारे परिणाम पर विचार करके तब कार्य में प्रवृत्त होता है। विशुद्ध प्रतिकार में यह चिन्ता नहीं होती कि भविष्य में इस व्यक्ति से दुःख पहुँचेगा अथवा नहीं। पहले दुःख पहुँच चुका है तो प्रतिकार का भाव जगा रहेगा। शैंड ने यह बताया कि, आलम्बन चाहे लाखों बार कसम खाकर इस बात का विश्वास दिलाये कि वह भविष्य में कभी दुःखदायी नहीं बनेगा किन्तु प्रतिकार चाहने वाला तब तक तृप्त नहीं हो सकता जब तक वह दण्ड न दे ले।[4] इसी तथ्य का विवरण शुक्ल जी के निम्नांकित वाक्य में है :—

'जिससे एक बार दुःख पहुँचा, पर उसके दुहराये जाने की सम्भावना भी नहीं है उसको जो कष्ट पहुँचाया जाता है वह प्रतिकार मात्र है, उसमें रक्षा की भावना कुछ भी नहीं रहती।"[5]

क्रोध जब बहुत दिनों तक जमा रह जाता है तब उसे वैर कहते हैं, उस वैर को शुक्ल जी क्रोध की स्थायी दशा कहते हैं और यह मानते हैं कि 'वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।'[6] प्राचीन मनोवैज्ञानिकों ने भी क्रोध की उक्त स्थायी अवस्था पर विचार किया था। अलैग्ज़ैंडर बेन ने भी क्रोध के हल्के जमे हुए रूप को Hatred

---

१. There is a satisfaction in preventing further pain to ourselves by inducing fear of us, or of consequences, in any one manifesting harmful purposes.
—*Mental and Moral Science*, page 262 (1884)

२ चिं०, भाग १, पृ० १३३।

३. वही, पृ० १३०।

४. The impulse of revenge would not be satisfied by the most sincere promise not to offer further opposition, without first administering the requisite punishment.
—*The Foundations of Character*, page 243

५. चिं०, भाग १, पृ० १३२।

६. वही, पृ० १३८।

(उग्र घृणा), उग्रतर रूप को Antipathy (तीव्र वैपरीत्य) और उग्रतम रूप को Hostility (शत्रुता) माना।[१] बेन महोदय ने क्रोध के जिस जमे हुए रूप को घृणा कहा है उसका प्रवेश शत्रुता या वैर भाव में कहाँ तक है इसका ठीक-ठीक निश्चय करना कठिन है, लेकिन यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ऐसा वैर जिसमें घृणा का किंचित् लेश भी न हो, असम्भव है। इसीलिए शुक्ल जी को भी कहना पड़ा कि "आजकल की बनावटी सभ्यता या शिष्टता में घृणा शब्द वैर या क्रोध को छिपाने का भी काम दे जाता है।"[२]

अन्य मनोविकार :

इसके अतिरिक्त मनोविकारों से सम्बन्ध रखने वाले उनके संक्षिप्त विचार 'रस-मीमांसा' तथा दूसरे ग्रन्थों में भी मिलते हैं। उनमें कुछ का विवरण आगे दिया जा रहा है।

'आश्चर्य' का भाव सुखात्मक है अथवा दुःखात्मक इस पर विचार करते हुए शुक्ल जी ने सिद्ध किया है कि साहित्यशास्त्रियों ने हर्ष को अद्भुत का संचारी बना कर उसका सुखात्मक होना स्वीकार कर लिया है और पाश्चात्य मनोविज्ञान भी इसी मत को मानता है।[३] उन्होंने शैंड का उदाहरण भी दिया है। आगे चलकर जब वे आश्चर्य के उदासीन होने का विचार करने लगे हैं तब भी शैंड के ही विवेचन से सहायता लेते जान पड़ते हैं, यद्यपि इस प्रसंग में उन्होंने उसका नाम नहीं लिया है। निम्नांकित वाक्यों में जो आश्चर्यजनक साम्य है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती—

"यदि उसमें (आश्चर्य में) जिज्ञासा का भाव प्रबल होता है तो आश्चर्य की चमत्कृति, जिसमें बुद्धि की क्रिया का एक दम विराम रहता है, बहुत थोड़ी देर ठहर पाती है। बात यह है कि जिज्ञासा के अग्रसर हो जाने के कारण बुद्धि तुरन्त कारण के अन्वेषण में तत्पर हो जाती है और आश्चर्य के मूल स्वरूप का अंत हो जाता है।[४]

"In proportion as the impulse of curiosity in wonder is stronger than the tendency of joy (being, indeed, irrepressible in the greatest minds), the first delight of wonder gives place to active investigation of object."[५]

---

१. "The affection grounded on anger is called Hatred.....The formidable manifestation named Antipathy is stronger than Hatred..... The state of.....Hostility.....brings before us the irascible feeling in its highest activity." —*Mental and Moral Science*, page 256.

२. चिं०, भाग १, पृ० ९९।

३. रसमीमांसा, पृ० १९४।

४. वही, पृ० १९५।

५. *Foundations of Character*, page 453.

'आश्चर्य' के संचारी के रूप में शुक्ल जी ने 'चकपकाहट' को रखा है और रावण के निम्नांकित कथन में उसका आभास पाया है।[१]

बाँधे बन निधि नीर निधि ? जलधि ? सिन्धु ? बारीस ?
सत्य तोय निधि ? कपती ? उदधि ? पयोधि ? नदीस ?

चकपकाहट के इस भाव का सर्वांगपूर्ण विवेचन शैंड ने अपने ग्रन्थ में 'सर-प्राइज़' शीर्षक से किया है। उन्होंने भी उसकी बाह्याभिव्यक्ति या अनुभाव-शृंखला उक्त रीति से ही मानी है।

उनका कहना है कि 'सरप्राइज़' के अवसर पर मुख से जो उद्गार फूट पड़ते हैं उनका स्वरूप बहुत कुछ वैसा ही होता है जैसे यह कथन—

Oh ! Ah ! Good gracious !·····[२]

और यह चकपकाहट का भाव जितना ही तीव्र होता है उतना ही मनुष्य स्तम्भित और क्रिया-हीन होता चला जायेगा। रावण के कथन में इसी भाव का दुःखात्मक पक्ष व्यक्त हुआ है।

शैंड ने गर्व नामक (संचारी) भाव को Self-love (ममत्व) नामक भावचक्र के अंतर्गत रखा है[३] किन्तु शुक्ल जी के अनुसार गर्व या अभिमान को शील-दशा के ही अंतर्गत लिया जा सकता है, भाव-दशा अथवा स्थायी-दशा के अंतर्गत नहीं।[४] शैंड ने तो यह भी माना है कि गर्व केवल भाव (Emotion) नहीं है अपितु स्वयं एक भाव-चक्र (Emotional system) है:—

"Not merely emotions but even sentiments as pride and vanity[५]...

अब विचारणीय बात यह है कि शैंड इस भाव अथवा भाव-चक्र को शील दशा के रूप में ग्रहण करता है अथवा नहीं। शैंड के ग्रंथ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यही है कि मनोगत भावों की योजना के आधार पर ही मनुष्य के शील या आचरण का निर्माण होता है। उसने कहा है कि—"We have now studied in outlines the two chief systems of character, the lesser systems of the emotions and the greater systems of sentiments."

मूल या स्थायी भाव आचरण के दो प्रधान संयोजकों में से हैं। इसका अर्थ हुआ कि भाव ही विभिन्न प्रकार से संयुक्त या विकसित होकर मानव आचरण के अंग बन जाते हैं। अतः किसी भी भाव का आचरण या शील-दशा को पहुंच जाना सर्वथा स्वाभाविक है। ऐसा बहुधा देखा जाता है कि क्रोध और भय हमारे स्वभाव के अंग बन जाते

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १०८।
२. *Foundations of Character*, page 450.
३. वही, पृष्ठ ५७।
४. र० मी०, पृ० २०८।
५. *Foundations of Character*, page 57.

हैं। उसी प्रकार विकास को प्राप्त होते-होते गर्व भी हमारे स्वभाव का अंग बन कर शील-दशा के अंतर्गत आ जायेगा। गर्व का कारण उतना विषयगत नहीं होता जितना आश्रय-गत। किन्तु ऐसा बहुधा देखा जाता है कि कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के समक्ष हमारा गर्व या अभिमान व्यक्त हो पाता है और दूसरों के समक्ष नहीं। अतः शुक्ल जी का यह कहना ठीक नहीं जंचता कि "ऐसा शायद ही होता हो कि कोई किसी एक ही व्यक्ति से समय-समय पर शेखी किया करता हो।"[1] विद्वानों के बीच में कुछ भी न बोल सकने वाला व्यक्ति गँवारों के बीच में पहुँच कर गर्व या अभिमान का अनुभव अवश्य करता है। 'अन्धों में काना ही राजा होता है' वाली कहावत उक्त तथ्य की ही पुष्टि करती है।

निष्कर्ष :

शुक्ल जी द्वारा किये गये भाव-विवेचन को ऊपर दिये गये तुलनात्मक अध्ययन के साथ मिला कर देखने से नीचे लिखी बातें स्पष्ट हो जाती हैं:—

(१) इस विवेचन के ऊपर बीसवीं शती के प्रारम्भ तक के पाश्चात्य मनोविज्ञान का बड़ा गहरा प्रभाव है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस दिशा में जो अभूतपूर्व कार्य योरोपीय देशों में हुआ उसका प्रभाव लगभग विश्व-व्यापी था। शुक्ल जी भी उससे बच नहीं सकते थे। मनोवैज्ञानिकों के सूत्रों को आधार रूप में ग्रहण करके वे भावों का विवेचन सामान्य या लोकप्रिय पद्धति पर करते चले गये। इसलिए विद्वानों का ऐसा निष्कर्ष कि—

"इनमें (निबन्धों में) न तो शुक्ल जी ने रीतिशास्त्र के भाव-विवेचन को आधार बनाया है, न पच्छिम के मनोविज्ञान को। उनकी स्थापनायें मौलिक हैं और न केवल साहित्यशास्त्र को वरन् मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र को भी महत्त्वपूर्ण देन हैं।"[2]

सत्य नहीं प्रमाणित होता। ऊपर हमने देखा है कि लगभग सभी मनोविकारों के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने मुख्यतया वही धारणायें व्यक्त की हैं जो उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में या बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पश्चिम में व्यक्त की गई थीं। इसलिए उनकी तमाम स्थापनाओं को मौलिक कहना और मनोविज्ञान तथा समाज-शास्त्र को महत्त्वपूर्ण देन बताना भ्रामक जान पड़ता है।

(२) विवेचन करते समय शुक्ल जी की दृष्टि लोक-व्यवहार और उपयोगिता, सामाजिकता आदि पर ही केन्द्रित रही है, इसलिये जटिल सिद्धान्तों के गूढ़ रहस्यों और भावों के अंतर्वर्ती मूल स्वरूपों तक उनकी वैसी पहुँच सब जगह नहीं दिखाई पड़ती जैसी योरोपीय मनोवैज्ञानिकों की। स्थान-स्थान पर वे इस ओर

---

१. र० मी०, पृष्ठ २०८।

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० २३३।

संकेत करना नहीं भूलते कि अमुक भाव नाशकारी है, अतः उसका विरोध होना चाहिए और अमुक भाव लाभकारी है अतः अभ्यास द्वारा उसका विकास करना चाहिए। ऐसे वाक्य बीच-बीच में आया ही करते हैं—

"यह जानकर कि घृणा प्रेष्य मनोविकारों में है लोगों को बहुत समझ-बूझ कर उसे स्थान देना और प्रकट करना चाहिए।"[1]

व्यावहारिकता पर दृष्टि रखने के कारण ही लेखक ने भावों के अवांतर भेदोपभेदों के निरूपण से बचने का प्रयास किया है। जटिल भावों के वे रूप जो सामान्यतया लोगों में नहीं पाये जाते प्रायः छोड़ दिये गये हैं, या कहीं-कहीं उनका उल्लेख मात्र कर दिया गया है। भय, क्रोध, करुणा आदि की जिन बहु-संख्यक प्रवृत्तियों और स्वरूपों का उल्लेख स्पेंसर, बेन, स्टाउट और शैंड आदि मनोवैज्ञानिकों ने किया है उन सबका विवेचन तो दूर, उल्लेख भी शुक्ल जी के निबन्धों में नहीं हुआ। कदाचित् उनका उद्देश्य कुछ और था।

(३) इस विवेचन में साहित्य-दृष्टि या काव्य-दृष्टि का विनियोग सर्वत्र मिलता है। कवियों की भाव-सम्पत्ति का परीक्षण करते समय, शुक्ल जी की रस-दृष्टि जिन तथ्यों का आकलन कर सकी उनमें से अधिकांश अपने सैद्धान्तिक रूप में यहाँ विद्यमान हैं। भावों के सम्बन्ध में जो धारणायें यहाँ व्यक्त की गई हैं, उन्हीं का प्रयोग उनकी व्यावहारिक आलोचनाओं में दिखाई पड़ता है। इन निबन्धों को देखने से प्रतीत होता है कि लेखक का ध्यान काव्य-सम्बन्धी प्रश्नों की ओर बराबर लगा हुआ है और कोई अवसर मिलने पर उदाहरण काव्य-क्षेत्र से ही चुन लिया जाता है। साहित्यिक-रुचि के साथ-साथ इसका एक कारण यह भी था कि भावों के जितने सुन्दर उदाहरण साहित्य में और विशेषकर काव्य में उपलब्ध हो सकते थे उतने अन्यत्र नहीं। साहित्य से उदाहरण चुनने की लगभग ऐसी ही उत्कट प्रवृत्ति शैंड में भी दिखाई पड़ती है। 'प्रेम' भाव की संश्लिष्टता को प्रमाणित करने के लिए उनकी पुस्तक[2] में कई कवितायें उद्धृत कर दी गई हैं। अन्य प्रसंगों में भी काव्य और नाटकों से उदाहरण लिए गए हैं। कदाचित् इसलिए शुक्ल जी के प्रिय मनोवैज्ञानिकों में सबसे ऊँचा स्थान शैंड का है। दोनों आचार्यों के निरूपण में मुख्य भेद यह है कि जहाँ काव्य-सम्बन्धी उद्धरणों का आश्रय लेकर शैंड अपनी मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों तक पहुँचते हैं वहाँ शुक्ल जी उन्हें साहित्यिक संदर्भ में बिठाकर तृप्ति-लाभ करते हैं।

(४) शुक्ल जी की प्रवृत्ति कविताओं से उदाहरण चुनने ही की नहीं है अपितु अनेक स्थलों पर भाव-विवेचन को काव्य-शास्त्र से जोड़ देने की भी है। वे पाश्चात्य मनोविज्ञान के निष्कर्षों एवं उपपत्तियों को भारतीय रस-शास्त्र की परिभाषा

---

१. चिं०, भाग १, पृ० १०४।

२. *Foundations of Character*, pages 51-53.

में ढालने का प्रयास करते रहते हैं। इसलिए काव्य-शास्त्र की प्राचीन शब्दावली इस प्रसंग में बार-बार सामने आया करती है—कहीं इस बात पर विचार होता है कि 'उत्साह' का आलम्बन कौन है[1] और कहीं इस पर कि स्थायी-संचारी भावों के विवेचन का मनोवैज्ञानिक आधार क्या है।[2]

(५) उन्होंने इस भाव-विवेचन के लिए जो निबन्ध लिखे हैं उन्हें हम विशुद्ध साहित्यिक निबन्धों के रूप में ही ग्रहण कर सकते हैं—मनःशास्त्र के रूप में नहीं। जैसा ऊपर दिए हुए अनेक उद्धरणों से प्रमाणित है, इनकी सामग्री अधिकतर मनोविज्ञान के क्षेत्र से ली गई है और उसे साहित्य-रस से सींच कर निबन्धों के रूप में ढाल दिया गया है। इसलिए, यदि हम, विषय के सम्पूर्ण विस्तार का श्रेय आचार्य शुक्ल को ही दे बैठें, तो केवल पाश्चात्य मनोविज्ञान के साथ ही नहीं बल्कि उनके साथ भी अन्याय होगा। हिन्दी साहित्यिकों के बीच, इन निबन्धों के प्रकाशन के उपरांत से ही यह धारणा प्रचलित रही है कि इनमें आया हुआ भाव-विवेचन सर्वथा मौलिक और शुक्ल जी की अपनी उद्भावनाओं का परिणाम है।[3] किसी ने बहुत अधिक कहा तो इतना ही बताया कि इन निबन्धों का भाव-विवेचन अधिक गहरा और पूर्ण नहीं।[4] लेकिन किसी ने मनोविज्ञान के उस स्रोत को ढूँढ़ने का प्रयास नहीं किया जो शुक्ल जी को बाल्यावस्था से ही प्रभावित करता चला आ रहा था और जिसका अध्ययन-मनन उन्होंने छात्रावस्था में ही प्रारम्भ कर दिया था। उनकी प्रारम्भिक जीवनी के प्रकरण में, श्री शिवनाथ ने, पंडित हरिश्चन्द्र शुक्ल (शुक्ल जी के अनुज) के साक्ष्य पर यह बताया है कि हर्बर्ट स्पेंसर की 'साइकॉलोजी' नामक पुस्तक में प्रतिदिन घंटों तक डूबे रहना आचार्य शुक्ल का एक व्यसन था और वह भी उस समय जब वे केवल नवीं कक्षा के विद्यार्थी थे।[5] यह असम्भव है कि शुक्ल जी के ऊपर स्पेंसर के उस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रभाव न पड़ा हो, इसके साथ-साथ यह भी विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता कि वे मनोविज्ञान के इसी ग्रन्थ तक अपने अध्ययन को सीमित कर गये हों। आगे चलकर उन्होंने शैंड का उल्लेख अनेक बार स्वयं ही किया है। इससे सहज में ही अनुमान लगा लिया जा सकता है कि उन्होंने स्पेंसर और शैंड के समकालिक और उनके बीच में पड़ने वाले मनोवैज्ञानिकों का भी अध्ययन अवश्य किया होगा। और यह मानी हुई बात है कि यदि वे मनोविज्ञान के ऊपर कोई पुस्तक लिखते तो इन स्रोतों का उल्लेख स्वयं ही कर देते, किन्तु

---

१. चिं०, भाग १, पृ० १०-११।
२. रस-मीमांसा, पृ० २०२।
३. 'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल' नामक ग्रन्थ में बाबू गुलाबराय और आचार्य विनयमोहन शर्मा के लेख।
४. हिन्दुस्तानी एकेडमी—१९४६, श्री लालसिंह का लेख।
५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ९।

उनका उद्‌श्य साहित्यिक निबन्ध प्रस्तुत करना था जिसकी विषय-सामग्री मनोविज्ञान ही नहीं किसी भी विज्ञान से ली जा सकती है। ये निबन्ध वैसे ही हैं जैसे कोई विज्ञान के किसी गूढ़ विषय पर लोक-प्रिय (Popular) ढंग से लिखे। ऐसा करते समय विषय का व्यावहारिक जीवन के साथ संयोजन ही मुख्य रहता है, उस ज्ञान-विशेष के सम्बन्ध में मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना नहीं। शुक्ल जी ने अपने निबन्धों के लिए मनोविकारों का विषय ही क्यों चुना, इसका कारण अत्यन्त स्पष्ट है—वे अपनी साहित्य-समालोचना के आधारभूत तत्त्व 'रस' और उसके मूल रूप 'भाव' को अधिक गहराई तक नापने का प्रयास कर रहे थे और नये ज्ञान के आलोक में प्राचीन सिद्धान्तों का परीक्षण भी। ये दोनों उद्‌देश्य उनके निवन्धों से ही प्रकट हो जाते हैं।

'भाव-विवेचन' का कुछ विस्तृत परिचय देने की आवश्यकता इसलिये हुई कि आचार्य शुक्ल के आलोचनागत मान-दंड का निर्माण इन्हीं के आधार पर हुआ किंतु आलोचकों ने इस विवेचन की प्रायः उपेक्षा ही की है। उनकी भाव सम्बन्धी धारणाओं को ठीक-ठीक हृदयंगम कर लेने के बाद हम न केवल उनकी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचनाओं का ही मर्म समझ सकते हैं अपितु यह भी बता सकते हैं कि साहित्य-शास्त्र के किसी अन्य प्रश्न के ऊपर शुक्ल जी की क्या सम्मति हो सकती थी। दूसरे शब्दों में, हम उनके आलोचक व्यक्तित्व का ठीक-ठीक रूप अंकित कर सकते हैं।

शुक्ल जी के भाव-विवेचन का निरूपण करके हम ने देख लिया कि भाव-योग के पूर्ण सिद्धान्त तक वे क्योंकर पहुंचे और उसका मूल स्रोत कहाँ है? अब हम उन साहित्यिक मान्यताओं के परिचय और विश्लेषण द्वारा एक ओर तो उनके व्यापक आलोचना-शास्त्र को हृदयंगम करने का प्रयास करेंगे और दूसरी ओर उन मान्यताओं को भाव-योग की शाखा-प्रशाखाओं के रूप में निरूपित करेंगे। इससे इस केन्द्रवर्त्ती सिद्धान्त की प्रतिष्ठा स्वयं हो जायेगी। प्रसंगानुसार शुक्ल जी की उद्‌भावनाओं पर होने वाले विवाद का उल्लेख भी हम करते चलेंगे।

साहित्य

स्वरूप :

साहित्य को शुक्ल जी जनता की चित्त-वृत्ति का प्रतिबिम्ब मानते हैं और यह स्वीकार करके चलते हैं कि उक्त चित्त-वृत्ति अखण्ड या शाश्वत नहीं, अपितु परिवर्तनशील होती है। चित्त-वृत्ति का सम्बन्ध मनोमय कोश या भाव-जगत् से है। साहित्य में किसी देश के भाव-जगत् का रूप ही दिखाई पड़ता है। अतः बाह्य-जगत् के परिवर्तनों के फलस्वरूप, उन्हीं के समानान्तर, इनमें परिवर्तन होता चलता है। इस प्रकार शुक्ल जी साहित्य के स्वरूप को बाह्य-जगत् से पूर्ण मुक्त या स्वतन्त्र नहीं

मानते। "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्त-वृत्ति का सचित्र प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्त-वृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।"[1]

व्याप्ति :

'साहित्य' शब्द की व्याप्ति कहाँ तक है, इस तथ्य पर ध्यान रखते हुए उन्होंने कहा है—

"साहित्य के अन्तर्गत वह सारा वाङ्मय लिया जा सकता है जिसमें अर्थ-बोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो तथा जिसमें ऐसे वाङ्मय की विचारात्मक व्याख्या हो।"[2]

साहित्य की इस निर्धारित चौहद्दी के भीतर न तो "ज्ञान-राशि का संचित भंडार" प्रवेश पा सकता है और न साहित्य के अन्तर्गत मानी या समझी जाने वाली कोई वस्तु ही समाविष्ट होने से बच सकती है। अतः यह सीमा अत्यन्त ठोस और वैज्ञानिक बन गई है।

उद्देश्य :

उद्देश्य को लक्ष्य करके उन्होंने निम्नांकित परिभाषा प्रस्तुत की है—

"साहित्य किसी जाति की रक्षित वाणी की वह अखण्ड परम्परा है जो उसके जीवन के स्वतन्त्र स्वरूप की रक्षा करती हुई जगत् की गति के अनुरूप उत्तरोत्तर उसका अन्तर्विकास करती चलती है।"[3]

इस प्रकार साहित्य के दो कार्य ठहरते हैं। एक तो है मानव जीवन के स्वतंत्र स्वरूप की रक्षा या मनुष्यत्व की रक्षा और दूसरा है बाह्य जगत् की सापेक्षता में मानव के अन्तर्जगत् का विकास, यानी मनुष्य की चित्त-वृत्तियों का शेष सृष्टि के साथ सामंजस्य स्थापित करना।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इन उद्देश्यों की व्यापकता बहुत दूर तक है, और भारतीय काव्य-शास्त्र में किसी-न-किसी रूप में ये स्वीकृत किये गये हैं। रसवादियों के आनन्द के अन्तर्गत ही यह उपयोगितावादी दृष्टि भी समाविष्ट है।

साहित्य के स्वरूप, उद्देश्य और व्याप्ति आदि के सम्बन्ध में शुक्ल जी की उक्त मान्यताओं को देख लेने के उपरान्त, उसके विभिन्न अंगों के सम्बन्ध में उनकी धारणा का अन्वेषण करने के लिये एक साधारण-सा वर्गीकरण सुविधाजनक होगा। कविता सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों और प्रश्नों का ही विस्तृत विवेचन उनकी आलोचनाओं में उपलब्ध होता है, साहित्य के अन्य अंगों पर उनके विचार अत्यन्त अल्प तथा प्रासंगिक हैं। अतः काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं का स्वरूप समझ लेने के बाद

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १।
२. चिं०, भाग २, पृ० १७४।
३. हिन्दुस्तानी का उद्गम, पृ० १।

संक्षेप में नाटक, उपन्यास, कहानी, समीक्षा आदि विधाओं से संबद्ध विचारों का देखा जा सकता है।

काव्य (स्वरूप) :

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की ऐसी मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।"[1]

इसका तात्पर्य यह है कि शब्दों की वह योजना ही काव्य के अन्तर्गत ली जा सकती है जो हृदय में भाव को जगा करके उसे रस-दशा की ओर अग्रसर करे। 'हृदय की मुक्तावस्था' को ज्ञानियों के 'मोक्ष' से अलग समझना चाहिए। इसका तात्पर्य केवल इतना है कि हृदय व्यक्ति-बद्ध दशा से ऊपर लोक-व्यापी दशा तक पहुँच जाय। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति के हृदय का लोक-हृदय में लीन हो जाना ही 'मोक्ष' प्राप्त कर लेना है। कविता पढ़ते या नाटक देखते समय जब हम विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त करने लगते हैं तब व्यक्तिगत योग-क्षेम की भावना हमसे दूर चली जाती है, हमारा हृदय सम्पूर्ण जन-समुदाय के हृदय के साथ एकाकार होने लगता है। सब के हृदय में लगभग एक ही भाव उद्बुद्ध हो जाता है। ऐसे अवसर पर जिस भाव-दशा में हम पहुँचे रहते हैं, उसे ही शुक्ल जी ने हृदय की मुक्तावस्था कहा। दूसरे स्थान पर उन्होंने यह भी बताया कि हृदय की ऐसी स्थिति जीवन की प्रत्यक्ष घटनाओं के बीच भी पाई जाती है। जब किसी लोकोपकारी व्यक्ति को अपने कर्म में संलग्न देखकर हम उसके प्रति श्रद्धा, कृतज्ञता आदि कोमल भावों से भर उठते हैं, अथवा किसी अत्याचारी को किसी दीन पर अत्याचार करते देख क्षुद्र संकुचित स्वार्थों से ऊपर उठते हुए क्रोध से तिलमिलाने लगते हैं तब भी हमारा हृदय 'मुक्तावस्था' में पहुँच जाता है, किन्तु यहाँ साधन रूप में वाणी-विधान न होने के कारण कविता नहीं होती। यह बात ध्यान देने की है कि शुक्ल जी शब्द-विधान अर्थात् उक्ति को ही काव्य कहते हैं। उन्होंने अन्यत्र भी कहा है—

"जो उक्ति हृदय में कोई भाव जाग्रत कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक व्यंजना में लीन कर दे, वह तो है काव्य।" इससे स्पष्ट है कि भाव जगाने की कुछ-न-कुछ क्षमता काव्य में अवश्य होनी चाहिये।

प्रयोजन :

'रसवाद' के सिद्धान्त में आस्था रखते हुए भी आचार्य शुक्ल आनन्द को ही काव्य का लक्ष्य या प्रयोजन नहीं मानते, उनकी दृष्टि में काव्य का लक्ष्य उससे कुछ और ऊँचा है। इस आस्वाद-पक्ष को ही काव्य का लक्ष्य मान बैठना वे अनुचित

---

१. चिं०, भाग १—"कविता क्या है", पृ० १४१।

मानते हैं । 'आनन्दवादियों' के सिद्धान्त से उन्होंने अपना मतभेद इस प्रकार प्रकट किया है—

"कविता की इसी रमाने वाली शक्ति को देख कर जगन्नाथ पंडितराज ने रमणीयता का पल्ला पकड़ा और उसे काव्य का साध्य स्थिर किया तथा योरोपीय समीक्षकों ने 'आनन्द' को काव्य का चरम लक्ष्य ठहराया । इस प्रकार मार्ग को ही अंतिम गन्तव्य-स्थल मान लेने के कारण बड़ा गड़बड़झाला हुआ ।"[१]

काव्यानन्द भी उसके लक्ष्य या उद्देश्य का साधन मात्र है । वह उद्देश्य क्या है ?

शुक्ल जी ने बताया —

"हृदय पर नित्य प्रभाव रखने वाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तः प्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है ।"[२]

इस प्रकार काव्य का प्रयोजन रसानुभूति मात्र से आगे बढ़ जाता है । वह हमारे अन्तर्जगत् का विस्तार करके निजेतर सृष्टि के साथ उसे संबद्ध कर देता है । दूसरे शब्दों में हमारे हृदय का लोक-हृदय के साथ तादात्म्य करा देता है ।

शुक्ल जी काव्य को ऐसी शक्ति के रूप में भी देखते हैं जो मानवमात्र को कर्म की प्रेरणा देती या उसमें प्रवृत्त करती है, इसलिए उन्होंने कहा है—

"इस साधना (काव्य) को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग के समकक्ष रखते हैं ।"[३] और "मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करने वाली मूल वृत्ति भावात्मिका है ।"[४]

कविता से एक ओर तो हमारे मनोविकारों पर शान चढ़ती जाती है और वे परिष्कृत हो जाते हैं, और दूसरी ओर शेष सृष्टि के साथ हमारे रचनात्मक लगाव का निर्वाह होता रहता है । जगत् के साथ हमारे सम्बन्धों के अनेक आधार हो सकते हैं, काव्य केवल रागमूलक सम्बन्धों को बनाये रखने का साधन है—

"इस अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है ।"[५] काव्य के ऐसे उद्देश्य रस-शास्त्र के भीतर संकेतित अवश्य थे किन्तु इतने परिस्फुट रूप में उनका व्याख्यान पहले नहीं मिलता । वास्तव में, कविता को भाव-योग के रूप में प्रतिष्ठित

---

१. चिं०, भाग १, पृ० १६३ ।
२. वही, पृ० १४६ ।
३. वही, पृ० १४१ ।
४. वही, पृ० १५७ ।
५. वही, पृ० १४१ ।

करके ही शुक्ल जी ने ये उद्देश्य निर्धारित किये हैं। इन के भीतर 'लोकवाद' की भी ध्वनि है। ऐसे उद्देश्यों को लेकर चलने के कारण ही रसवाद के भीतर नयी सम्भावनायें उत्पन्न हुईं, और उनका उचित विश्लेषण शुक्ल जी ने किया। हिन्दी-आलोचना को उनकी यह महत्त्वपूर्ण देन है।

विषय :

इस प्रयोजन के अनुरूप ही आचार्य शुक्ल काव्य का सम्बन्ध सम्पूर्ण चराचर जगत् से मानते हैं, इस जगत् का कोई ऐसा सजीव या निर्जीव पदार्थ नहीं है जो काव्य का विषय न बन सके। इन्दौर वाले भाषण में उन्होंने बताया है कि "भाव या चमत्कार से समन्वित होकर ये तीनों प्रकार के अर्थ काव्य के आधार हो सकते हैं और होते हैं। यह कवि की क्षमता और निपुणता पर निर्भर करता है कि वह उन विषयों को काव्य के उपयुक्त बनाकर ग्रहण कर ले। कविता केवल मानव-जीवन का ही चित्रण नहीं करती अपितु बाह्य-सृष्टि और समस्त चराचर जगत् को भी अपना विषय बना लेती है।"[1]

इस प्रसंग में शुक्ल जी ने इतना और भी स्पष्ट कर दिया है कि सभी विषयों में समान काव्योपयुक्तता, यानी एक स्तर की रसानुभूति, उत्पन्न करने की क्षमता नहीं होती। जिन विषयों के साथ हमारा परम्परागत साहचर्य होगा और जो विषय हमारे संस्कारों के अधिक निकट होंगे उनमें रमाने की शक्ति, उन विषयों से कहीं अधिक होगी जिनसे हमारा परिचय अपेक्षाकृत नूतन और बौद्धिक है। "साहचर्य-संभूत रस के प्रभाव से सामान्य सीधे-सादे चिर-परिचित दृश्यों में कितने माधुर्य की अनुभूति होती है!"[2]

कर्त्ता :

काव्य के कर्त्ता के अन्तर्गत शुक्ल जी इस शक्ति को अनिवार्य मानते हैं कि वह जगत् की विचित्रता के मध्य निवास करने वाले मानव-मात्र के सामान्य हृदय को पहचान सके। यह शक्ति उसमें जितनी ही अधिक मात्रा में उपलब्ध होगी, वह उतना ही बड़ा कवि माना जायेगा। "सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके।"[3]

उनकी दृष्टि में एक अच्छे कवि का दूसरा गुण यह है कि वह स्वयं को विभिन्न परिस्थितियों में डालकर जीवन और जगत् का वैविध्यपूर्ण अनुभव प्राप्त करे और इस प्रकार अधिक-से-अधिक विषयों तक अपनी भावात्मक सत्ता का विस्तार कर ले।

---

१. चिं०, भाग १, पृ० १४६।
२. वही, पृ० १५०।
३. वही, पृ० २२६।

तुलसीदास की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा है—"प्राप्त प्रसंग के गोचर-अगोचर सब पक्षों तक जिसकी दृष्टि पहुँचती है, किसी परिस्थिति में अपने को डालकर उसके अंग-प्रत्यंग का साक्षात्कार जिसका विशाल अंतःकरण कर सकता है, वही प्रकृत कवि है।"[१]

इस प्रकार कवि के भीतर, व्यापक अनुभूतिशीलता और शेष सृष्टि तथा लोक-हृदय के साथ लगाव होना आवश्यक ठहरता है। सच्चे कवि को वे 'अनुभूति-योगी' मानते हैं।

अधिकारी :

काव्य में रमाने की शक्ति होती है, ऐसा मान लेने के बाद काव्य के पाठक में भी, आचार्य शुक्ल, रमने वाली शक्ति का होना आवश्यक समझते हैं। केवल अनूठी बात सुनने की उत्कंठा रखने वाले काव्य-रसिक नहीं हो सकते। "अनूठी बात सुनने की उत्कंठा रखने वाले जब काव्य-रसिक समझे जाने लगे तब भिन्न-भिन्न रसों के प्रवाह को दबाकर अद्‌भुत रस सब के ऊपर उछलने लगा।"[२]

"इसी प्रकार बात-बात में अहाहा ! कैसा मनोहर है ! कैसा आनन्दजनक है! जैसे भावोद्‌गार भी भद्देपन से खाली नहीं, और काव्य-शिष्टता के विरुद्ध हैं।"[३]

कवि की ही भाँति पाठक में भी 'सहृदयता' होनी आवश्यक है अन्यथा वह आस्वाद्य रस का अनुभव नहीं कर सकता। किसी मार्मिक प्रसंग में तल्लीन होने की क्षमता उसका प्रधान गुण है और तल्लीन होने की अवस्था में वह अपनी व्यक्तिगत सत्ता का परिहार कर लेता है, उसका हृदय लोक-हृदय बन जाता है।

काव्य में रमने का प्रमाण यही है कि "कविता सुनने वाला कहता है..... जरा फिर तो कहिये।"[४]

पाठक में ग्राहक कल्पना का होना भी शुक्ल जी अनिवार्य समझते हैं।

रस :

काव्य का सर्व-प्रमुख लक्ष्य रसानुभूति उत्पन्न करना है, यह ऊपर दिखाया जा चुका है। अतः रस के संयोजक अवयव ही काव्यत्व के विधायक होंगे। उन अवयवों के सम्बन्ध में शुक्ल जी की क्या धारणायें हैं इसका परिचय और विश्लेषण आगे प्रस्तुत है।

रचनात्मक उपादान

काव्य को शुक्ल जी भाव-योग कहते हैं, अतः उसमें मानव भावनाओं को

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १।
२. चिं०, भाग १, पृ० ६।
३. वही, भाग २, पृ० १६।
४. वही, भाग १, पृ० १६३।

अधिक-से-अधिक उत्कर्ष तक पहुँचाने की क्षमता का होना आवश्यक है ; किन्तु उनकी दृष्टि से यह भाव-विस्तार ज्ञान-विस्तार के अन्तर्गत ही रहता है, उससे बाहर नहीं जा सकता। कारण यह है कि शुक्ल जी भाव का प्रथम अवयव विषय-बोध को ही मानते हैं।[1] काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि शुक्ल जी ऐसी उक्तियों को काव्य या अच्छे काव्य के अन्तर्गत रखने के पक्षपाती नहीं हैं जिन में भावोद्बोधन की क्षमता न हो। भावों के ऊपर इतना बल देने का कारण यही है कि वे जीवन में ही उनको अधिक महत्त्व देते हैं। उनका कहना है कि "जो मनुष्य अत्याचार होते देख कर क्रोध से न तिलमिलाया, दीन-दुखी के आर्त्तनाद को सुनकर करुणा से न पसीजा, पक्षियों के कलरव को सुनकर आनन्द में मग्न न हुआ और किसी बेढब और विनोदपूर्ण दृश्य को देखकर हँस न सका तो उसके जीने का अर्थ ही क्या, और उसके जीवित रहने का प्रमाण ही क्या ?"[2] विशुद्ध सदाचार और नैतिकता का भी वे उतना मूल्य नहीं मानते जितना जगत् में बहुधा समझा जाता है। उनके अनुसार "मनोवेग-वर्जित सदाचार दम्भ या पाखण्ड है"[3] वे भाव को ही मानव आचरण का प्रतिष्ठापक मानते हैं और कहते हैं, कि पश्चात्य मनोविज्ञान ने भी सिद्ध कर दिया है कि "शील का मूल स्थान भावात्मक हृदय है, निश्चयात्मिका वृत्ति नहीं।"[4] यहाँ उनका संकेत अलैग्ज़ैंडर शैंड की ओर है जिन्होंने शील या सद्भाव से सम्बन्ध रखने वाले सुभाषितों या उपदेशात्मक सूत्र-वाक्यों को सामाजिक नियमों के अन्तर्गत रखा है, उन्हें शील के धर्म के रूप में स्वीकार नहीं किया। शुक्ल जी और शैंड के कथनों में कितना साम्य है यह नीचे लिखे वाक्यों की तुलना से प्रकट हो जायेगा—

शुक्ल जी—"मेरे विचार में तो 'सदा सत्य बोलना,' बड़ों का कहना मानना आदि नियम के अन्तर्गत हैं शील या सद्भाव के अन्तर्गत नहीं।"[5]

शैंड—

"...They (Proverbs) are matter of advice, of warning, of exhortation, of reproof, of consolation, but seldom enunciate laws of character."[6]

इस प्रकार शुक्ल जी ने भाव को 'लोकधर्म' का साधक मानकर उसे काव्य में पर्याप्त महत्त्व दिया है।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६११।
२. वही, भाग १, पृ० १४६।
३. वही, भाग १, पृ० १४६।
४. सूरदास, पृ० ७३।
५. चिं०, भाग १, पृ० ४७।
६. *Foundations of Character*, page 78.

विभाव :

आचार्य शुक्ल कवि-कर्म-विधान के दो पक्ष—विभाव-पक्ष और भाव-पक्ष ठहराते हुए कहते हैं कि "काव्य में विभाव ही मुख्य है। भावों के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का सबसे पहला और आवश्यक काम है।" हम यह जानते हैं कि वे भाव का प्रथम अवयव विषय-बोध को मानते हैं और ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार की स्थापना करते हैं।[१] जब तक हमारे सामने विषय-रूप कोई कारण नहीं प्रस्तुत होगा तब तक भाव का अनुभव नहीं हो सकता। इसी प्राथमिकता और कारणता को लक्ष्य कर वे भाव से अधिक महत्त्व विभाव को देते हैं। दूसरी बात यह भी है कि उनकी दृष्टि में जहाँ काव्य में केवल एक ही पक्ष का वर्णन रहता है वहाँ भी दूसरा अव्यक्त रूप में रहता है और उसका आक्षेप द्वारा ग्रहण हो जाया करता है।[२] इस प्रश्न पर वे पंडितराज जगन्नाथ[३] से सहमत हैं। उन्होंने कहा है—"यदि कहिये कि यहां अलंकार द्वारा उक्त दृश्य-रूप वस्तु व्यंग्य है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि विभाव व्यंग्य नहीं हुआ करता।"[४] हम अन्यत्र देखेंगे कि जहाँ विभाव या वस्तु की प्रत्यक्ष व्यंजना हुई रहती है वहाँ भी शुक्ल जी उसका ग्रहण शब्द की अभिधा शक्ति और अनुमान द्वारा ही मानते हैं, व्यंजना द्वारा नहीं।[५] इससे स्पष्ट है कि वे विभाव को प्रत्येक दशा में अनुमान-गम्य और आक्षिप्त ही मानते हैं।

विभाव-पक्ष के व्यापक और सम्पूर्ण चित्रण के लिए ही कल्पना का उपयोग शुक्ल जी उचित समझते हैं—कल्पना उस व्यापक क्षेत्र में मुक्त भाव से विचरण कर सकती है। बात यह है कि विभावन व्यापार द्वारा वर्ण्य विषयों का मूर्त-प्रत्यक्षीकरण काव्य में आवश्यक है और यह कार्य कल्पना की सहायता से ही सिद्ध हो सकता है। इसलिए उन्होंने कहा है, "काव्य में 'विभाव' मुख्य समझना चाहिए—रस का आधार खड़ा करने वाला जो विभावन व्यापार है वही कल्पना का सबसे प्रधान कार्य-क्षेत्र है।"[६] लेकिन इस प्रकरण में कल्पना की मर्यादा बाँधना आवश्यक समझते हुए वे कह देते हैं कि वह उच्छृंखल होकर जिधर-तिधर नहीं उड़ सकती, 'उसे अनुभूति या रागात्मिका वृत्ति के आदेश पर चलना पड़ता है।'[७]

'विभाव' को प्रधानता देने के कारण कहीं-कहीं विद्वानों को भ्रम हो गया है कि शुक्ल जी रस से भी अधिक महत्त्व विभाव को ही प्रदान कर रहे हैं। और इस

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६९१।
२. र० मी०, पृ० १०९।
३. रस गंगाधर, पृ० ७४ "आक्षिप्तरोमांचनेत्रनिमीलनादयोऽनुभावाः"।
४. चिं०, भाग २, पृ० २४।
५. वही, पृ० १७९।
६. वही, पृ० २।
७. वही, पृ० २।

प्रकार उनकी दोनों मान्यताओं में अन्तर्विरोध का भी भ्रम हो जाता है, जैसा डा० देवराज के निम्नांकित कथन से स्पष्ट है—"(उक्त उद्धरण में) दूसरा वाक्य रस को प्रधानता देता प्रतीत होता है, जैसे रस साध्य हो और विभावन व्यापार साधन। इसके विपरीत (?) पहला वाक्य विभावों अर्थात् परिवेश (Environment) के मार्मिक चित्रण को प्रधानता देता है।" इन दोनों में विरोध किस बात का है यह समझ में नहीं आता—'विभाव' को वे साधन रूप में ही देखते और उसी रूप में मुख्य स्थान देते हैं। रसानुभूति कराने ही में तो उसकी सार्थकता है। यदि यह तर्क दिया जाय कि काव्य में रस के रहते हुए 'विभाव' को मुख्य कहने का क्या प्रयोजन, तो उसके उत्तर में शुक्ल जी की यह मूल स्थापना है कि रस हृदय के भीतर अनुभूत होता है—काव्य उसका साधन-मात्र है। रसात्मक काव्य का तात्पर्य है हृदय में रसानुभूति कराने में सक्षम काव्य। इस स्थापना का विचार अलग किया गया है।

शुक्ल जी के अनुसार विभाव के अन्तर्गत दो पक्ष होते हैं[1]

(१) आलंबन (भाव का विषय)।

(२) आश्रय (भाव का अनुभव करने वाला)।

इस संबन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि, यद्यपि प्राचीन साहित्य-शास्त्र की रस-मीमांसा में विषयी और विषय का भेद बराबर रखा जाता रहा तथापि साहित्य-ग्रन्थों में आलंबन के ही अन्तर्गत दोनों का विवेचन होता रहा। 'काव्य-प्रकाश' और 'साहित्य-दर्पण' तक में यही पद्धति अपनाई गई—आश्रय का उल्लेख अलग नहीं मिलता।[2] इनके आधार पर रचित 'रस-मंजरी' (श्री कन्हैयालाल पोद्दार) के हिन्दी लक्षण-ग्रंथ में भी इनका अलग-अलग विवेचन नहीं है। शुक्ल जी ने हिन्दी में इनका अलग-अलग उल्लेख और विवेचन करके साधारण पाठकों के लिए विषय को अधिक सुगम बना दिया—'अनुभाव', 'उद्दीपन' आदि के सम्बन्धी कौन हैं यह बात प्रत्यक्ष हो गई। आश्रय की चेष्टाएँ 'अनुभावों' और आलंबन की चेष्टाएँ 'उद्दीपनों' के रूप में सरलता से वर्गीकृत हो गईं।

उक्त दोनों तत्त्वों में भी शुक्ल जी आलंबन को ही प्रधान मानते हैं और कहते हैं कि "जो वस्तु मनुष्य के भावों का विषय या आलंबन होती है उसका शब्द-चित्र यदि किसी कवि ने खींच दिया तो वह एक प्रकार से अपना कार्य कर चुका।"[3] उसके लिए आश्रय-गत भावनाओं की व्यंजना कराना अनिवार्य नहीं। उनके अनुसार काव्य में मात्र आलंबन के विशद वर्णन से भी श्रोता या पाठक में रसानुभव (भावानुभव ही

---

१. चिं०, भाग २, पृ० ३।

२. पंडितराज के 'रस-गंगाधर' में दोनों का अलग-अलग संकेत है—
"ननु क्रोधोत्साहभयशोकविस्मयनिर्वेदेषु प्रागुदाहृतेषु यथालम्बनाश्रययोः संप्रत्ययो न तथा हासे जुगुप्सायां च तत्रालंबनस्यैव प्रतीतेः"।

३. रस-मीमांसा, पृ० १४३।

नहीं) हो जाता है।[१] इसलिए वे कहते हैं कि यदि मेघदूत में से यक्ष की कथा निकाल ली जाय तो भी 'पूर्वमेघ' में आये हुए प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में निहित काव्यत्व नष्ट नहीं हो सकता।[२] शुक्ल जी का मत है कि जिस कविता में भाव-पक्ष प्रधान होता है वहाँ विभाव-पक्ष का ग्रहण पाठक पर छोड़ दिया जाता है और जिसमें विभाव-पक्ष प्रधान होता है वहाँ संवेदना का—

"भाव-प्रधान कविता में—ऐसी कविता में जिसमें संवेदना की विवृति ही रहती है—आलंबन का आक्षेप पाठक पर छोड़ दिया जाता है। विभाव-प्रधान कविता में--ऐसी कविता में जिसमें आलंबन का ही विस्तृत रमणीय चित्रण रहता है—संवेदना पाठक के ऊपर छोड़ दी जाती है।"[३]

आलंबन के ऊपर इतना अधिक बल उन्होंने अपनी वस्तून्मुखी दृष्टि के कारण दिया है और इसीलिए यह उनकी सम्पूर्ण साहित्यिक विचारणा का एक प्रधान मूल सूत्र बन गया है।

शुक्ल जी की आश्रय-आलंबन-व्यवस्था को सही रूप में ग्रहण न करने के कारण कभी-कभी विद्वानों को भी भ्रम हो गया है। पंडित रामदहिन मिश्र ने अपने विवेचन में कहा है कि, "क्या रसोद्रेक में आलंबन ही आलंबन है। यदि अनुभाव विपरीत हो तब ? शोकातुर व्यक्ति को ताल लय से मंच पर गाना गाते देख सभी शोक-ग्रस्त हो सकते हैं ?"[४] शुक्ल जी की दृष्टि से यहाँ स्वभावतः ही प्रश्न होगा कि ये अनुभाव (अंग-चेष्टायें) किसके हैं ? क्या आलंबन के ? किन्तु वे तो आलंबन क चेष्टाओं को उद्दीपन के अन्तर्गत रखते हैं, 'अनुभाव' तो केवल उन्हीं चेष्टाओं को कह सकते हैं जिनका सम्बन्ध 'आश्रय' से है। मिश्र जी वाले उदाहरण में, काव्य के अंतर्गत तो शोकातुर व्यक्ति आश्रय के ही स्थान में है किन्तु वह दर्शकों की करुणा, कृपा आदि का आलंबन भी होगा। और आलंबन का ऐसे विशिष्ट रूप में सामने लाया जाना कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलंबन हो सके साधारणीकरण की पहली शर्त है। करुणा का 'आलंबन' ताल लय से गाता नाचता हुआ व्यक्ति कैसे हो सकता है ?

अनुभाव :

तुलसी की भावुकता पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने प्रासंगिक रूप से अनुभाव के सम्बन्ध में भी एक बात कह दी है जिसका उल्लेख इस प्रसंग में आवश्यक है। वे अनुभाव के अन्तर्गत केवल आश्रय की चेष्टाएँ ही ग्रहण करते हैं[५] क्योंकि आश्रय

---

१. रस-मीमांसा, पृ० १४३-१४४।
२. वही, पृ० १४४।
३. चिं०, भाग २, पृ० १११।
४. हिन्दुस्तानी, सन् १९४६, पृ० १४१।
५. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ९१।

की चेष्टाओं का उद्देश्य किसी मनोगत भाव की व्यंजना करना होता है। आलंबन की चेष्टाओं को वे 'हाव' के अन्तर्गत रखना उचित समझते हैं क्योंकि उनका उद्देश्य आलंबन के सौन्दर्य की वृद्धि करना मात्र होता है। तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर भाव-व्यंजक चेष्टाएँ आश्रय की ही हो सकती हैं। यदि आलंबन भी कोई सजीव प्राणी है और उसमें भी मनोगत भाव के व्यंजक विकार लक्षित होते हैं तो जहाँ तक वे आलंबन के सौन्दर्य के उपकारक हैं वहाँ तक वे उद्दीपन माने जायेंगे और जहाँ तक भाव की व्यंजना करते हैं वहाँ तक अनुभाव। जैसा पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने 'वाङ्मय-विमर्श' नामक ग्रन्थ में सिद्ध किया है, इस तथ्य का उद्घाटन भानुदत्त ने अपनी 'रस-तरंगिणी' में कर दिया है। भानुदत्त ने अनुभाव का लक्षण देते हुए कहा है कि जिनसे रस अनुभव-गोचरता को प्राप्त होते हैं वे कटाक्षादि अनुभाव हैं, वे करण-स्वरूप या साधन-स्वरूप हैं।[1] और आगे चलकर कहा है कि कटाक्षादि करण-स्वरूप होने से अनुभाव और विषय-रूप होने से उद्दीपन विभाव हो जाते हैं।[2] इन उद्धरणों को देखने से स्पष्ट है कि भानुदत्त का विवेचन तात्त्विक है, इसके विपरीत शुक्ल जी के विवेचन में यह मानकर चला गया है कि 'हाव' का विधान नायिका का मोहक स्वरूप बढ़ाने के लिए ही किया जाता है। लेकिन ऐसे प्रकरण भी तो आ सकते हैं और आते हैं, जहाँ वे शारीरिक विकार, एक ओर तो नायिका के मनोगत भाव की व्यंजना कर देते हैं ओर दूसरी ओर उसके रूप में मोहकता भी उत्पन्न कर देते हैं। ऐसी स्थिति में दोनों दृष्टियों—करण और विषय—से उनके ऊपर विचार करना आवश्यक है। भानुदत्त ने ऐसा ही किया।

शुक्ल जी को अनुभाव और हाव के इस सूक्ष्म विवेचन की प्रेरणा भानुदत्त की 'रस-तरंगिणी' से मिली अथवा यह उनकी मौलिक उद्भावना है यह नहीं कहा जा सकता किन्तु 'तुलसी-ग्रन्थावली' के 'प्रस्तावना' रूप में उनका जो बड़ा निबन्ध छपा है, उसमें इस विवेचन का कहीं पता नहीं है। यह बाद के संस्करणों में जोड़ दिया गया है।

संचारी भाव :

शुक्ल जी के भाव-विवेचन पर विचार करते हुए अन्यत्र उनकी संचारी भाव सम्बन्धी धारणाओं का उल्लेख और विवेचन किया गया है। यहाँ केवल उनकी मुख्य स्थापनाओं का विवरण दिया जा रहा है।

इस सम्बन्ध में पहली उल्लेखनीय बात यह है कि उन्होंने भावों के विभाजन का मूल आधार ढूंढ़ते हुए बताया कि "जो भाव ऐसे हैं जिन्हें किसी पात्र को

---

१. ये रसाननुभावयन्त्यनुभवगोचरतां नयन्ति तेऽनुभावाः कटाक्षादयः
—रस तरंगिणी, काशी, पृ० २०।

२. वही, पृ० २१—"कटाक्षादीनां करणत्वेनानुभावत्वं विषयत्वेनोद्दीपनं विभावत्वं।

प्रकट करते देख या सुन कर दर्शक या श्रोता भी उन्हीं भावों का अनुभव कर सकते हैं वे तो प्रधान भावों में रखे गये हैं, शेष भाव और मन के वेग संचारियों में डाले गये हैं।"[१] आधार का यह अनुसन्धान शुक्ल जी की दृष्टि की मौलिकता का परिचायक है। उन्होंने लज्जा, असूया आदि संचारियों का उदाहरण लेकर यह सिद्ध किया है कि आश्रय के मन में ही उन भावों का उदय होने से दर्शकों के मन में भी नहीं हो जाता—अतः ये भाव संक्रामक नहीं हैं और इसीलिए प्रधान भावों की कोटि में नहीं डाले गये।[२]

दूसरी बात यह है कि वे साहित्य-शास्त्र की स्थायी-संचारी व्यवस्था को मनोवैज्ञानिकों की 'भाव-चक्र' (Sentiments) और भाव (Emotions) वाली व्यवस्था से भिन्न मानते हैं। भिन्नता का आधार उन्होंने यह स्थापित किया है कि भाव-चक्रों के बीच जगने वाले विरोधी भावों के उत्कर्ष-क्षण में मूल प्रवर्त्तक भाव (Sentiment) अपना रूप विसर्जित कर देता है किन्तु स्थायी भाव का रूप संचारियों के जागरण काल में ज्यों-का-त्यों बना रहता है, बल्कि संचारी की योजना से स्थायी भाव और अधिक पुष्ट ही होता है। भेद के इस मूल आधार की उद्भावना शुक्ल जी की अपनी है।

तीसरी बात है संचारियों की संख्या। शुक्ल जी का विश्वास है कि संचारी असंख्य हैं, उनकी कोई सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती।[३]

चौथी बात है संचारियों के वर्गीकरण की। आचार्य शुक्ल ने विरोध-अविरोध की दृष्टि से संचारियों के चार रूप बताये—सुखात्मक, दुःखात्मक, उभयात्मक और उदासीन।[४]

स्वरूप की दृष्टि से संचारियों के उन्होंने पाँच प्रकार माने हैं—स्वतन्त्र विषय-युक्त भाव, मन के वेग, अन्य अन्तःकरणवृत्ति, मानसिक अवस्था, शारीरिक अवस्था।[५] इस वर्गीकरण में भी शुक्ल जी की मौलिक दृष्टि का ही प्रभाव अधिक है।

पाँचवीं बात है किसी प्रधान भाव का दूसरे प्रधान भाव के संचारी के रूप में आना। ऐसी स्थिति शुक्ल जी के विचार से तभी उत्पन्न हो सकती है जब—

१. उसका (भाव का) विषय वही हो जो प्रधान भाव का आलम्बन है और उसकी कोई अपनी गति या प्रवृत्ति न हो।

२. आलम्बन से उसका विषय भिन्न हो, उसकी कोई अपनी गति या प्रवृत्ति न हो और वह स्वयं ऐसा हो कि प्रधान भाव के साथ उसका कोई रूपान्तर लगा रहता हो।

---

१. रस-मीमांसा, पृ० २०३।
२. वही, पृ० २०३।
३. वही, पृ० २०५।
४. वही, पृ० २००।
५. वही, पृ० २०६।

३. उसकी गति या प्रवृत्ति वही हो जो प्रधान भाव की है।[१]

भावों की गति या प्रवृत्ति के ऊपर बल देने का कारण मनोवैज्ञानिक चिंतन है।

कल्पना :

भावानुभव के लिए विषय का सामने आना अनिवार्य है क्योंकि विषय-बोध ही भाव का प्रथम अवयव है। इन विषयों की योजना में ही कल्पना साधन स्वरूपा है, वह स्वयं साध्य नहीं। शुक्ल जी का यही पक्ष है।[२] उन्होंने कहा है कि "जिस प्रकार भक्ति के लिए उपासना या ध्यान की आवश्यकता होती है उसी प्रकार और भावों के प्रवर्त्तन के लिए भी भावना या कल्पना अपेक्षित होती है।"[3] कल्पना के बिना भाव का प्रवर्त्तन असम्भव है। शुक्ल जी ने 'भावना' और 'कल्पना' का प्रयोग एक ही अर्थ में किया है। उनकी धारणा है कि भारतीय साहित्य-शास्त्री जिस क्रिया या शक्ति को 'भावना' शब्द से अभिहित करते हैं, उसी को आजकल के लोग कल्पना कहते हैं।

पश्चिमी काव्य-शास्त्र में कल्पना का बड़ा विशद विवेचन कॉलरिज ने किया और उसके अनन्तर इस पर लगातार विचार-विमर्श होता चला आया है। इसलिए वहाँ की समीक्षा में इसका महत्त्व बढ़ गया और परिणामस्वरूप ऊँची कल्पना के नाम पर काव्य में अनेक विलक्षण और असंबद्ध चित्रों की भरमार होने लगी। शुक्ल जी कल्पना को इस सीमा तक ले जाना अनुचित समझते हैं और उसकी निश्चित मर्यादा बाँधते हुए कहते हैं—

"किसी प्रसंग के अन्तर्गत कैसा ही विचित्र मूर्ति-विधान हो (कल्पना के द्वारा लाया हुआ) पर यदि उसमें उपयुक्त भाव की क्षमता नहीं है तो वह काव्य के अन्तर्गत न होगा।"[४] "कल्पना काव्य का बोध-पक्ष है।"[५]

शुक्ल जी ने कल्पना के दो प्रकार माने हैं—विधायक और ग्राहक। कवि के लिए विधायक कल्पना की आवश्यकता मानते हुए वे पाठक या श्रोता के लिए अधिकतर ग्राहक कल्पना का होना ही पर्याप्त समझते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि कवि में कल्पना के दोनों प्रकार क्यों न माने जायें। कवि ग्राहक कल्पना द्वारा ही बाह्य जगत् के पदार्थों के रूप-चित्र अपने मस्तिष्क में उतार पाता है और फिर अपनी विधायिका शक्ति द्वारा पाठकों के समक्ष उन्हें मूर्तिमान् कर देता है। वास्तव में पाठक के भीतर जिस ग्राहक कल्पना को शुक्ल जी स्थान देते हैं और उसके द्वारा अन्तःकरण में जिस स्पष्ट मूर्तिविधान के उत्पन्न होने की बात कहते हैं, वही कल्पना और वही मूर्ति-विधान पाठक से पहले कवि में भी अपेक्षित है।

---

१. रस-मीमांसा, पृ० २३७।
२. चिं०, भाग १, पृ० १६२।
३. चिं०, भाग २, पृ० १६१।
४. चिं०, भाग १, पृ० १६२।
५. वही, पृ० २३६।

कल्पना को भावना या उपासना के समकक्ष मानने में भी कठिनाई इन्हीं दोनों प्रकारों के कारण आती है। ग्राहक कल्पना तो भावना या उपासना के अत्यन्त निकट है और इन तीनों में साम्य है क्योंकि तीनों में अपने अन्तःकरण के समक्ष किसी अन्य तत्त्व का मूर्ति-विधान होता है किन्तु विधायक कल्पना दूसरों के समक्ष मूर्ति-विधान करने में विनियुक्त होती है। वह कवि द्वारा गृहीत मूर्ति-विधान को औरों के द्वारा ग्राह्य बनाने का एक अनिवार्य साधन है। ऐसी अवस्था में उसे भावना या उपासना के समकक्ष रखना ठीक नहीं जान पड़ता।

पाश्चात्य काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में कल्पना के ऊपर सबसे गम्भीर और मौलिक विचारणा कॉलरिज की मानी जाती है। उन्होंने भी पूर्वापर क्रम को लक्ष्य करते हुए कल्पना के दो प्रकार माने हैं—प्रधान (Primary) और गौण (Secondary)। प्रधान कल्पना को वे एक ऐसी शक्ति मानते हैं जो समस्त मानव-बोध का मूल है और मस्तिष्क में मूर्ति-विधान करती रहती है।[1] और गौण कल्पना इस प्रधान कल्पना की ही अनुगूंज होने के कारण उससे तात्त्विक रूप में अभिन्न है, दोनों में केवल मात्रा-भेद है। गौण कल्पना संकल्प के साथ रहती है और सर्जना के लिए ही स्वयं को विसर्जित कर देती है।[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि पहली को ही शुक्ल जी ने ग्राहक-कल्पना माना और दूसरी को विधायक, किन्तु वे कल्पना को भावों के लिए विषय प्रस्तुत करने वाले साधन के रूप में ही देखते हैं, किसी अन्य रूप में नहीं।

भारतीय साहित्य-शास्त्र का 'प्रतिभा' शब्द विधायक कल्पना के अधिक निकट है, सम्भवतः इसीलिए शुक्ल जी ने कहीं-कहीं 'कल्पना या प्रतिभा' जैसा प्रयोग भी किया है।[3]

जहाँ तक कल्पना के विनियोग का प्रश्न है शुक्ल जी उसे प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों पक्षों में रखने के पक्षपाती हैं—वे इस धारणा का खण्डन करते हैं कि कल्पना का प्रयोग केवल अप्रस्तुत-पक्ष की सामग्री एकत्र करने में होना चाहिए। "यहाँ मेरा अभिप्राय केवल इस धारणा को असंगत सिद्ध करने का है कि काव्य में कवि या

---

१. "The primary imagination I hold to be the living power and prime agent of all human perception, and as a repetition in the finite mind of the eternal act of creation in the finite I AM.

—*Biographia Literaria*—S. T. Coleridge, 1906 Ed., page 159.

२. "The secondary imagination, I consider so an echo of the former, coexisting with the conscious will, yet still as identical with the primary in the kind of its agency, and differing only in degree and in the mode of its operation. It dissolves, diffuses, dissipates, in order to recreate.....

—वही, पृ० १५९-१६०।

३. "भाव की प्रेरणा से नाना रूप-संस्कार जग पड़ते हैं जिनका अपनी प्रतिभा या कल्पना द्वारा समन्वय करके कवि प्रस्तुत वस्तुओं या तथ्यों का एक मार्मिक दृश्य खड़ा करता है।"

—चिं०, भाग २, पृ० २३१।

कल्पना का काम केवल ढूंढ़-ढूंढ़ कर या अपनी अन्तरात्मा में से निकाल कर, तरह-तरह के अप्रस्तुत रूपकों का विधान करना ही है।"[१]

बुद्धि :

काव्य में बुद्धि का सहयोग भी आचार्य शुक्ल ने आवश्यक ठहराया, उसके निर्माण की दृष्टि से भी और रसास्वाद की दृष्टि से भी। यानी कवि और पाठक दोनों के लिए बुद्धि का आश्रय अपेक्षित है। कल्पना भी मस्तिष्क की ही क्रिया होने के कारण बुद्धि-तत्त्व के निकट है, किन्तु भाव के अनुभव के समय आलम्बन के स्वरूप आदि का जो बोध या ज्ञान रहता है वह कल्पना से भिन्न है। शुक्ल जी ने कवि और पाठक दोनों में रचना और भावानुभव के समय उसका अस्तित्व माना है। "उस भाव की अनुभूति के साथ-साथ आलम्बन का बोध या ज्ञान भी बना रहता है।"[२]

दूसरी बात यह है कि बुद्धि के द्वारा ही वस्तु-सत्य के साथ हमारा सम्बन्ध बना रहता है। यदि उक्ति में कोई बुद्धि-सम्मत अर्थ, चित्र अथवा व्यापार निहित नहीं होगा तो उसमें काव्यत्व नहीं माना जायेगा, चाहे चमत्कार की मात्रा कितनी ही अधिक क्यों न हो और कल्पना की उड़ान कितनी ही ऊँची क्यों न हो।[3]

शुक्ल जी उन विचारकों से सहमत नहीं जो यह कहते हैं कि बौद्धिकता अथवा सभ्यता के विकास के साथ-साथ कविता का ह्रास होता चला जायेगा।[४] उनकी यह स्थापना अत्यन्त मार्मिक है कि बौद्धिकता के विकास के साथ-साथ कवि-कर्म कठिन होता जाएगा और काव्य-कर्त्ता का उत्तरदायित्व भी अधिक गम्भीर रूप धारण करता जायेगा। कारण यह है कि अधिक प्रबुद्ध व्यक्ति में भावोत्तेजन पैदा करने के लिए उसी उच्च स्तर की बौद्धिकता और उसी उच्चस्तरीय सुसंगत मूर्ति-विधान की अपेक्षा होगी। आदिम जातियों में जो भाव इन्द्रिय-संवेदनों के रूप में ही उत्पन्न हो सकते थे, वे विकसित जातियों में अनेक ऐसे स्थूल-सूक्ष्म माध्यमों और विषयों से संबद्ध हो गये कि उनका ठीक-ठीक पता लगना बड़ा कठिन बन गया। "भावों के आदिम और सीधे लक्ष्यों के अतिरिक्त और-और लक्ष्यों की स्थापना होती गई, वासनाजन्य मूल व्यापारों के सिवा बुद्धि द्वारा निश्चित व्यापारों का विधान बढ़ता गया।"[५] इसलिए ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायेगी त्यों-त्यों कवियों के लिए यह काम (प्रच्छन्नता का उद्घाटन)

---

१. चिं०, भाग २, (इन्दौर का भाषण), पृ० २३०।

२. वही, पृ० १९८।

३. चिं०, भाग २, पृ० १८४ तथा २३२।

४. "काव्य के क्षेत्र से बुद्धि को एकबारगी निकाल बाहर करने पर सबसे मुस्तैद दिखाई पड़ते हैं कमिंग्ज़ साहब (ई० ई० कमिंग्ज़) जो अमेरिका के एक कवि हैं।"—वही, पृ० २४८।

५. चिं०, भाग १, पृ० १४३।

बढ़ता जायेगा।[1] गम्भीर चिन्तन से उपलब्ध तथ्यों को लेकर ही कल्पना मूर्ति-विधान करने में और हृदय भावानुभूति में लीन होता है।[2]

भाषा :

साहित्य के भीतर शुक्ल जी ने दो अभिन्न परम्परायें मानी हैं— एक शब्द की और दूसरी अर्थ की। उनका कहना है कि किसी देश की शब्द-परम्परा अर्थात् भाषा कुछ काल तक चल कर जो अर्थ-विधान करती है वही उस देश का साहित्य कहलाता है।[3] शब्द और अर्थ की इन दीर्घकालीन परम्पराओं में ऐसा एकान्त सामंजस्य है कि किसी भी प्रकार से उसे विघटित करना सम्भव नहीं। यदि विघटन हुआ तो साहित्य और भाषा का वास्तविक स्वरूप ही नष्ट हो जायेगा।[4] अतः भाषा के प्रयोग में कवियों को अत्यधिक सतर्क रहने की आवश्यकता है।

अपने "कविता क्या है" शीर्षक लेख में उन्होंने काव्य-भाषा की चार मुख्य विशेषताओं का उल्लेख किया है जिनमें सब से पहला स्थान लाक्षणिकता को मिला है। उनका कहना है कि कविता हमारे समक्ष सूक्ष्म पदार्थों और व्यापारों को भी गोचर रूप में रखती है, स्थूल रूप में प्रत्यक्ष करती है और इसके लिए भाषा की लक्षणाशक्ति का आश्रय लेना आवश्यक होता है। अतः जिस भाषा में लक्षणा शक्ति की जितनी ही अधिक प्रबलता होगी उसमें जगत् के रूपों और व्यापारों के गोचर प्रत्यक्षीकरण की क्षमता भी उतनी ही अधिक होगी और इसके परिणामस्वरूप उच्च कोटि के काव्य की सम्भावनायें भी उसमें उतनी ही अधिक होंगी। "वस्तु या तथ्य के पूर्ण प्रत्यक्षीकरण तथा भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति के अनुरूप व्यंजना के लिए लक्षणा का बहुत कुछ सहारा कवि को लेना पड़ता है।"[5]

दूसरी विशेषता उन्होंने यह लक्षित की कि काव्य-भाषा में जाति-संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप-व्यापार-सूचक शब्द अधिक रहते हैं।[6] जिस प्रकार अनेक व्यापारों के बीच में से उपलक्षण पद्धति पर केवल कुछ का ही चुनाव करके कविगण सारे व्यापारों का समन्वित चित्र खड़ा कर देते हैं, उसी प्रकार शब्द-समूहों में से वे केवल उनका चुनाव कर लेते हैं जो विशेष रूपों और व्यापारों के सूचक हैं और पदार्थों या क्रियाओं का गोचर रूप हमारे समक्ष रख सकते हैं। यह गुण मूलतः व्यापार-शोधन का ही अंग है जो कवि-कर्म का एक प्रमुख अवयव है, किन्तु इसके परिणाम-

---

१. चिं०, भाग १, पृ० १४२।
२. शेष स्मृतियाँ, पृ० १४।
३. हिन्दुस्तानी का उद्गम, पृ० १।
४. वही, पृ० १।
५. चिं०, भाग १, पृ० १७६।
६. वही, पृ० १७६।

स्वरूप काव्य-भाषा में वह वैशिष्ट्य अवश्य उत्पन्न हो जाता है जिसकी ओर शुक्ल जी ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है। इसी वैशिष्ट्य के आधार पर शास्त्र की भाषा को शुक्ल जी ने काव्य की भाषा से अलग किया है। एक जाति-संकेत-मूलक शब्दों से भरी होती है और दूसरी व्यक्ति-संकेत-मूलक।[१]

काव्य-भाषा की तीसरी विशेषता उन्होंने नाद-सौष्ठव में मानी है और यह कहा है कि "(कविता) नाद सौष्ठव के लिए संगीत का कुछ-कुछ सहारा लेती है।"[२] भारतीय काव्य-शास्त्र की प्राचीन परम्परा में ही वर्णों की कोमलता-कठोरता और विभिन्न वृत्तियों का विचार इस मूलतत्त्व को ध्यान में रखकर किया गया। विचार करते समय इस बात पर बराबर ध्यान रहा कि भाव को अधिक तीव्रता और पुष्टता प्रदान करने के लिए वर्णों का यह सूक्ष्म भेद अपनाया जाना चाहिए, केवल चमत्कार उत्पन्न करने के लिये नहीं। किन्तु आगे चलकर आचार्यों का वह मूल आधार या उद्देश्य भुला दिया गया और "जो बात भाव या रस की धारा का मन के भीतर अधिक प्रसार करने के लिये थी, वह एक अलग चमत्कार या तमाशा खड़ा करने के लिये काम में लाई गई।"[३] नाद-सौंदर्य के इस दुरुपयोग को देखकर शुक्ल जी कुछ खिन्न अवश्य हुए लेकिन वे उन लोगों की श्रेणी में नहीं जा बैठे जो कविता के लिये इसकी किंचित् आवश्यकता ही नहीं समझते। उनका यह विश्वास था कि वह स्थूल रूप में न हो तो न सही, किन्तु सूक्ष्म रूप में तो उसे काव्य-भाषा में अवश्य सन्निविष्ट करना होगा। उन्होंने कहा, "जो अन्त्यानुप्रास को फालतू समझते हैं वे छन्द को पकड़े रहते हैं, जो छन्द को फालतू समझते हैं वे लय में ही लीन होने का प्रयास करते हैं।"[४]

काव्य-भाषा की चौथी विशेषता उन्होंने व्यक्तियों या स्थानों के रूप-गुण-बोधक शब्दों के प्रयोग में देखी है, जैसे 'गिरिधर' 'दीनबन्धु' आदि शब्दों का प्रसंगानुकूल साभिप्राय प्रयोग।[५] ध्यान से देखने पर ज्ञात हो जायेगा कि यह विशेषता, पहले ही मानी जाती रही है और 'परिकरांकुर' नाम के अलंकार के रूप में हमारे अलंकार-शास्त्र में सर्वत्र स्वीकृत है।

अलंकार:

काव्य में अलंकार का स्वरूप, और उसकी प्रयोजनीयता क्या है, इस प्रश्न के ऊपर शुक्ल जी ने अपने विभिन्न निबन्धों में बड़ी गंभीरता से विचार किया है। उनकी दृष्टि में अलंकार, वर्णन-प्रणालीमात्र है, उन्हें काव्य-रस के साधक अवयव के

---

१. चिं०, भाग १, पृ० १७७।
२. वही, पृ० १७९।
३. वही, पृ० १७९।
४. वही, पृ० १८०।
५. वही, पृ० १८०।

रूप में ही ग्रहण करना युक्ति-संगत है। काव्य के साध्य अथवा उद्देश्य के रूप में अलंकारों का निरूपण नहीं हो सकता। उन्होंने कहा कि "····· भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति का नाम अलंकार है।"[1] 'कभी-कभी' कहने का साफ़ अर्थ यही है कि वे सदैव काव्य को अलंकृत रूप में ही नहीं देखना चाहते और इसीलिए 'चन्द्रालोककार' के इस कथन पर व्यंग्य करते हैं कि जो लोग काव्य को अलंकार-विहीन मानते हैं वे आग को 'अनुष्णतासंपन्न' क्यों नहीं मानते।[2] काव्य और अलंकार का शाश्वत संबंध उन्हें मान्य नहीं।

अलंकार के इस स्वरूप को ध्यान में रखकर उन्होंने कहा है कि यह "कथन की एक युक्ति या वर्णन शैली-मात्र है।"[3] लेकिन इस वर्णन-शैली का प्रयोग शास्त्र, इतिहास आदि के विवेचनापूर्ण ग्रन्थों में भी हो सकता है, और प्रायः हुआ है, अतः काव्यालंकार की अलग श्रेणी का निर्धारण करने के लिए शुक्ल जी को इतना और कहना पड़ा कि जो युक्ति या वर्णन-शैली केवल विषय-बोध के लिये बिनियुक्त हो और जिससे भाव के उत्कर्ष का कोई साधन न होता हो, उसे काव्यालंकार की कोटि में नहीं ले सकते।

अलंकारों की उत्पत्ति कैसे हुई ? सूक्ष्म दृष्टि-सम्पन्न आचार्यों ने काव्य के चुने हुए सुन्दर प्रसंगों की रमणीयता के मूल कारणों का अनुसन्धान करना प्रारम्भ किया, और जो कारण कथन या वर्णन की शैली से सम्बन्ध रखने वाले मिले उनका नामकरण करके, वे अलंकारों की सूची में डालते चले गये—वे ही अलंकार कहे जाते हैं। वर्णन की ये प्रणालियाँ या शैलियाँ असंख्य हैं। इनकी कोई सीमा नहीं, अतः अलंकारों की भी कोई निर्दिष्ट सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती।

ध्वनिकार ने ही "अङ्गाश्रितास्त्वलंकारा मंतव्याः कटकादिवत्।"[4] कहकर साधन रूप में अलंकारों को माना और यह भी कह दिया कि उनकी संख्या अपरिमित है।

अपनी इस मान्यता के अनुरूप ही शुक्ल जी अलंकार और अलंकार्य के अभेदत्व का निराकरण करते हैं, इन दोनों के एक माने जाने को उन्होंने 'गड़बड़झाला' कहा है जो बहुत पहले मिट चुका। "प्राचीन गड़बड़झाला मिटे बहुत दिन हो गये। वर्ण्य-वस्तु और वर्णन-प्रणाली बहुत दिनों से एक-दूसरे से अलग कर दी गई हैं।"[5] ऐसा

---

१. र० मी०, पृ० ३५८।
२. चिं०, भाग १, पृ० १८२।
३. र० मी०, पृ० ३५९।
४. ध्वन्यालोक, द्वि० उद्योत, कारिका ६।
५. चिं०, भाग १, पृ० ८३।

होने के कारण ही 'स्वभावोक्ति' का अलंकारत्व असिद्ध है। जिन आचार्यों ने स्वभावोक्ति को अलंकार के अन्तर्गत माना वे भी उसका लक्षण-निरूपण ठीक-ठीक नहीं कर सके।[१] शुक्ल जी की स्थापना है कि "प्रस्तुत वस्तु की रूप-क्रिया आदि के वर्णन को इस क्षेत्र से घसीट कर अलंकार-क्षेत्र में हम कभी नहीं ले जा सकते।"[२] इस प्रश्न पर उनका कुन्तक के साथ मतैक्य है, जो स्वयं स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं मानते और कहते हैं कि "शरीर ही यदि (स्वभावोक्ति नामक) अलंकार हो जाये तो वह (स्वभावोक्ति अलंकार) दूसरे किस (अलंकार्य) को अलंकृत करेगा। कोई स्वयं अपने कन्धों पर नहीं चढ़ सकता है।"[३]

'स्वभावोक्ति' को अलंकारों के अन्तर्गत गिना कब गया? शुक्ल जी के मत से, उस समय, जब रीति-ग्रन्थों की बदौलत रस-दृष्टि परिमित हो गई।[४] जब तक कविगण स्वतन्त्र रूप से, बिना किसी निर्धारित रूढ़ि का आश्रय लिए, भावों की उत्तेजना के लिए आलम्बन जुटाते रहे तब तक स्वभावोक्ति को अलंकार के अन्तर्गत रखने की आवश्यकता नहीं पड़ी, किन्तु जब आलंबनों का स्वरूप निर्दिष्ट होने लगा और लक्षण-ग्रन्थों में उनकी वर्गीकृत सूची तैयार की जाने लगी तब रस के "संयोजक विषयों में से कुछ तो 'उद्दीपन' में डाल दिये गये और कुछ भाव-क्षेत्र से ही निकाले जा कर 'अलंकार' के हाते में हाँक दिये गये।"[५]

काव्य में प्रयुक्त होने वाले सादृश्य-मूलक अलंकारों की अधिकता और सार्थकता देखकर ही आचार्य शुक्ल ने उनके ऊपर कुछ विस्तार से विचार किया है। उनका अभिमत है कि "रूप, गुण और क्रिया—तीनों का अनुभव तीव्र करने के लिए अधिकतर सादृश्य-मूलक उपमा आदि अलंकारों का ही प्रयोग होता है।"[६] प्रभाव की दृष्टि से उन्होंने रूप की चार श्रेणियाँ निर्धारित की हैं जो भावों को लक्ष्य करके ही बनाई गई हैं—अनुरंजक, भयावह, आश्चर्यकारक या घृणोत्पादक। इन भावों को लक्ष्य करके ही कवियों को अप्रस्तुतों का चुनाव करना चाहिए।

क्रिया और गुण का अनुभव तीव्र कराने के लिए प्रस्तुत अप्रस्तुत के बीच रहने वाले धर्म के उन्होंने तीन रूप माने हैं—(१) दोनों का धर्म एक ही होता है, (२)

---

१. चिं०, भाग १, पृ० १८३।
२. वही, पृ० १८४।
३. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, प्रथम उन्मेष, पृ० ५५ :—
"शरीरं चेदलंकारः किमलंकुरुते परम्, आत्मैव नात्मनः स्कंधं कवचिदप्यधिरोहति"।
४. चिं०, भाग २, पृ० ५।
५. वही, पृ० ५।
६. र० मी०, पृ० ३६२।

दोनों का धर्म एक न होकर समान होता है, (३) एक का धर्म उपचार से दूसरे में भी बताया जाता है। इन्हीं रूपों में से किसी-न-किसी का प्रयोग सादृश्यमूलक अलंकारों में होता है।

प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच सादृश्य और साधर्म्य के अतिरिक्त एक और प्रकार का साम्य भी निहित रहता है, जिसे शुक्ल जी ने प्रभाव-साम्य कहा है। उनके अनुसार 'साहित्य-दर्पण' आदि साहित्य शास्त्र के ग्रन्थों में केवल साधर्म्य, या सादृश्य का ही उल्लेख है, किन्तु उपमानों के चुनाव में प्राचीन काल से ही प्रभाव-साम्य पर दृष्टि रहती चली आई थी।[1] वास्तव में पाश्चात्य प्रभाव से जब हिन्दी की नयी कविता में प्रभाव-साम्य पर चुने हुए अप्रस्तुतों की रमणीय योजना प्रचुर परिमाण में दिखाई पड़ने लगी तब शुक्ल जी का ध्यान साम्य के उस आधार की ओर गया। अपने इन्दौर वाले भाषण में उन्होंने इस बात पर हर्ष प्रकट किया था कि "वर्तमान नये ढंग की कविताओं में विशेषत: प्रभाव-साम्य पर ही दृष्टि रखी जाती है।"[2]

प्रभाव साम्य के अतिरिक्त एक शब्द साम्य भी होता है जिसमें श्लेषादि की योजना से ही प्रस्तुत और अप्रस्तुत में समता स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। ऐसे साम्य को शुक्ल जी ने यह कहकर तिरस्कृत कर दिया कि इसको "लेकर तमाशे खड़े करना तो केवल केशव जैसे चमत्कारवादी कवियों का काम है।"[3]

शुक्ल जी यह मानते हैं कि प्रतीकों का विचार भी भारतीय काव्य-शास्त्र में अलंकार-प्रणाली के अन्तर्गत हुआ है।[4] किन्तु इस बात की ओर से भी उन्होंने सजग कर दिया है कि उपमा, रूपक आदि में लाये जाने वाले उपमानों को सर्वत्र प्रतीक मानना असंगत है। उन्होंने स्पष्ट कहा कि "प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं बल्कि भावना जाग्रत करने की निहित शक्ति है।"[5] इससे प्रकट है कि वे उसे अलंकार से सूक्ष्मतर और गंभीरतर वस्तु मानते हैं। उन्होंने अपना यह अभिमत अवश्य प्रकट किया है कि जिन उपमानों में प्रतीकता होती है उनमें भावोद्‌बोधन की अधिक क्षमता का रहना भी स्वाभाविक है।[6]

कुछ अलंकार ऐसे भी होते हैं जहाँ यह निश्चय करना प्राय: कठिन हो जाता है कि उन्हें भाव के अन्तर्गत रखा जावे अथवा अलंकार के। स्मरण, सन्देह और भ्रान्ति के प्रसंग ऐसे ही होते हैं। ऐसे प्रसंगों में ठीक पहचान करने के लिए शुक्ल जी अलंकार की ऊपर कही हुई परिभाषा को सामने रखने की ही सम्मति देते

---

१. र० मी०, पृ० ३३६।
२. चिं०, भाग २, पृ० २४१।
३. वही, पृ० २४०।
४. वही (काव्य में रहस्यवाद), पृ० १२१।
५. चिं०, भाग २, पृ० १२१।
६. वही, पृ० १२१।

हैं, जिसमें बताया गया है कि "जहाँ सदृश वस्तु लाने में कवि का उद्देश्य केवल रूप, गुण या क्रिया का उत्कर्ष दिखाना रहता है,"[1] वहीं अलंकारता मानी जानी चाहिए, अन्यत्र नहीं।

उन्होंने कुछ अलंकारों पर अलग से भी विचार किया है। 'स्मरण' अलंकार और भाव में एक अन्तर यह भी होता है कि अलंकार तो केवल सदृश वस्तु के समक्ष लाये जाने पर ही संघटित होगा किन्तु भाव तो किसी सम्बन्धी वस्तु के आ पड़ने पर भी उद्रिक्त हो जायेगा। उसी प्रकार 'भ्रम' नामक अलंकार में विषय ही प्रधान रहता है विषयी की प्रधानता से 'भ्रम' नामक भाव हो जाता है।[2]

'रूपक' अलंकार पर अलग से विचार करते हुए शुक्ल जी ने एक छोटी-सी समस्या का और उपस्थापन किया है। उन्होंने प्रमाणित किया है कि निरंग रूपक में तो सादृश्य और साधर्म्य दोनों का निर्वाह हो सकता है किन्तु सांग रूपक में किसी एक का होना भी सर्वत्र सम्भव नहीं।[3] साम्य का विस्तार अधिक दूर तक चल कर इस बात के लिए अवकाश नहीं छोड़ता कि सादृश्य या साधर्म्य सदैव निभता चला जाये। इसीलिये महाकवियों के लम्बे-लम्बे रूपक भी इस दृष्टि से सम्पूर्ण नहीं उतरते। हिन्दी की नयी कविता में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टान्त अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों के स्थान पर सांकेतिक, लाक्षणिक पदावली और अन्योक्ति की मनोरम योजना को इसीलिए शुक्ल जी ने अधिक पसन्द किया है—

"वह (साम्य) अब प्रायः थोड़े में या तो लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा झलका दिया जाता है अथवा कुछ प्रच्छन्न रूपकों में प्रतीयमान रहता है। इसी प्रकार किसी तथ्य या पूरे प्रसंग के लिए दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि का सहारा न लेकर अब अन्योक्ति पद्धति ही अधिक चलती है। यह बहुत ही परिष्कृत पद्धति है।"[4] शुक्ल जी की अलंकार-सम्बन्धी मान्यताओं का जो विवरण ऊपर दिया गया है उससे सिद्ध है कि वे 'भाव-योग' के बाह्य साधन के रूप में ही अलंकारों की प्रतिष्ठा चाहते हैं। जहाँ केवल अलंकार को ही काव्य का साध्य मान लिया जायेगा वहाँ उसका वास्तविक उद्देश्य श्रीहत हो जायेगा। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि 'भाव-योग' नामक मूल सिद्धान्त को ही केन्द्र में रखकर वे अलंकारों का सैद्धान्तिक विश्लेषण करते हैं।

रीति:

रीति के ऊपर उन्होंने कोई गंभीर तात्त्विक विचार नहीं प्रकट किये हैं; कारण यह है कि वे उसे काव्य का एक साधक उपादान-मात्र मानते थे जिसमें वर्णों का

---

१. र० मी०, पृ० ३६३।
२. वही, पृ० ३६३-६४।
३. वही, पृ० ३५७।
४. वही, पृ० ३४४।

विन्यास भाव का उपकारक बन जाता है। उन्होंने यह तो अवश्य स्वीकार किया कि "बहुत सी रचनायें तो केवल पद-लालित्य और छन्द की मधुरता के कारण ही लोकप्रिय होती हैं।"[१] किन्तु वामन की भाँति वे "रीतिरात्मा काव्यस्य" न कह सके। उन्होंने अपने इन्दौर वाले भाषण में इस बात का स्पष्ट निषेध किया है कि केवल 'मंजु, मंजुल, प्रांजल, उद्दण्ड, प्रचण्ड' आदि शब्दों से ही काव्य बन जायेगा।

छन्द-विधान :

छन्द का विचार शुक्ल जी ने कुछ अधिक विस्तार के साथ किया है। उनकी दृष्टि में "छन्द वास्तव में बंधी हुई लय के भिन्न-भिन्न ढांचों (Patterns) का याग है जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता है। लय स्वर के चढ़ाव-उतार के छोटे-छोटे ढाँचे ही हैं जो किसी छन्द के भीतर न्यस्त रहते हैं।"[२] प्रकृत काव्य में इन ढांचों का बना रहना वे आवश्यक समझते हैं, उसके सर्वथा त्याग से तो उन्हें 'अनुभूत नाद सौंदर्य' की प्रेषणीयता (Communicability of Sound Impulse) का प्रत्यक्ष ह्रास दिखाई पड़ता है।[3]

कविता के भीतर छन्दों के रहने से लाभ यह होता है कि पाठक उक्त ढाँचों की सीमा और लय-विस्तार को सरलता से पकड़ कर कविता में निहित नाद-सौन्दर्य तक पहुँच जाता है। इस सम्बन्ध में कोई नियत संकेत न होने पर अवश्य ही उसे भटकना पड़ेगा और ऐसे में काव्य-प्रभाव बिखर जायेगा। इसीलिए शुक्ल जी ने कहा है कि "अपनी पूर्णता के लिये (कविता) संगीत और चित्रकला दोनों की पद्धति का थोड़ा-बहुत सहारा लेती है।"[४] यदि हम छन्द के रूढ़ बन्धनों का परित्याग कर दें तो लय को तो अपनाना ही पड़ेगा और लय भी आचार्य की दृष्टि में "एक प्रकार का वन्धेज ही है।"[५] लेकिन शुक्ल जी कविता में केवल लय से पूरा पड़ता नहीं देखते, वे छन्द की आवश्यकता भी समझते हैं—

"जो कविता में केवल उतने ही नाद-सौंदर्य की जरूरत समझते हैं जितना केवल लय (Rhyme) के द्वारा सिद्ध हो जाता है उनसे हमें कुछ कहना नहीं है। हम अधिक की जरूरत समझते हैं और शायद बहुत से लोग ऐसा ही समझते हों।"[६]

प्रत्येक काव्य के इतिहास से ज्ञात होता है कि छन्दों के क्षेत्र में नित्य नूतन उद्भावनायें होती रहती हैं और अगणित नूतन छन्द सामने आते रहते हैं। छन्दों के

---

१. चिं०, भाग २, पृ० २४५।
२. वही, पृ० १५९।
३. वही, पृ० १५९।
४. वही, पृ० १५९।
५. वही, पृ० १६१।
६. वही, पृ० १६१।

ये नये बंधन शुक्ल जी को अमान्य नहीं।[१] मात्राओं और शब्द-समूहों के घटाने-बढ़ाने से संशोधित छन्दों में यदि नया संगीत उत्पन्न हो सके तो वह भी उन्हें स्वीकार है। संभवतः इसीलिए हिन्दी के नये कवियों को लक्ष्य करके उन्होंने कहा "छोटे बड़े चरणों की यदि योजना करनी हो तो भिन्न-भिन्न छन्दों के दो-दो चरण रखते हुए बराबर चले चलने में हम कोई हर्ज नहीं समझते।"[२]

वे कविता का तुकान्त होना अनिवार्य नहीं समझते और चरणों के विभिन्न प्रकार के मेल करने के पक्ष में अपनी सम्मति देते हैं।[३] फिर भी उनका यह विश्वास है कि "संस्कृत के वर्णवृत्तों का-सा माधुर्य अन्यत्र दुर्लभ है।"[४] हिन्दी में प्रचलित मात्रिक छन्दों और उनके योग से संघटित छन्दों में भी शुक्ल जी ने सौंदर्य का अनुभव किया है क्योंकि "इन छन्दों की लयों के भीतर नाद-सौन्दर्य की हमारी रुचि निहित है।"[५] छन्दहीन कविता की सराहना वे नहीं कर सके, यह बात वाल्ट ह्विटमैन की आलोचना से स्पष्ट है।[६]

काव्य का वर्गीकरण

रस-दृष्टि से :

जिस प्रकार शुक्ल जी रसात्मक अनुभूति की विभिन्न कोटियाँ मानते हैं उसी प्रकार उस अनुभूति के लिए विषय प्रस्तुत करने वाले कवियों और काव्यों की भी ऊँची-नीची कोटियाँ निर्धारित करते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि उन्होंने सम्पूर्ण वर्गीकरण रस को ही दृष्टि में रख कर किया है। अतः उन कवियों को जो लोक-सामान्य आलम्बनों के विधान का प्रयास करते और उसमें सफल होते हैं, उन्होंने सच्चे और ऊँचे कवियों की श्रेणी में रखा है। किन्तु जो कवि भावों के लिये उपयुक्त विषय प्रस्तुत करने के बजाय केवल आलंकारिक चमत्कार पर ही अपना ध्यान केन्द्रित कर देते हैं या कोरे उपदेशों के लिये छन्द-योजना का आश्रय लेते हैं वे सूक्तिकारों या नीतिकारों की श्रेणी में डाले गये हैं।

कविता और सूक्ति में तो शुक्ल जी ने स्पष्ट भेद स्थापित किया है। "जो उक्ति हृदय में कोई भाव जाग्रत कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे,

---

१. चिं०, भाग २, पृ० १५९।
२. वही, पृ० १६१।
३. हि० सा० इ०, पृ० ६४१।
४. वही, पृ० ६३८।
५. वही, पृ० ६३०।
६. चिं०, भाग २, काव्य में रहस्यवाद, पृ० १५८।

वह है सूक्ति।"[1] यह भेद-स्थापन भाव को ही केन्द्र में रखकर किया गया है—मार्मिक भावना में लीन होने का अर्थ है हृदय में किसी भाव का उदय होना। किन्तु इस नियम का प्रयोग सरलता के साथ सभी स्थानों पर नहीं किया जा सकता। ऐसी अनेक कवितायें हमारे समक्ष उपस्थित हो सकती हैं, और बराबर होती हैं, जिनमें एक ओर तो भावोद्बोधन की क्षमता भी रहती है और दूसरी ओर रचना-वैचित्र्य या चमत्कार का अनुरंजन भी। ऐसी जटिल परिस्थिति पाठकों के समक्ष बहुधा उपस्थित होती है। शुक्ल जी की धारणा है कि ऐसे प्रसंगों में केवल प्रधानता के आधार पर ही सूक्ति या काव्य का निर्णय किया जा सकता है। जब तक उक्ति की तह में रहने वाला भाव बिल्कुल ही आच्छन्न न हो जाये अर्थात् प्रस्तुत अर्थ का लोप ही न हो जाये तब तक उसे काव्य मानना समीचीन है।[2] तुलसी, सूर आदि के साथ रहीम को शुक्ल जी ने कवियों की श्रेणी में माना और सूक्तिकारों की अलग श्रेणी बनाते हुए कहा कि 'रीतिकाल के भीतर वृन्द, गिरिधर, घाघ और बैताल अच्छे सूक्तिकार हो गये हैं।'[3]

रस की ही दृष्टि से कवियों की एक निम्नतर श्रेणी निर्धारित करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा कि कुछ उपदेशक ऐसे होते हैं जो अपने पद्यों में वस्तु या अर्थ का बोध कराने के लिए "उपमा, रूपक आदि का प्रयोग कर देते हैं, पर समझाने के लिए ही करते हैं, रसात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए नहीं।"[4] ऐसे व्यक्तियों को वे केवल पद्यकार[5] कहते हैं। शुक्ल जी ने अपने इतिहास में काव्य के अन्तर्गत उक्त तीनों श्रेणियों—कवि, सूक्तिकार,[6] पद्यकार—में पड़ने वाले लेखकों का विचार किया है। इससे स्पष्ट है कि वे काव्यकारों की यही तीन कोटियाँ निर्धारित करते हैं, और इसी प्रकार कविता की भी तीन कोटियाँ प्रत्यक्ष हो जाती हैं।

---

१. चिं०, भाग १, पृ० १७१।

२. वही, पृ० १७२।

३. हि० सा० इ०, पृ० ३२४।

४. वही, पृ० २२४।

५. शुक्ल जी का यह अन्तर्विरोध लक्ष्य करने योग्य है कि उन्होंने एक बार गिरिधर को सूक्तिकारों की श्रेणी में गिनाकर (हि० सा० इ०, पृ० ३२४) फिर उन्हें इस तर्क के साथ पद्यकारों की कोटि में डाल दिया कि "इनमें न तो अनुप्रास आदि द्वारा भाषा की सजावट है, न उपमा उत्प्रेक्षा आदि का चमत्कार। कथन की पुष्टि मात्र के लिये (अलंकार की दृष्टि से नहीं) दृष्टांत आदि इधर-उधर मिलते हैं। कहीं-कहीं, पर बहुत कम, कुछ अन्योक्ति का सहारा इन्होंने लिया है। इन सब बातों के विचार से ये कोरे पद्यकार ही कहे जा सकते हैं, सूक्तिकार नहीं।"

—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २५६-५७।

६. तुलसी के लिए लिखा है—'दोहावली में गोस्वामी जी कवि और सूक्तिकार, इन दोनों रूपों में विराजमान हैं।'

—गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ७१।

रूप-रचना की दृष्टि से :

रचना-शैली को दृष्टि में रखकर भी शुक्ल जी ने अपनी काव्य-समीक्षा में कविता का वर्गीकरण किया है। जिस काव्य-रूप को उन्होंने सबसे अधिक महत्त्व दिया वह है प्रबन्ध-काव्य। इस काव्य-रूप की अनेक विशेषताओं का निरूपण अपनी पुस्तकों में यत्र-तत्र प्रसंग-वश किया है। उन सबके सम्मिलित रूप से उनकी प्रबन्ध-काव्य-सम्बन्धी धारणा स्पष्ट हो जाती है। इतिवृत्त का आधार लेकर ही प्रबन्ध-काव्य का निर्माण होता है। अतः सबसे प्रथम विचारणीय वस्तु वही है। शुक्ल जी कहते हैं कि "प्रबन्ध-काव्य में इतिवृत्त की गति इस ढंग से होनी चाहिए कि मार्ग में जीवन की ऐसी बहुत-सी दशायें पड़ जायें जिनमें मनुष्य के हृदय में भिन्न-भिन्न भावों का स्फुरण होता है और जिनका सामान्य अनुभव प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः कर सकता है।"[1] यदि भावों को उत्तेजना प्रदान करने वाले ऐसे मार्मिक प्रसंग किसी इतिवृत्त में सन्निविष्ट नहीं रहेंगे तो उसमें रसोद्बोधन की क्षमता नहीं उत्पन्न हो सकती। यदि काव्य में ऐसे रसात्मक स्थल पर्याप्त मात्रा में आ जाते हैं तो बीच के नीरस इतिवृत्तात्मक प्रसंग भी संपूर्ण प्रबन्ध के रस से रसवान् हो उठते हैं।[2] 'साहित्य-दर्पण' में भी इस मत का प्रतिपादन है। शुक्ल जी ने यह भी बताया है कि बात केवल इतनी ही नहीं है कि इतिवृत्त के अन्तर्गत रसात्मक प्रसंगों का सन्निवेश होना चाहिए बल्कि यह भी है कि रसात्मक प्रसंगों तक पहुँचने के लिए ही नीरस इतिवृत्त की योजना की जाती है।

माघ के "अनुज्झितार्थसंबंधः प्रबन्धो दुरुदाहरः" वाले प्रसंग को ध्यान में रखकर शुक्ल जी ने इतिवृत्त के संघटन में सबसे अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना घटनाओं या वृत्तों का सम्बन्ध-निर्वाह। और इस तत्त्व के ऊपर जायसी के प्रसंग में विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि सम्बन्ध-निर्वाह में "पहले तो यह देखना चाहिये कि प्रासंगिक कथाओं का जोड़ आधिकारिक वस्तु के साथ अच्छी तरह मिला हुआ है या नहीं अर्थात् उनका आधिकारिक वस्तु के साथ ऐसा संबन्ध है या नहीं जिससे उसकी गति में कुछ सहायता पहुँचती हो।"[3] प्रासंगिक वस्तु ऐसी होनी चाहिए जो किसी-न-किसी प्रकार आधिकारिक वस्तु को आगे बढ़ावे या किसी अन्य दिशा में मोड़ दे। आधिकारिक वस्तु के प्रकरण में शुक्ल जी ने यह स्थिर किया कि इसका सम्बन्ध मुख्यतः नायक से ही रहता है किन्तु उसके जीवन की सभी घटनाओं का विवरण देना प्रबन्धकार कवि के लिए आवश्यक नहीं। यदि वह घटनाओं को ही प्राधान्य देता है तो अवश्य ही उसकी कविता में विवरण का विस्तार अधिक मिलेगा किन्तु इसके विपरीत यदि वह व्यक्ति को प्रधानता देता है तो केवल मुख्य घटनाओं की

---

१. जायसी ग्रंथावली, भू०, पृ० ७०।
२. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ७१।
३. जायसी ग्रंथावली, भू०, पृ० ७२।

योजना इस उद्देश्य से करेगा कि उनके द्वारा नायक के किसी गुण या वैशिष्ट्य का उद्घाटन हो जाय।

यूनानी आचार्य अरस्तू ने जिसे कार्यान्वय या "यूनिटी आफ ऐक्शन" कहा है उसका निर्वाह शुक्ल जी जितना नाटक के लिये उचित समझते हैं उतना ही प्रबन्ध-काव्य के लिये भी। उनके अनुसार "जैसे दृश्य-काव्य का, वैसे ही प्रत्येक घटना-प्रधान प्रबन्ध-काव्य का एक कार्य होता है जिसके लिए घटनाओं का सारा आयोजन होता है जैसे रामचरित में रावण का वध।"[1]

अरस्तू के अनुसार कथा-वस्तु के आदि, मध्य और अन्त तीनों का परिस्फुट-रूप कार्यान्वय के अन्तर्गत ही प्रकट होना चाहिये। शुक्ल जी भी इस व्यवस्था से सहमत हैं और जायसी की आलोचना में इसका प्रयोग करते हैं।[2]

प्रबन्ध-काव्य के भीतर नियोजित उक्त कार्य नैतिकता, सामाजिकता आदि की दृष्टि से महान् होना चाहिए अथवा साधारण या निम्नकोटि का, इस सम्बन्ध में शुक्ल जी अपना कोई निर्णय नहीं देते—केवल पूर्व और पश्चिम की मान्यताओं का उल्लेख भर कर देते हैं। मैथ्यू आर्नोल्ड के मत को उद्धृत कर कहते हैं कि जिस प्रकार पूर्व के आचार्य प्रबन्ध-काव्य में महत् कार्य के आयोजन का नियम स्थिर कर गये उसी प्रकार पश्चिम में भी उसके समर्थक आलोचक विद्यमान थे।[3]

सम्बन्ध-निर्वाह के अन्तर्गत ही शुक्ल जी ने कथा की गति के विराम का उल्लेख किया है। इस विराम के दो लक्ष्य निर्दिष्ट किये जा सकते हैं—पहला तो वही है जिसे हम इतिवृत्त के अन्तर्गत समाविष्ट होने वाले रसात्मक प्रसंगों की योजना में देख चुके हैं, और दूसरा वह जिसमें कवि कथा-प्रसंगों को रोक कर किसी वस्तु का अत्यन्त विस्तृत और असंबद्ध वर्णन करने में लग जाय।[4]

प्रबन्ध-काव्य के अतर्गत दूसरी मुख्य विचारणीय बात उन्होंने यह मानी है कि कवि इतिवृत्त के अंतर्गत जिन रसात्मक प्रसंगों का सन्निवेश करता है उनका उचित निर्वाह—अर्थात् अपने वर्णन-कौशल द्वारा उनकी मार्मिकता का पूर्ण उद्घाटन—कर पाता है अथवा नहीं। प्रबन्धकार कवि की भावुकता की वास्तविक परीक्षा तो इसी बात से लग सकती है कि वह इन प्रसंगों को पहचान सका है अर्थात् इन्हें देखकर इनमें उसकी वृत्ति रमी है अथवा नहीं। "प्रबन्धकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं।"[5]

---

१. जायसी ग्रंथावली, भू०, पृ० ७२।
२. वही, पृ० ७४।
३. वही, पृ० ७५।
४. वही, पृ० ७५।
५. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ७८।

इन मार्मिक प्रसंगों का विस्तार प्रबन्ध-काव्यों में दो रूपों में उपलब्ध होता है—(१) कवि द्वारा वस्तु-वर्णन के रूप में; (२) पात्र द्वारा भाव-व्यंजना के रूप में।[१] वस्तु-वर्णन के प्रसंग में, जैसा हम पहले देख चुके हैं, शुक्ल जी बिम्ब-ग्रहण कराने को सच्चे कवि का कर्म समझते हैं, केवल अर्थ-बोध कराने को नहीं।[२] किन्तु प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत पात्र द्वारा जो वस्तु-व्यंजना होती है उसके सम्बन्ध में दो का ही विचार हो सकता है—एक, भावों की व्यापकता से सम्बन्ध रखने वाली दूसरी उसके उत्कर्ष से। एक में यह देखना आवश्यक है कि कवि की पहुँच कितने मानव-भावों तक है और दूसरे में यह कि उन भावों को वह कितने उत्कर्ष तक पहुँचा सका।[३]

'रामचरितमानस' पर विचार करते हुए प्रबन्ध-काव्य के महत्त्वपूर्ण अवयव के रूप में 'संवाद' का उल्लेख भी शुक्ल जी ने किया है।[४] प्रायः प्रत्येक प्रबन्ध-काव्य में पात्रों की योजना के साथ संवादों का विनियोग कवि को करना ही पड़ता है। यदि ये संवाद केवल चमत्कार उत्पन्न करने के लिये ही उपस्थित हों तो कवि के कौशल का परिचय नहीं देते किन्तु यदि ये भाव-प्रेरित हों और चमत्कार के साथ-साथ पात्रों की भाव-व्यंजना में भी सहायक बन जायें तो उनमें कवि का नैपुण्य लक्षित होने लगेगा। केशव के 'संवादों' की प्रशंसा करते हुए शुक्ल जी ने कहा, "इन संवादों में पात्रों के अनुकूल क्रोध, उत्साह आदि की व्यंजना भी सुन्दर है (जैसे लक्ष्मण, राम, परशुराम-संवाद, तथा लव-कुश के प्रसंग के संवाद) तथा वाक्-पटुता और राजनीति के दाव-पेंच का आभास भी प्रभावपूर्ण है।"[५] बिल्कुल भरती के संवाद प्रबन्ध-काव्य के रस को विकृत कर देते हैं।

केशव की आलोचना करते समय शुक्ल जी ने प्रबन्ध-काव्य के एक अन्य उपादान का उल्लेख किया है—स्थानिक विशेषता[६] (Local Colour)। बहुधा ऐसा होता है कि प्रबन्ध-काव्य का इतिवृत्त जिस मार्ग से जाता है उसमें मानव-जीवन की अनेक दशाओं के साथ जगत् की अनेक विभिन्न-धर्मी झाँकियाँ भी उपलब्ध होती हैं। दृश्यों के इस वैभिन्न्य को ध्यान में रखकर उन झाँकियों का अपने वास्तविक परिवेश में चित्रण करना ही स्थानिक विशेषता का निरूपण करना है। ऐसा करने के लिए प्रबन्धकार कवि के भीतर दो विशेषताओं का होना अनिवार्य है— पहली तो यह कि वह इस सत्य को पहचाने कि किस वस्तु का वर्णन कहाँ पर होना चाहिये यानी कौन-

---

१. जायसी ग्रन्थावली, भू०, पृ० ७८।
२. वही, पृ० ७८।
३. वही, पृ० ७८।
४. हि० सा० इ०, पृ० १४२।
५. वही, पृ० २१२।
६. वही, पृ० २१२।

सी वस्तु कहाँ होती है, और दूसरी यह कि उसकी वृत्ति उन झाँकियों में रम सके। कहना नहीं होगा कि यह दूसरी विशेषता वही है जिसका उल्लेख इतिवृत्त के रसात्मक प्रसंगों पर विचार करते हुए हम पहले कर चुके हैं, किन्तु वस्तुओं के स्थान की पहचान उससे अलग है और प्रबन्ध-काव्य का एक अनिवार्य तत्त्व है।

ऊपर दिये हुए विवरण से स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने प्रबन्ध-काव्य के गठन और रचनात्मक उपादानों का स्वरूप निर्धारित करते समय पश्चिम और पूर्व की कुछ मान्यताओं का आश्रय अवश्य लिया जैसे अरस्तू का 'कार्यान्वय' और माघ का 'अनुज्झितार्थ सम्बन्ध'। किन्तु इसके साथ ही इस क्षेत्र में उनकी मौलिक उद्भावनायें भी स्पष्ट हैं। मार्मिक प्रसंगों के चुनाव और कथा की गति के सामयिक विराम की बात उन्होंने अपनी ओर से जोड़ी।

प्रबन्ध-काव्य के वर्गीकरण का कुछ संकेत भी शुक्ल जी में उपलब्ध होता है। वस्तुतः, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखते समय उन्हें विभिन्न रूपों और शैलियों वाले प्रबन्धों का विचार करना पड़ा है और उसी अनुक्रम में उसकी विभिन्न श्रेणियाँ निर्धारित करके प्रायः सभी रचनाओं को किसी-न-किसी श्रेणी में डालते चले गये हैं। इस प्रकार, यह वर्गीकरण तात्त्विक अथवा सैद्धान्तिक तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु इसका महत्त्व अवश्य है।

रीतिकाल के 'अन्य कवियों' पर विचार करते हुए शुक्ल जी ने उनके प्रबन्ध-काव्यों को दो वर्गों में बाँटा है —(१) कथात्मक प्रबन्ध (२) वर्णनात्मक प्रबन्ध।[1] पहले वर्ग में उन्होंने जो काव्य-ग्रन्थ रखे हैं उन्हें देखते हुए, 'मानस' और 'पदमावत' को भी उन्हीं में स्थान मिल सकता है, यह अवश्य है कि इनमें काव्यत्व पूर्ण मात्रा में है और रीतिकालीन कथा-काव्यों में केवल अल्प मात्रा में। वर्णनात्मक प्रबन्धों में वस्तु-वर्णन का अत्यधिक विस्तार रहता है जैसे दानलीला, मानलीला, जलविहार इत्यादि ग्रंथों में। इस वर्णन का विस्तार जब सीमा का अतिक्रमण करने लग जाता है तब, "अच्छे-अच्छे वीरों का धैर्य छूट जाता है।"[2]

प्रबन्ध-काव्य का एक तीसरा रूप शुक्ल जी को आधुनिक काव्य का विवेचन करते समय मिला और वह है 'अन्तर्मुख प्रबन्ध'। 'निराला' जी के 'तुलसीदास' नामक काव्य-ग्रंथ के लिये उन्होंने कहा कि वह "एक बड़ी रचना है जो अधिकांश अन्तर्मुख प्रबन्ध के रूप में है।"[3] उनके विवेचन से प्रतीत होता है कि ऐसे प्रबन्ध में मनुष्य के अन्तर्जगत् की ही पूर्ण झाँकी मिलती है, बाह्य-जगत् की नहीं। 'छायावाद' की अनेक छोटी-छोटी प्रबन्धात्मक कवितायें भी इसी वर्ग में डाली जा सकती हैं।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३२२-३२३।
२. वही, पृ० ३२२-३२३।
३. वही, पृ० ७१९।

विस्तार और 'लक्ष्य' को ध्यान में रखकर शुक्ल जी ने प्रबन्ध-काव्य के दो रूपों—(१) महाकाव्य तथा (२) खण्डकाव्य—का भी उल्लेख कर दिया है—

"(भाव की) स्थायी दशा, महाकाव्य, खण्ड-काव्य आदि प्रबन्धों में होती है।"[१] किन्तु इन दोनों श्रेणियों में उन्होंने ग्रंथों को बाँट कर दिखाया नहीं।

मुक्तक-काव्य :

शुक्ल जी का यह वाक्य अत्यन्त प्रसिद्ध है कि "यदि प्रबन्ध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से यह सभा-समाजों के लिये अधिक उपयुक्त होता है।"[२] मुक्तक में रस की धारा नहीं रहती, केवल उसके छींटे ही उड़ते रहते हैं जो हमारे चित्त को थोड़ी देर के लिए सिक्त कर देते हैं। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि मुक्तक में जीवन-चर्या का संघटित क्रम लक्षित नहीं होता, केवल उसका कोई खण्ड दृश्य[3] ही सामने आता है, किन्तु वह दृश्य इतना मार्मिक होता है कि पाठक उसमें लीन होकर एक क्षण में ही रसानुभूति प्राप्त कर लेता है।

विस्तार के इस संकोच या मर्यादा के कारण मुक्तक लिखने वाले को "मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा-सा स्तबक कल्पित करके अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है।"[४] इसीलिए सफल मुक्तकों की रचना के लिये कवि में जहाँ एक ओर कल्पना की 'समाहार-शक्ति' होनी चाहिए वहाँ दूसरी ओर भाषा की समास-शक्ति भी। तभी वह कम-से-कम समय और साधनों के साथ अधिक-से-अधिक मार्मिक प्रभाव उत्पन्न कर सकता है।

अगर भाव की दशाओं की दृष्टि से विचार करें तो मुक्तक में 'भाव-दशा' या क्षणिक-दशा ही मिलेगी जो एक समय पर एक आलम्बन के प्रति होती है, 'स्थायी-दशा' या 'शीलदशा' नहीं। अन्तिम दोनों का सम्बन्ध केवल प्रबन्ध-काव्यों से है।

"क्षणिक-दशा मुक्तक रचनाओं में देखी जाती है, स्थायी दशा महाकाव्य, खण्ड-काव्य आदि प्रबन्धों में और शील-दशा पात्रों के चरित्र-चित्रण में।"[५] भाव-दशा की दृष्टि से मुक्तक और प्रबन्ध का उक्त भेद-निरूपण सर्वथा मौलिक और वैज्ञानिक है। मुक्तकों की अपेक्षा प्रबन्धों को शुक्ल जी ने जो इतनी अधिक प्रधानता दी उसका मनोवैज्ञानिक आधार यही है। जहाँ भाव की स्थायी दशा और शीलदशा की उपलब्धि नहीं होगी वहाँ काव्य का जीवन के साथ व्यापक सम्बन्ध स्थापित होना कुछ कठिन अवश्य होगा। उनका यह तर्क बड़ा प्रबल है, किन्तु प्रबन्धों को अधिक महत्त्व देने के लिए उनके पास और कारण भी थे। पहली बात तो यह थी कि भारतीय-दृष्टि

---

१. चिं०, भाग २, पृ० २३८।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २४७।
३. वही पृ० २४७।
४. वही, पृ० २४७।
५. चिं०, भाग २, पृ० २३९।

मुक्तकों की अपेक्षा प्रबन्ध काव्यों या आख्यान-काव्यों को अधिक महत्त्व देती चली आई थी। विवेचन तो मुक्तक-काव्य का भी पर्याप्त मात्रा में हुआ था पर उसे अपेक्षाकृत कम गौरव मिला। सुन्दर मुक्तक तो अनेक हो सकते थे परन्तु "अनुज्झितार्थ सम्बन्धो प्रबन्धो दुरुदाहरः" माना जाता था। दूसरी बात शुक्ल जी को यह दिखाई पड़ी कि मुक्तकों में अतिरंजित वर्णनों का इतना बाहुल्य था कि जीवन-वास्तव का सही चित्र कवि लोग नहीं प्रस्तुत कर पाते थे। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता तथा वस्तु-चित्रण और काल्पनिक-चित्रण आदि का सम्बन्ध मुक्तक की शैली से उतना नहीं है जितना कवि की आन्तरिक प्रवृत्ति से। अतः इस सम्बन्ध में शुक्ल जी का दृष्टिकोण एकांगी जान पड़ता है। तीसरी बात यह थी कि प्रगीत मुक्तकों में आत्माभिव्यक्ति का प्राधान्य था, उनमें गूढ़ मनोगत भाव की व्यंजना कभी सीधी और कभी प्रतीकात्मक शैली पर हुआ करती थी। इस पर से शुक्ल जी यह धारणा बना लेते हैं कि प्रगीत-मुक्तक में, आत्म-कामना और निजी 'योग-क्षेम की भावना' का पूर्ण परिहार नहीं हो पाता। किसी-न-किसी रूप में, उनका समावेश अवश्य हो जायेगा, परन्तु उच्चतम कोटि का काव्य, निजी 'योग-क्षेम' की भावना से सर्वथा निर्लिप्त रहता है। "अपनी व्यक्तिगत सत्ता की अलग भावना से हटाकर, निज के योग-क्षेम के सम्बन्ध से मुक्त करके, जगत् के वास्तविक दृश्यों और जीवन की वास्तविक दशाओं में जो हृदय समय-समय पर रमता रहता है, वही सच्चा कवि-हृदय है।"[1] शुक्ल जी की इस स्थापना से असहमत होने का कोई कारण नहीं, परन्तु यह मान लेना कि केवल प्रबन्ध-काव्यों में ही 'जगत् के वास्तविक दृश्यों' में रमाने की शक्ति होती है या हो सकती है, ठीक नहीं। वास्तव में यदि कवि की मूल प्रेरक अनुभूति में यथार्थ जीवन का स्पंदन विद्यमान है और उनकी वस्तून्मुखी दृष्टि जगत् के अन्तर्बाह्य सौंदर्य का साक्षात्कार कर सकती है, तो कोई कारण नहीं कि उसके मुक्तकों में 'जीवन के वास्तविक दृश्यों' की झाँकी न दिखाई पड़े। आत्मानुभूति यदि लोकानुभूति के संदर्भ में ठीक बैठ सकती है तो शैली की भिन्नता के कारण कोई कठिनाई नहीं उपस्थित होती। शुक्ल जी ने स्वयं आगे चलकर लिखा, "गीतावली गीत-काव्य है पर उसमें भी भावों की व्यंजना उसी रूप में हुई है जिस रूप में मनुष्यों को उनकी अनुभूति हुआ करती है या हो सकती है।"

चौथी बात यह थी कि मुक्तकों में रस के छींटे ही उड़ते हुए दिखाई पड़ते थे, अजस्र प्रवाह नहीं था। रसवादी आचार्य के लिए काव्य-रस का अजस्र प्रवाह ही अधिक मूल्यवान था, कुछ थोड़े-से रस-बिन्दुओं से उसकी परितृप्ति कहाँ हो सकती थी? बिहारी की आलोचना करते हुए अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में उन्होंने लिख भी दिया कि "प्रबन्ध यदि एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ६७।

गुलदस्ता है, इसी से यह सभा-समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है।"[1] यह सत्य है कि मुक्तक या गीति-काव्य में विलम्बमयी रमणीयता का अभाव होता है और इस लिए चित्त को किसी विशेष भाव से चिरकाल तक आन्दोलित-आह्लादित करने की शक्ति उसमें नहीं होती।

पाँचवीं बात यह थी कि मुक्तकों की सुदीर्घ परम्परा में जीवन के सिद्ध-पक्ष या उपभोग-पक्ष को ही काव्य का उपजीव्य बनाया गया था—अधिकांश मुक्तकों में शृंगार रस के संयोग और वियोग पक्षों का ही चित्रण रहता था। कहीं-कहीं इसी प्रेम-भाव को एक विलक्षण रहस्यानुभूति के रूप में व्यक्त कर दिया जाता था। शुक्ल जी के काव्यगत दृष्टिकोण से परिचित प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता है कि जीवन के प्रयत्न-पक्ष या लोक-मंगल की साधनावस्था को काव्य के सर्वश्रेष्ठ उपजीव्य के रूप में ग्रहण करने का आग्रह वे सदैव करते रहे। सिद्ध-पक्ष या भोग-पक्ष में उन्हें कर्म-शीलता का उत्साहमूलक सौन्दर्य दिखाई नहीं पड़ता था। इसलिए मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्य को वे अधिक महत्त्व देते रहे। यद्यपि काव्य में लोक-मंगल की सिद्धावस्था अथवा साधनावस्था का निरूपण शैली से अनिवार्यतः सम्बद्ध नहीं है (ऐसे भी अनेक मुक्तक लिखे गये जिनमें साधनावस्था के मनोरम चित्र हैं, जैसे 'निराला' की 'सरोज-स्मृति' शीर्षक कविता और दूसरी ओर ऐसे प्रबन्ध-काव्यों की भी कमी नहीं जिनमें सिद्ध-पक्ष ही प्रधान हो उठा है जैसे 'साकेत') तथापि ऐतिहासिक परम्परा और रचनाओं के परिमाण की दृष्टि से सिद्ध-पक्ष-प्रधान मुक्तक ही अधिक लिखे गये।

छठी बात यह थी कि शुक्ल जी विभाव-पक्ष पर अधिक बल देते थे भाव-पक्ष पर कम। प्रबन्ध के भीतर विभाव के विस्तार की पूरी सम्भावना रहती है, किन्तु मुक्तक के भीतर सीमा के संकोच के कारण, आत्माभिव्यक्ति या भाव-पक्ष ही प्रधान हो उठता है। इसलिए स्वाभाविक था कि वे प्रबन्ध की ओर विशेष झुकाव रखते।

सातवीं बात यह थी कि विषय की गोचरता जितनी प्रबन्ध में आवश्यक रहती है उतनी मुक्तक में नहीं। नये प्रगीत मुक्तकों में तो अगोचर का चित्रण बड़ी धूम-धाम से हो रहा था। किन्तु जैसा हम पहले देख चुके हैं, 'अगोचर' को भाव के आलम्बन के रूप में स्वीकार करने के लिए शुक्ल जी कभी तैयार नहीं थे। इसलिए भी मुक्तकों की ओर से वे उदासीन रहे।

प्रबन्ध के पक्ष में उनके वही तर्क हो सकते हैं जो ऊपर दिये गये हैं। लेकिन उनकी आलोचनाओं में ऐसे भी संकेत मिलते हैं जो मुक्तक के पक्ष में बड़े प्रबल तर्क की सृष्टि कर सकते हैं। उन्होंने प्रबन्धकार कवि की कुशलता का सबसे बड़ा प्रमाण यह माना कि कथा के बीच में पड़ने वाले मार्मिक प्रसंगों को वह पहचान सका अथवा नहीं, उन प्रसंगों में रमने और रमाने की शक्ति उसके भीतर है अथवा नहीं। इन

---

१. हि० सा० इ०, पृ० २४७।

प्रश्नों का समाधान पाकर ही हम प्रबन्धकार कवि की सफलता-असफलता का निर्णय कर सकते हैं। किन्तु इन मार्मिक प्रसंगों को पहचानने और उनमें रमने का तात्पर्य क्या है ? इन प्रसंगों की निजी विशिष्टता क्या है ? विचार करने पर विदित होगा कि प्रबन्ध कथानक के भीतर भी प्रगीतात्मक (Lyrical) प्रसंग और तत्त्व रहते हैं; उनका चित्रण भी प्रगीतात्मक शैली पर ही होता है। उनमें सहृदय को रमाने की अपूर्व शक्ति होती है। अतः जिसे हम मार्मिक प्रसंग की पहचान या रमणीयता कहते हैं, वह और कुछ नहीं, केवल प्रबंध के अन्तर्गत आने वाला प्रगीतात्मक प्रसंग और उसकी रमणीयता ही है। मुक्तकों में भावों की जैसी सघनता और अन्विति दिखाई पड़ती है, उसी का समावेश प्रबन्ध के मार्मिक प्रसंगों में भी हो जाता है। इस प्रकार प्रबन्ध और मुक्तक की समन्वित कला भाव-व्यंजना को पूर्णता प्रदान करके अतिरिक्त रमणीयता का सृजन करती है। जब तक प्रबन्ध के भीतर प्रगीतात्मकता का सन्निवेश नहीं होता तब तक उसकी पूर्ण कला का प्रस्फुटन असम्भव ही समझिए। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से शुक्ल जी प्रगीत-मुक्तक की शैली का समर्थन ही कर गये, यद्यपि उसे विशुद्ध रूप में ग्रहण करना वे बहुत अच्छा नहीं समझते थे।

प्रबन्ध-काव्य की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में उनकी युक्तियाँ चाहे कैसी ही प्रबल क्यों न हों किन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि मुक्तक-काव्य और विशेषकर प्रगीत-मुक्तक की समीक्षा में यह दृष्टिकोण बाधा-स्वरूप हुआ और वे अक्सर उसका अव-मूल्यन कर गये।

प्रबन्ध और मुक्तक के अतिरिक्त गीत काव्यों की स्वतन्त्र परम्परा पर भी शुक्ल जी ने विचार किया है। गीत-काव्य का मूल स्रोत उन्होंने जनता के बीच चिरकाल से प्रचलित लोक-गीतों में देखा है और उसके महत्त्व की ओर संकेत करते हुए कहा है "देश की अन्तर्वर्त्तिनी मूलभावधारा के स्वरूप के ठीक-ठीक परिचय के लिए ऐसे गीतों का पूर्ण संग्रह बहुत आवश्यक है।"[१] 'सूरसागर' के विषय में भी उन्होंने लिखा है कि वह "किसी चली आती हुई गीत-काव्य परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।"[२]

गीत-काव्य में जीवन की अनेकरूपता या प्रयत्न-पक्ष का निदर्शन नहीं होता, इसीलिए मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की अपेक्षा लीला पुरुषोत्तम कृष्ण का चरित्र उसके लिए अधिक उपयुक्त है।[३]

गीत-काव्य में वस्तु-व्यंजना और भाव-व्यंजना दोनों पाई जाती हैं किन्तु दोनों में ही अधिकतर कवियों का ध्यान अतिरंजना की ओर अधिक रहता है।[४] शुक्ल जी

---

१. हि० सा० इ०, पृ० १६६।
२. वही, पृ० १६५।
३. वही, पृ० १६५।
४. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ६७।

ने प्रारम्भ में ही विभाजन करते हुए कहा है कि "काव्य के दो स्वरूप हमें देखने में आते हैं—अनुकृत (इमिटेटिव) या प्रकृत (रियलिस्टिक) तथा अतिरंजित (एग्जेजरेटिव) या प्रगीत (लिरिकल)।"[१] गीत-काव्य के अर्थ में ही यहाँ 'प्रगीत' का प्रयोग समझना चाहिए क्योंकि उसी अध्याय में वे जब तुलसीदास की प्रवृत्ति का उल्लेख करने लगे तब उन्हें प्रगीत की ओर झुका न बता कर प्रकृत-काव्य यानी प्रबन्धकाव्य की ओर झुका हुआ बताया।[२]

मुक्तकों के समान आधुनिक हिन्दी कविता में प्रगीत मुक्तकों (Lyrics) का जो व्यापक प्रचार दिखाई पड़ा उसे शुक्ल जी ने एक अलग श्रेणी में रखा और उसके ऊपर योरोपीय प्रभाव देखा योरोपीय प्रभाव की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा "बात यह है कि प्रवृत्ति अन्तर्वृत्ति-निरूपक (Subjective) प्रगीत-मुक्तकों की ओर ही अधिक हो जाने के कारण बाह्यार्थ-निरूपिणी (Objective) प्रतिभा का ह्रास हो गया·····।"[३] और गुप्त जी के 'साकेत' की चर्चा में तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि उनकी इच्छा काव्य लिखने की उस समय हुई "जब उनकी प्रवृत्ति देखा-देखी अंगरेजी ढंग के फुटकल प्रगीत काव्यों (Lyrics) की ओर हो चुकी थी।"[४] इस उद्धरण से यह सिद्ध तो हो जाता है कि शुक्ल जी प्राचीन मुक्तकों से नवीन छायावादी मुक्तकों को भिन्न समझते हैं लेकिन उन्होंने दूसरे का कहीं ऐसा विश्लेषण नहीं किया जिससे उसका ठीक-ठीक लक्षण-निरूपण हो सके। इसका कारण यही था कि वे इस नवीन शैली को अपनी सहानुभूति न दे सके।

काव्य की उपर्युक्त बाधाओं का निरूपण करने के बाद यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्हीं के समानान्तर उनके रचयिताओं के वर्ग बन सकते हैं। शुक्ल जी ने सभी प्रकार के कवियों की उन प्रवृत्तियों को लक्ष्य किया है जो विभिन्न शैलियों में सफलता का कारण बनती हैं और जिनका होना रचयिताओं में अनिवार्य है। ये प्रवृत्तियाँ काव्य-रूपों के उन्हीं रचनात्मक उपादानों को लक्ष्य करके निरूपित की गई हैं। अतः उनका अलग से उल्लेख करना यहाँ अनावश्यक है।

उन्होंने काव्य के रचयिता अथवा विषय के प्राधान्य की दृष्टि से स्वानुभूति-निरूपक (Subjective) और बाह्यार्थ निरूपक (Objective) काव्य-भेदों का भी अपनी प्रयोगात्मक आलोचना में उपयोग कर लिया है।[५] किन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करते हुए वे उस भेद को अनावश्यक ठहरा देते हैं। उनका कहना है कि

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ६७।
२. वही, पृ० ६८।
३. चिं०, भाग २, पृ० २३३।
४. वही, पृ० २३४।
५. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ७५-७६।

"यह भेद स्थूल दृष्टि से ही किया हुआ है।" वास्तव में कवि जिन बाहरी वस्तुओं को ग्रहण करता है उन्हें भी अपनी अनुभूति में ढालकर अपना ही बना डालता है, प्रत्येक दशा में वह स्वानुभूति की ही व्यंजना करता है, परानुभूति की नहीं। अतः उक्त भेदों का कोई तात्त्विक आधार नहीं। इसीलिए शुक्ल जी ने कह दिया है कि आलोचना में इसका उपयोग इस उद्देश्य से किया जा रहा है कि उन पाठकों का समाधान हो जाय जो "विलायती दृष्टि" से प्रत्येक चीज को देखा करते हैं।[१]

काव्य के वर्गीकरण का एक आधार शुक्ल जी ने और निरूपित किया है—साधन-सिद्ध-पक्ष। कुछ काव्य ऐसे होते हैं जो जीवन के प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलते हैं और संघर्ष लीन पात्रों की मनोदशाओं और घटनाओं का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं जैसे रामचरित मानस। दूसरे काव्य वे होते हैं जिनकी दृष्टि मुख्यतया जीवन के रमणीय सिद्ध-पक्ष पर होती है—जैसे मेघदूत या सूरसागर।[२] जिस सिद्धान्त के आधार पर शुक्ल जी ने यह भेद-निरूपण किया है उसका विचार अलग किया गया है, यहाँ केवल इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि यह वर्गीकरण बहुत वास्तविक और उनकी व्यावहारिक आलोचना के लिए अत्यन्त उपादेय सिद्ध हुआ है। सभी प्रकार के काव्यों और कवियों को हम इन दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

काव्येतर साहित्य :

जैसा पहले कहा गया है, शुक्ल जी ने काव्य से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों पर ही विस्तार से विचार किया, काव्येतर साहित्य के सम्बन्ध में उनकी मान्यतायें केवल प्रसंगतः ही व्यक्त हुई। यदि वे हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने नहीं जाते तो कदाचित् इन मान्यताओं के व्यक्त होने का अवसर भी नहीं मिलता। इस त्रुटि की ओर उनका ध्यान गया अवश्य, किन्तु 'भावयोग' का जो सिद्धान्त लेकर वे चले थे उसमें तात्त्विक रूप से अन्य शैलियों के परीक्षण की सामर्थ्य होते हुए भी, व्यौरेवार विश्लेषण की क्षमता नहीं थी। कारण, रस-शास्त्र की पुरानी शब्दावली में नये काव्य का मूल्यांकन जैसे-तैसे भले ही कर लिया जाय लेकिन उपन्यासों, कहानियों आदि के परीक्षण में उससे विशेष सहायता नहीं मिल पाती। काव्य-रस से उपन्यास कहानी के रस की विभिन्नता प्रदर्शित करने के लिए तो शुक्ल जी ने भी अनेक बार कहा कि कविता सुनना और कहानी सुनना एक ही चीज नहीं। एक में रमणीयता का प्राधान्य है तो दूसरे में कौतूहल और जिज्ञासा का। एक में श्रोता, सुनी हुई बात को बार-बार सुनकर उसमें रमना चाहता है और दूसरे में आगे का वृत्त जानने के लिए

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ७५।

२. सूरदास (काव्य में लोक मंगल), पृ० १२१।

समुत्सुक रहता है। इससे प्रकट है कि भाव-योग की एक निश्चित मर्यादा है जिसको अधिक प्रसारित करना शुक्ल जी उचित नहीं समझते। लेकिन काव्येतर साहित्य के सम्बन्ध में जो विचार उन्होंने व्यक्त किये हैं, और जो मान्यतायें निर्धारित की हैं उनका मूल्य कम नहीं। वे भाव-योग के विरुद्ध भी नहीं पड़तीं किन्तु उस सिद्धान्त का विस्तृत निर्वाह उनके भीतर दिखाई नहीं पड़ता। आगे उनकी ऐसी मान्यताओं के स्पष्टीकरण का प्रयास किया जा रहा है।

निबन्ध:

इन्दौर वाले भाषण में शुक्ल जी ने कहा है "ऐसे प्रकृत निबन्ध जिनमें विचार-प्रवाह के बीच लेखक के व्यक्तिगत भाव वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भावों की अच्छी झलक हो, हिन्दी में अभी कम देखने में आ रहे हैं।"[१] इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि वे निबन्ध के प्रकृत स्वरूप के विधान में (१) विचार-प्रवाह (२) व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य और (३) हृदय के भावों की झलक, का उपयोग अनिवार्य मानते थे। विचार-प्रवाह से उनका तात्पर्य शृंखलाबद्ध गूढ़-गुम्फित विचारों की परम्परा से था; व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य को वे शैली और भाषा का वैशिष्ट्य मानते थे, और हृदय के भावों की झलक से उनका प्रयोजन सरसता के संचार का था। किसी सुगठित सरस निबन्ध में उक्त तीनों तत्त्व किसी-न-किसी मात्रा में सन्निविष्ट मिलेंगे।

गद्य-साहित्य के अन्तर्गत निबन्ध का महत्त्व कितना अधिक है, इसका संकेत शुक्ल जी के निम्नांकित प्रसिद्ध वाक्य में मिलता है, "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।"[२] किसी भाषा का गद्य कितना अधिक विकास प्राप्त कर सका है, उसमें विवेचन-विश्लेषण की कितनी अधिक क्षमता उत्पन्न हो चुकी है, और जीवन की जटिल अनुभूतियों और चिन्ताओं को व्यक्त करने में वह कितना सफल हो सका है—आदि प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर उस भाषा-विशेष के निबन्ध-साहित्य के परिशीलन से ही प्राप्त हो सकता है। शुक्ल जी ने बताया है कि निबन्ध की इसी गरिमा को ध्यान में रखकर गद्य शैली के विवेचक उदाहरणों के लिये अधिकतर निबन्ध ही चुना करते हैं।[3]

शुक्ल जी निबन्धों के इस पाश्चात्य लक्षण से सहमत हैं कि उसमें व्यक्तिगत विशेषता या लेखक का व्यक्तित्व स्फुट होना चाहिए किन्तु व्यक्तित्व के स्फुट होने का क्या अर्थ है, इसकी ओर संकेत कर देना वे अनिवार्य समझते हैं। निबन्ध में वैयक्तिकता का प्राधान्य होने से जो विचार और भाव सम्बन्धी उच्छृंखलता उत्पन्न होगी उसकी आशंका पैदा करते हुए वे कहते हैं—

---

१. चिं०, भा० २, पृ० २५९।
२. हि० सा० इ०, पृ० ५०५।
३. वही, पृ० ५०५।

"व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला रखी ही न जाय, या जानबूझ कर जगह-जगह से तोड़ दी जाय, भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ-योजना की जाय जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोक-सामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा से सरकसवालों की सी कसरतें या हठयोगियों के से आसन कराये जाएँ जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।"[१]

उक्त अवतरण से सिद्ध है कि व्यक्ति-वैचित्र्यवाद चाहे काव्य में हो चाहे निबन्ध में, शुक्ल जी द्वारा उसके विरोध का आधार केवल एक है—व्यक्त अनुभूतियों का साधारणीकरण होता है अथवा नहीं। निबन्ध लेखक के विचार, उसकी भाषा और उसके भाव लोक-सामान्य होने पर ही चरितार्थ हो सकते हैं। अपने व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य की रक्षा करता हुआ भी वह उक्त तत्त्वों को सर्वजन-संवेद्य बना सकता है। शुक्ल जी लेखक की विचारगत विशेषता को नीचे लिखे ढंग से लक्षित करते हैं। "निबन्ध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ-सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है।"[२] इसी अर्थगत विशेषता के आधार पर शैली या भाषा सम्बन्धी विशेषता खड़ी हो सकती है। "जहाँ नाना अर्थ-सम्बन्धों का वैचित्र्य नहीं, जहाँ गतिशील अर्थ की परम्परा नहीं, वहाँ एक ही स्थान पर खड़ी-खड़ी तरह-तरह की मुद्रा और उछल-कूद दिखाती हुई भाषा केवल तमाशा करती हुई जान पड़ेगी।"[३]

तत्त्व-चिन्तक या वैज्ञानिक से निबन्ध लेखक को अलग करते हुए शुक्ल जी उसकी इस विशेषता की ओर संकेत करना नहीं भूलते कि "निबन्ध लेखक जिधर चलता है उधर अपनी संपूर्ण मानसिक सत्ता के साथ अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों लिये हुए।"[४] बुद्धि और हृदय के साहचर्य को वे अपने निबन्धों में प्रदर्शित कर गये हैं—

"यात्रा के लिये निकलती रही है बुद्धि पर हृदय को भी साथ लेकर।"[५]

शैली-शिल्प और विषय-वस्तु को दृष्टि में रख कर आचार्य शुक्ल ने निबन्धों का वर्गीकरण भी कर दिया है। वे केवल तीन वर्गों का उल्लेख करते हैं—विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक। किन्तु ऐसा संकेत दे देते है-कि "निबन्ध या गद्य-विधान

---

१. हि० सा० इ०, पृ० ५०५।
२. वही, पृ० ५०६।
३. वही, पृ० ५०७।
४. वही, पृ० ५०६।
५. चिं०, भाग १, (निवेदन)।

कई प्रकार के हो सकते हैं।"[१] फिर इन वर्गों में भी लक्ष्य भेद से कई अवांतर भेद हो सकते हैं और कई प्रकार की शैलियाँ निर्धारित की जा सकती हैं, जैसे "विचारात्मक निबन्धों में व्यास और समास की रीति, भावात्मक निबन्धों में धारा, तरंग और विक्षेप की रीति।"[२] इन शैलियों के आधार पर भी निबन्धों का वर्गीकरण हो सकता है और होता है।

पाठकों की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि के निबन्ध का यही लक्ष्य हो सकता है कि उससे श्रम-साध्य नूतन उपलब्धि हो।[३] 'श्रम-साध्य' कहने का यह अर्थ नहीं कि लेखक की शैली अनावश्यक रूप से दुर्बोध या जटिल हो। शैली की दुर्बोधता और जटिलता उसी अवस्था में श्लाघ्य हो सकती है जब उसके भीतर से कोई नूतन उपलब्धि हो, पाठक के ज्ञान में वास्तविक वृद्धि हो। यदि जटिल शैली के अनुपात में ही वस्तु-सत्य का गांभीर्य और विस्तार न हो तो लेखक का सारा प्रयास व्यर्थ होगा। संक्षेप में शुक्ल जी की निबन्ध-सम्बन्धी मान्यताओं का यही स्वरूप है। ध्यान देने की बात यह है कि वे हल्के-फुल्के ढंग से लिखे निबन्धों को विशेष महत्त्व नहीं देते। विचारों की ठोस गूढ़-गुम्फित परम्परा का होना उसके लिये अत्यन्त अनिवार्य मानते हैं। भावात्मक निबन्धों के प्रति भी उनकी उतनी सहानुभूति नहीं मालूम होती जितनी विचारात्मक निबन्धों के प्रति। यह उनके विवेचन से सहज स्पष्ट है।

समालोचना:

साहित्य-समालोचना शुक्ल जी का प्रधान कार्य-क्षेत्र है। अतः इस सम्बन्ध में उन्होंने अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से विचार भी किया। समालोचना को शुक्ल जी केवल गुण-दोष-कथन के रूप में ग्रहण करना ठीक नहीं समझते, वे उसके गम्भीरतर उद्देश्य का निरूपण करते हैं। उन्होंने लिखा है—"इस तृतीय उत्थान में समालोचना का अर्थ भी बदला। गुण-दोष के कथन के आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और उनकी अन्तःप्रकृति की छान-बीन की ओर भी ध्यान दिया गया।"[४] जब तक काव्य के मूल स्रोत—कवियों की अन्तःप्रकृति का—विश्लेषण नहीं होता तब तक आलोचना से लाभ क्या ?

विषय-विवेचन और उद्देश्य को लक्ष्य कर शुक्ल जी ने समालोचना के दो मार्ग निर्धारित किये हैं—(१) निर्णयात्मक (जूडीशियल मेथड) (२) व्याख्यात्मक (इण्डक्टिव क्रिटिसिज़्म)।[५] पहले मार्ग का उन्होंने निम्नांकित लक्षण बताया—

---

१. हि० सा० इ०, पृ० ५०५।
२. वही, पृ० ५०५।
३. वही, पृ० ५५८।
४. वही, पृ० ५६२।
५. वही, पृ० ५२६।

"निर्णयात्मक आलोचना किसी रचना के गुण-दोष निरूपित करके उसका मूल्य निर्धारित करती है।" इसीलिए उसमें कहीं तो विवेच्य कवि की प्रशंसा होती है कहीं निन्दा। दूसरी ओर व्याख्यात्मक समीक्षा "अपने शुद्ध रूप में काव्य-वस्तु ही तक परिमित रहती है अर्थात् उसी के अंग-प्रत्यंग की विशेषताओं को ढूंढ़ निकालने और भावों की व्यवच्छेदात्मक व्याख्या करने में तत्पर रहती है।"[१] काव्य-वस्तु और शैली का वास्तविक विश्लेषण इस प्रणाली में ही संभव है। किन्तु व्याख्या करते समय आलोचक अपनी प्रवृत्ति और अभिरुचि के अनुसार विभिन्न तत्त्वों में से किसी एक को अधिक महत्त्व दे सकता है और देता है। इससे विभिन्न तत्त्वों की प्रधानता को लक्ष्य करके व्याख्यात्मक आलोचना के अनेक रूपों का निर्धारण किया जा सकता है, उदाहरण के लिये ऐतिहासिक समीक्षा (हिस्टोरिकल क्रिटिसिज़्म)। इसका लक्ष्य यह निर्दिष्ट करना होता है कि किसी रचना का उसी प्रकार की और रचनाओं से क्या सम्बन्ध है और उसका साहित्य की चली आती हुई परम्परा में क्या स्थान है।[२] इसी प्रकार व्याख्यात्मक आलोचना का एक दूसरा प्रकार मनोवैज्ञानिक आलोचना (साईकलोजिकल क्रिटिसिज़्म) है जिसके अन्तर्गत कवि के जीवन-क्रम और स्वभाव आदि के अध्ययन द्वारा उसकी अन्तर्वृत्तियों का सूक्ष्म अनुसंधान[३] भी रहता है। इसी प्रकार आचार्य शुक्ल ने दर्शन, विज्ञान आदि की दृष्टि से भी व्याख्यात्मक आलोचना के अनेक भेदों की ओर संकेत कर दिया है।[४]

यद्यपि आलोचना का उक्त स्वरूप योरोपीय समीक्षा का ध्यान रखकर निरूपित किया गया है तथापि इसे शुक्ल जी द्वारा किये गये सामान्य विवेचन या वर्गीकरण के रूप में ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। हिन्दी आलोचना में भी ये प्रवृत्तियाँ लक्षित की जा सकती हैं।

किन्तु निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचनाओं के अतिरिक्त भी आलोचना के अन्य वर्ग होते हैं—इसमें सब से मुख्य है प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा (इम्प्रेशनिस्ट क्रिटिसिज़्म)। इस समीक्षा में आलोचक किसी सामान्य सिद्धान्त का उपयोग नहीं करता, केवल रचना के मार्मिक प्रभाव को ग्रहण कर, अपनी भाषा में अंकित कर देता है। प्रभाववादियों का पक्ष यह है : हमारे चित्त पर किसी काव्य से जो आनन्द उत्पन्न होता है वही आलोचना है। इससे अधिक आलोचना और चाहिए क्या! जो प्रभाव हमारे चित्त पर पड़े उसी का वर्णन यदि हमने कर दिया तो समालोचना हो गई।"[५] आलोचना की इस प्रणाली का आचार्य शुक्ल ने जोरदार खण्डन

---

१. हि० सा० इ०, पृ० ५२६।
२. वही, पृ० ५२७।
३. वही, पृ० ५२७।
४. वही, पृ० ५२७।
५. वही, पृ० ५७१।

किया, यहाँ तक कि वे इसे समीक्षा मानने में भी संकोच करने लगे—"प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु ही नहीं। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है, न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है।"[१] समीक्षा की इस प्रणाली पर व्यंग्य करते हुए शुक्ल जी ने श्री जे० ई० स्पिगर्न महोदय के उस मत को उद्धृत किया है जिसमें उन्होंने इसे फैमिनिन क्रिटिसिज़्म (जनानी समीक्षा) कहा है। अपने इन्दौर वाले भाषण में उन्होंने तत्कालीन सहयोगियों से निवेदन किया कि "भाइयो कुछ 'मरदानी' समीक्षा भी होनी चाहिये।"[२]

शुक्ल जी का यह विचार है कि समीक्षा की यह प्रणाली हिन्दी में स्वतन्त्र रूप से विकसित नहीं हुई है बल्कि योरुप से चलकर बंगाल होती हुई यहाँ आ पहुँची। इसके अकल्याणकर प्रभाव को ध्यान में रखकर उन्होंने कहा "बात यह है कि इधर अभिव्यंजना का वैचित्र्य लेकर छायावाद चला, उधर उसके साथ ही प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा (इम्प्रेशनिस्ट क्रिटिसिज्म)का फैशन बंगाल हो ता हुआ आ धमका। इस प्रकार की समीक्षा के चलन ने अध्ययन, चिन्तन और प्रकृत समीक्षा का रास्ता ही छेंक लिया।[३]"

प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा की कुछ अपनी विशेषतायें भी हैं जिनका उद्घाटन होना चाहिये था किन्तु आचार्य शुक्ल ने उन पर ध्यान नहीं दिया। आलोचक भी अंततोगत्वा एक रसग्राही पाठक ही है और यदि वह ईमानदारी से अपने ऊपर पड़े हुए प्रभावों का विश्लेषण कर दे तो उसके प्रभावों और विचारों से हमारा तादात्म्य अवश्य होगा। वह सत्य का ही उद्घाटन करता हुआ माना जायेगा। इसलिये दोष उस समीक्षा-पद्धति का नहीं है आलोचक के दृष्टिभेद का है। इस समीक्षा के भीतर विश्लेषण का प्रभाव बताया जाता है किन्तु यदि प्रयास किया जाय तो तात्त्विक विवेचन का विकास भी उसके भीतर सर्वदा संभव है।

लेकिन शुक्ल जी का ध्यान उन आलोचकों की ओर है जिन्होंने अपनी दुर्बलता को छिपाने के लिये आलोचना के वास्तविक रूप को विकृत कर दिया था और लगभग सभी प्रभाववादी समीक्षक इस दोष के कुछ-न-कुछ भागी अवश्य बन जाते हैं।

ऊपर दिये हुए विवरण से स्पष्ट है कि शुक्ल जी आलोचना की व्याख्यात्मक प्रणाली को ही सबसे अधिक लाभप्रद और वैज्ञानिक मानते हैं। यह प्रश्न अलग है कि कला-कृति के परीक्षण के लिये मुख्य कसौटी क्या हो सकती है। इस प्रश्न का संबंध, वस्तुतः शुक्ल जी की उस सम्पूर्ण साहित्यिक विचारणा से है जिसका परिचय ऊपर दिया गया है। साहित्य के सामान्य प्रश्नों और समस्याओं पर किसी आलोचक के क्या विचार हैं, उनके पक्ष अथवा विपक्ष में उसकी क्या धारणायें हैं, इन प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करके ही उसकी आलोचना की कसौटी को हृदयंगम किया जा सकता है। इसी

---

१. हि० सा० इ०, पृ० ५६४।
२. चिं०, भाग २, पृ० २११।
३. हि० सा० इ०, पृ० ५६४।

कसौटी को समझने के लिए शुक्ल जी के साहित्य-सम्बन्धी सम्पूर्ण सैद्धान्तिक चिन्तन को एक क्रम से संकलित कर दिया गया है। ये सिद्धान्त ही उनकी आलोचना का मुख्य आधार निर्मित करते हैं।

नाटक :

नाटकों का प्रचार इस देश में अत्यन्त प्राचीन काल से था और उसके सभी पक्षों का सर्वांगपूर्ण निरूपण प्राचीन नाट्य-शास्त्र में हो चुका था। अतः शुक्ल जी ने आधुनिक काल में नाटकों के नये उत्थान के संबंध में कुछ सुझाव ही दिये हैं। नाटक की रूप-रचना आदि से सम्बद्ध तत्त्व-चिन्तन उनमें नहीं मिलता। कारण यह है कि अत्यन्त प्राचीन काल से नाटक का विवेचन काव्य के अंतर्गत ही होता रहा, अतः जो तात्त्विक समस्याएँ काव्य में उठीं वही नाटक में भी थीं। रस की समस्या तो मूलतः नाटक की ही थी और इस समस्या के विभिन्न पहलुओं पर शुक्ल जी आजीवन विचार करते रहे। दूसरा कारण यह भी था कि नूतन हिन्दी नाटक विकास की जिस प्रारंभिक अवस्था में था उसे देखते हुए, शास्त्रीय चिन्तन की सम्भावना नहीं हो सकती थी।

शुक्ल जी का यह विश्वास था कि काव्य में चमत्कार और वक्रता के लिए जितना अवकाश है उतना नाटक में नहीं। कारण, नाटक कथोपकथन के आधार पर चलते हैं और यदि पात्रों की बात-चीत 'बराबर वक्रता लिए अतिरंजित या हवाई होगी तो वह अस्वाभाविक हो जायेगी और सारा नाटकत्व निकल जायेगा।'[1] नाटक और काव्य का यह मूल अन्तर भाषा की भंगी से सम्बन्ध रखता है और इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

आधुनिक नाटकों में रस के स्थान पर शील-वैचित्र्य या चरित्र-चित्रण की प्रधानता होने लगी थी किन्तु प्राचीन नाटकों में रसोत्पत्ति पर ही अधिक बल दिया जाता था। शील की निर्धारित मर्यादाओं के भीतर वहाँ अधिक अवकाश नहीं था। इस प्रश्न पर शुक्ल जी का दृष्टिकोण समन्वयवादी है। उन्होंने कहा है कि "हमारे यहाँ के पुराने ढाँचे के भीतर शील-वैचित्र्य का वैसा विकास नहीं हो सकता था अतः उसका बन्धन हटाकर वैचित्र्य के लिए मार्ग खोलना तो ठीक ही है, पर यह आवश्यक नहीं कि उसके साथ रसात्मकता भी हम निकाल दें।"[2]

नाटकों के भीतर पहले जिन दृश्यों (जैसे मृत्यु, वध, युद्ध आदि) का विधान प्राचीन आचार्यों ने वर्जित ठहराया था, उन्हें ले आने में शुक्ल जी आपत्ति नहीं समझते किन्तु "देश की परंपरागत सुरुचि की रक्षा के लिए कुछ"[3] व्यापारों का वर्जित रहना आज भी नाटक के लिए उपयोगी समझते हैं, जैसे चुंबन, आलिंगन आदि।

---

१. चि०, भाग २, पृ० १७६।

२. हि० सा० इ०, पृ० ५५०।

३. वही, पृ० ५५१।

प्राचीन नाट्य-शास्त्र के अनेक अनावश्यक और (आउट ऑफ़ डेट) समयाति-क्रान्त उपकरणों का परित्याग ही वे कल्याणकारी समझते हैं। विदूषक को लेकर उन्होंने यहाँ तक लिख दिया कि "पुराने नाटकों में दरबारी विदूषक नाम का जो फालतू पात्र रहा करता था उसके स्थान पर कथा की गति से संबद्ध कोई पात्र ही हँसोड़ प्रकृति का बना दिया जाता है यह बहुत अच्छी बात है।"[1] लेकिन इतना कहते हुए भी वे आज के नाटककारों को यह चेतावनी देना नहीं भूलते कि प्राचीन नाट्य-शास्त्र का रचना-विधान सर्वथा अस्वाभाविक [2] नहीं था।

आचार्य शुक्ल, नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी प्राचीन और योरोपीय प्रभाव से विकसित होने वाली प्रवृत्तियों और रचना-विधानों के समन्वय के पक्षपाती थे, जैसा उनके निम्नांकित कथन से स्पष्ट है—

"हिन्दी-नाटकों के स्वतन्त्र विकास के लिये ठीक मार्ग तो यह दिखाई पड़ता है कि हम उनका मूल भारतीय लक्ष्य तो बनाये रहें, पर उनके स्वरूप के प्रसार के लिये और देशों की पद्धतियों का निरीक्षण और उनकी कुछ बातों का मेल सफ़ाई के साथ करते चलें।"[3] कहना नहीं होगा कि साहित्यिक विकास का सबसे अधिक प्रशस्त मार्ग यही है।

उपन्यास :

'उपन्यास' शीर्षक से शुक्ल जी का एक लेख नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, भाग १५, सं० ३, में प्रकाशित हुआ। उक्त लेख में उपन्यास की विषयवस्तु को दृष्टि में रख कर उन्होंने बताया कि "यह उन सूक्ष्म-से-सूक्ष्म घटनाओं को प्रत्यक्ष करने का यत्न करता है जिनसे मनुष्य का जीवन बनता है और जो इतिहास आदि की पहुँच के बाहर हैं।"[4] इसीलिए उनका विचार है कि उपन्यास विचारों को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने का बड़ा शक्तिशाली माध्यम है। "लोग या किसी जन-समाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिन्त्य परिस्थितियाँ खड़ी होती रहती हैं उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी-कभी विस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यासों का काम है।"[5]

उपन्यास में कोई-न-कोई वृत्त अवश्य होता है किन्तु वह, साहित्य की अन्य शैलियों की भाँति, इतिहास से अलग है। यह भेद मुख्यतः शैली सम्बन्धी है जिसकी ओर शुक्ल जी ने अपने उसी लेख में संकेत किया है—

"इतिहास कभी उन बहुत से सूक्ष्म व्यापारों के लिये जिनसे जीवन का तार

---

१. हि० सा० इ०, पृ० ५४६।
२. वही, पृ० ५४६।
३. वही, पृ० ५५०।
४. ना० प्र० प०, भाग १५, सं० ३, पृ० २६।
५. वही, २६।

बंधा है एक सांकेतिक (सिम्बोलिक) व्यापार का व्यवहार करके काम चला लेता है, पर उपन्यास का संतोष इस प्रकार नहीं हो सकता। इतिहास कहीं यह कह कर छुट्टी पा जायेगा कि अमुक राजा ने बड़ा अत्याचार किया। अब इस 'अत्याचार' शब्द के अन्तर्गत बहुत से व्यापार आ सकते हैं। इससे उपन्यास इन व्यापारों में से किसी-किसी को प्रत्यक्ष करने में लग जायेगा।"[१]

काव्य में लम्बे-लम्बे दृश्य-वर्णन और धारा-प्रवाह, भाव-व्यंजनायें ठीक हो सकती हैं परन्तु उपन्यास में उनका प्रयोग ठीक नहीं। काव्य से स्वतन्त्र, उपन्यास की निजी विशेषता यह है कि "घटनायें और पात्रों के क्रिया-कलाप ही भावों को बहुत कुछ व्यक्त कर दें, पात्रों के प्रगल्भ भाषण की उतनी अपेक्षा न रहे।"[२] इन्दौर वाले भाषण में शुक्ल जी ने पुराने कथात्मक गद्य प्रबन्ध के ढाँचे का भी समर्थन किया है:—

"उपन्यास के पुराने ढाँचे के सम्बन्ध में मैं एक बात कहना चाहता हूँ। वह यह कि वह कुछ बुरा न था। उसमें हमारे भारतीय कथात्मक गद्य-प्रबन्धों के स्वरूप का भी आभास रहता था।"[३]

शील-वैचित्र्य का उद्घाटन भी उपन्यास का मुख्य काम है—हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों में शुक्ल जी ने इसका नितान्त अभाव पाया।[४]

विषय-वस्तु को ग्रहण करने में जितनी सावधानी सामाजिक उपन्यास में बरती जाती है उससे कहीं अधिक सावधानी की आवश्यकता शुक्ल जी ऐतिहासिक उपन्यास की सामग्री के चयन में समझते हैं। उन्होंने कहा है कि "जब तक भारतीय इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों की सामाजिक स्थिति और संस्कृति का अलग-अलग विशेष रूप से अध्ययन करने वाले और उस सामाजिक स्थिति के सूक्ष्म ब्यौरों की अपनी ऐतिहासिक कल्पना द्वारा उद्भावना करने वाले लेखक तैयार न हों तब तक ऐतिहासिक उपन्यासों में हाथ लगाना ठीक नहीं।" इससे प्रकट है कि उनकी दृष्टि में ऐतिहासिक उपन्यास के लेखक के लिए दो वस्तुएँ अनिवार्य हैं—

(१) इतिहास के काल-विशेष की सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति का पूर्ण अध्ययन, (२) सामाजिक स्थिति के सूक्ष्म अप्राप्त ब्यौरों की ऐतिहासिक कल्पना द्वारा उद्भावना। इन तत्त्वों की अवहेलना करने पर उपन्यास में जो असंबद्ध वस्तुएँ और व्यापार एकत्र होंगे उनका उपहास करते हुए वे कहते हैं—"अब किसी ऐतिहासिक उपन्यास में यदि बाबर के सामने हुक्का रखा जायेगा, गुप्त-काल में गुलाबी और फ़ीरोजी रंग की साड़ियाँ, इत्र, मेज़ पर सजे गुलदस्ते, झाड़ फानूस लाये जायेंगे, सभा के बीच खड़े होकर व्याख्यान दिये जायेंगे, और उन पर करतल ध्वनि होगी, बात-

---

१. ना० प्र० प०, भाग १५, सं० ३, पृ० २७।
२. हि० सा० इ०, पृ० ५३८।
३. चिं०, भाग २, पृ० २५७।
४. वही, पृ० ५३९।

बात में 'धन्यवाद' 'सहानुभूति' ऐसे शब्द तथा 'सार्वजनिक-कार्यों में भाग लेना' ऐसे फिकरे पाये जायेंगे तो काफी हंसने वाले और नाक-भौं सिकोड़ने वाले मिलेंगे।"[१]

हिन्दी के तत्कालीन उपन्यासों की कथावस्तु के स्वरूप और लक्ष्य को ध्यान में रखकर शुक्ल जी ने उनका वर्गीकरण भी कर दिया है।[२] ध्यान से देखने पर विदित होता है कि इस वर्गीकरण को वे बहुत स्थूल रूप में ले रहे थे, उसे उपन्यास के सामान्य तथा तात्त्विक वर्गीकरण के रूप में नहीं ले सकते। उन्होंने यह भी संकेत दिया है कि जिस प्रकार ऊपर भेद-स्थापन किया गया है उसी प्रकार अनुसंधान और विचार करने पर "और दृष्टियों से भी कुछ भेद किये जा सकते हैं।"[३]

कहानी :

छोटी कहानियों का प्रचलन आधुनिक काल में योरुप के प्रभाव से ही हिन्दी में हुआ लेकिन जितनी वैविध्यपूर्ण कहानियाँ यहाँ लिखी जा चुकी हैं उन सब को पाश्चात्य साँचे में ठीक-ठीक बिठाना असम्भव है। शुक्ल जी ने कहा है कि "उसके इतने रंग-रूप हमारे सामने आये हैं कि वे सबके सब पाश्चात्य लक्षणों और आदर्शों के भीतर नहीं घुस सकते।"[४] छोटी कहानी में मार्मिकता अधिक होती है।[५] और उसके लिए मार्मिक परिस्थिति और संवेदना की एकता आवश्यक है। "·····हमें मार्मिक परिस्थिति की एकता मिलेगी, जिसके भीतर कई ऐसी संवेदनाओं का योग रहेगा जो सारी परिस्थिति को बहुत ही मार्मिक रूप देगा।"[६] कहानी में चरित्र विकास के लिए भी अच्छा अवकाश रहता है और लेखकों को उसका उद्योग करना चाहिए किन्तु उसके अभाव में भी कहानी, कहानी बन सकती है।[७] वस्तु-विन्यास के वैचित्र्य की ओर संकेत करके शुक्ल जी ने कहा "घटनाओं में काल के पूर्वापर क्रम का विपर्यय कहीं-कहीं इस तरह का मिलेगा कि समझने के लिए कुछ देर रुकना पड़ेगा।"[८] कहना आवश्यक है कि ऐसे विधान से पाठक के कुतूहल की वृद्धि होने के कारण कहानी की रोचकता और उसका मार्मिक प्रभाव—दोनों बढ़ जाते हैं। एक-एक दृश्य को सामने रखने और उसका मूर्त्त चित्र प्रस्तुत करने का जो प्रयास अनेक कहानियों में रहता है, उन्होंने उसकी ओर भी संकेत किया है, "कहीं-कहीं चलते हुए वृत्त के बीच में परिस्थिति का नाटकीय ढंग का छोटा-सा चित्र भी आ जाता है। इस प्रकार के चित्रों में चारों ओर सुनाई पड़ते हुए शब्दों का संघात भी सामने

---

१. हि० सा० इ०, पृ० ५३८।
२. वही, पृ० ५४२।
३. वही, पृ० ५४२।
४. वही, पृ० ५४३।
५. चिं०, भाग २, पृ० २५८।
६. हि० सा० इ०, पृ० ५४३।
७. वही, पृ० ५४३।
८. वही, पृ० ५४३।

रखा जाता है।"[1] रमणीय वस्तु-योजना के लिए ऐसा विधान कितना आवश्यक है यह आधुनिक कहानी के पाठक मात्र जानते हैं।

उपन्यासों की ही भाँति कहानियों की वस्तुगत और शैली सम्बन्धी विलक्षणताओं पर दृष्टि रखकर शुक्ल जी ने उनका वर्गीकरण किया है[2] लेकिन सिद्धान्त-निरूपण के रूप में न होने के कारण उसका उल्लेख यहाँ अनावश्यक है।

गद्य-काव्य :

गद्य-काव्य का प्रचलन शुक्ल जी के समक्ष पर्याप्त मात्रा में हो चुका था किन्तु उसके स्वरूप आदि का विस्तृत विवेचन उनकी समीक्षाओं में उपलब्ध नहीं होता। कारण यह है कि इसे काव्यात्मक गद्य-प्रबन्ध के रूप में ग्रहण करते हुए भी शुक्ल जी ने उसे काव्य ही माना है—अतः उसकी सामान्य समस्यायें भी वही हैं जो काव्य की। इस ऐक्य की ओर इंगित करते हुए उन्होंने कहा—

"अतः रचना-भेद से उनमें भी (गद्य-काव्यों में भी) अर्थ का उन्हीं रूपों में ग्रहण होता है जिन रूपों में छन्दोबद्ध काव्य में होता है अर्थात् कहीं तो वह अपने प्रकृत और सीधे रूप में विद्यमान रहता है और कहीं भाव या चमत्कार द्वारा संक्रमित रहता है।"[3]

हिन्दी में इन गद्य-काव्यों का प्रवेश 'गीतांजलि' के प्रभाव से हुआ, ऐसा शुक्ल जी ने माना है। लेकिन इसका बहुत अधिक प्रसार वे गद्य के विकास की दृष्टि से कल्याणकारी नहीं समझते—"साहित्य में इस प्रकार के गद्य-प्रबन्धों का भी एक विशिष्ट स्थान है। पर इनकी भरमार मैं अच्छा नहीं समझता।"[4] इसका कारण उन्होंने यह दिया कि जब तक काव्य-क्षेत्र की सीमा में ऐसा गद्य चलता रहेगा तब तक तो कोई आशंका की बात नहीं, किन्तु यदि काव्य-क्षेत्र से हट कर यह निबन्ध आदि के क्षेत्र में प्रवेश कर गया तो भाषा का प्रकृत स्वरूप विकृत होने लगेगा। ध्यान से देखा जाय तो यह प्रतीत होगा कि गद्य-काव्यों की-सी शैली ही प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा में देखकर शुक्ल जी चौंके थे। उन्हें यह आभास हुआ कि यदि ऐसे काव्यों का अबाध विस्तार हुआ तो प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा की उमड़ती हुई बाढ़ रोकी नहीं जा सकती। सम्भवतः इसीलिए वे गद्य-काव्यों के प्रचलन को लाभप्रद नहीं समझते थे। किन्तु यदि रमणीय कल्पना के आधार पर मार्मिक प्रसंगों की उद्भावना हो और वस्तु-सत्य के उद्घाटन की चित्ताकर्षक योजना हो तो शुक्ल जी भाषा के इस चमत्कारपूर्ण प्रयोग को अनुचित नहीं समझते। 'शेष स्मृतियाँ' की भूमिका में वे अपना यह मंतव्य स्पष्ट कर गये हैं।

---

१. हि० सा० इ०, पृ० ५४३।
२. वही, पृ० ५४३।
३. चिं०, भाग २, पृ० १७७।
४. वही, पृ० २५६।

काव्यात्मक गद्य-प्रबन्धों में एक विशेष शैली का ही अधिक प्रयोग होता है "जिसमें भावावेश द्योतित करने के लिए भाषा बीच-बीच में असंबद्ध अर्थात् उखड़ी हुई होती है।"[१] "कहीं-कहीं इनमें भाषा और भाव की तरंगवती धारा भी चलती दिखाई पड़ती है।"[२]

विशिष्ट उद्भावनायें

(क) काव्य का अधिवास अभिधार्थ में अथवा लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में

शुक्ल जी ने काव्यत्व का निवास अभिधार्थ में ही माना है व्यंग्यार्थ में नहीं। उनके इस मंतव्य पर विचार करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने कहा है—

"उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है मानो जीवन भर विरोध करते-करते अनायास ही किसी दुर्बल क्षण में शुक्ल जी पर क्रोचे का जादू चल गया हो।"[३]

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि चिंतन करते-करते अपने तर्क की कमजोरी के कारण किसी एक क्षण में शुक्ल जी ने क्रोचे की बात का ही समर्थन कर दिया। देखना चाहिए कि शुक्ल जी ने केवल एक स्थान पर ही ऐसा कहा है अथवा अन्यत्र भी। छान-बीन करने पर उनके ग्रन्थों में इस तथ्य का अत्यन्त दृढ़ तथा निर्भ्रान्त प्रतिपादन अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। कुछ प्रसंग निम्नांकित हैं—

"इस बाद में (अभिव्यंजनावाद में) तथ्य इतना ही है कि उक्ति ही कविता है, उसके भीतर जो छिपा अर्थ रहता है वह स्वतः कविता नहीं है।"[४]

"उक्ति ही काव्य होती है, यह तो सिद्ध बात है। हमारे यहाँ भी व्यंजक वाक्य ही काव्य माना जाता है।"[५]

"जो उक्ति हृदय में कोई भाव जाग्रत कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक व्यंजना में लीन कर दे, वह तो है काव्य।"[६]

"उस उक्ति ही में, अर्थात् उसके वाक्यार्थ ही में, काव्यत्व या रमणीयता होगी, उसके लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में नहीं।"[७]

उक्त उद्धरण शुक्ल जी की विभिन्न समयों पर लिखी गई विभिन्न पुस्तकों से लिए गए हैं और जितनी स्पष्टता, विश्वास और दृढ़ता के साथ उनमें एक ही मंतव्य व्यक्त किया गया है, उसे देखते हुए डॉ० साहब के इस मत से सहमत हो

---

१. हि० सा० इ०, पृ० ५५९।
२. वही, पृ० ५५९।
३. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ११६।
४. हि० सा० इ०, पृ० ५७२।
५. रस-मीमांसा, पृ० ४१।
६. चिं०, भाग १, पृ० १७१।
७. चिं०, भाग २, पृ० १८२।

सकना कठिन है कि यह किसी दुर्बल क्षण में आक्रान्त कर लेने वाला जादू है। उक्त प्रसंगों को ध्यान से देखें तो प्रतीत होगा कि 'उक्ति' को 'वाच्यार्थ' का पर्याय मान लिया गया। चौथे उद्धरण में तो यह बात स्पष्ट कह दी गई है। पहले उद्धरण में भी जब यह कह दिया कि (उक्ति) "के पीछे जो छिपा अर्थ रहता है वह स्वतः कविता नहीं," तब यह प्रकट हुए बिना नहीं रहता कि 'छिपा अर्थ' का तात्पर्य लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ से ही है और उक्ति का सम्बन्ध वाच्यार्थ से है जिसके पीछे पहले दो छिपे रहते हैं। इस प्रकार चारों उद्धरणों से यही बात पुष्ट होती है कि शुक्ल जी पूरी दृढ़ता और सजगता के साथ 'अभिधार्थ' में ही काव्यत्व की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। उन्हें यह भी ज्ञात है कि उनके अन्य मंतव्यों के समानान्तर रखने से यह मंतव्य कुछ विलक्षण-सा लगेगा, इसीलिए इन्दौर वाले भाषण में कह बैठते हैं कि "मेरा यह कथन विरोधाभास का चमत्कार दिखाने के लिए नहीं है, सोलह आने ठीक है।"[१] ऐसा लगता है जैसे वे अत्यन्त दृढ़तापूर्वक यही कह रहे हों कि "यह मत मेरी अन्य मान्यताओं के विपरीत नहीं, यद्यपि ऊपर से देखने में वैसा ही लगता है।"

उस भाषण में जिस प्रकरण के अन्तर्गत यह बात कही गई उसका सम्बन्ध इस अनुसन्धान से है कि काव्य में 'बुद्धि' का उपयोग कहाँ तक होता है और दूसरी ओर वह सीमा कौन-सी है जहाँ पहुँचकर क्रोचे की मान्यतायें अमान्य हो जाती हैं, इसीलिए उसका यह कथन वे स्वीकार नहीं कर सके कि उपपन्न और अव्याहत अर्थ (व्यंग्यार्थ) आदि का विचार काव्य-समीक्षा में उचित नहीं।

शुक्ल जी के उक्त मंतव्य का विरोध करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने आगे चल कर कहा—

"·····वाच्यार्थ में रमणीयता का अधिवास नहीं माना जा सकता, व्यंग्यार्थ में ही माना जायेगा, लक्ष्यार्थ में भी नहीं, क्योंकि वह भी वाच्यार्थ की तरह माध्यम मात्र है। रमणीयता का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रस के साथ है, और रस कथित नहीं हो सकता व्यंजित ही हो सकता है।"[२]

उक्त उद्धरण से दो ध्वनियाँ निकलती हैं—

(१) रमणीयता व्यंग्यार्थ में ही होती है।

(२) रस का सम्बन्ध रमणीयता से है, अतः व्यंग्यार्थ ही में रस का अधिवास है।

यदि नगेन्द्र जी के मत का ठीक यही अर्थ है तो सबसे पहली विचारणीय बात यह होगी कि हम 'काव्यत्व' का क्या अर्थ लेते हैं और यह कहने से हमारा क्या अभिप्राय है कि "रस कथित नहीं होता, व्यंजित ही होता है।" हमारी समझ में

---

१. चिं०, भाग २, पृ० १६६।

२. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ११६।

'काव्यत्व' का तात्पर्य 'रस' से नहीं है, वह रसानुभूति उत्पन्न करने वाले साधन के रूप में गृहीत होता है।

जब हम यह कहते हैं कि अमुक उक्ति रसात्मक है तब हमारा तात्पर्य केवल इतना ही होता है कि उस उक्ति-विशेष के श्रवण या पठन से हमारे मन में भाव उद्‌बुद्ध होकर रस की कोटि तक पहुँच जाता है। अतः काव्यत्व एक पदार्थ, वस्तु या शक्ति के रूप में माना जा सकता है जो सहृदय में रसानुभव उत्पन्न करता है और यह बात तो पूर्णतया सिद्ध की जा चुकी है कि रस सामाजिक के हृदय में ही होता है। अतः जब हम यह कहेंगे कि रस कथित नहीं होता वह व्यंजित ही होता है, तो उसका सीधा अर्थ यही होगा कि वह उक्ति में से व्यंजित नहीं होता बल्कि उक्ति द्वारा सामाजिक के हृदय में व्यंजित होता है। इससे सिद्ध है कि काव्यत्व चाहे वाच्यार्थ में हो चाहे व्यंग्यार्थ में, यह धारणा खण्डित नहीं होती कि रस व्यंजित ही होता है। रस को तो शुक्ल जी भी व्यंग्य ही मानते हैं, कथ्य अथवा अनुमेय नहीं। अतः रस को व्यंग्य कह कर हम यह प्रमाणित नहीं कर सकते कि रमणीयता व्यंग्यार्थ में ही होती है, अभिधार्थ में नहीं। डॉ० साहब के इस कथन से भी संदेह पैदा होता है कि रस का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रमणीयता से है। रमणीयता वास्तव में सहृदय के बाहर किसी पदार्थ से सम्बद्ध होगी—वह काव्यत्व का गुण है—और रस तो उस अनुभूति का द्योतक है जोर ममाण को प्राप्त होती है। रस ग्रहीता का आनन्द है, किन्तु रमणीयता ग्राह्य का आंतरिक गुण। लक्ष्यार्थ को जो डॉ० साहब ने माध्यम अथवा साधन माना वह तो ठीक है किंतु व्यंग्यार्थ तक पहुँचना भी काव्य-रसिक का अंतिम गंतव्य नहीं हो सकता। शुक्ल जी ने इसी भाषण में यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण संकेत किया है कि यदि व्यंग्यार्थ कोई अर्थ है, तो उसका बोध होगा और इस रूप में होगा कि अमुक प्रेम या क्रोध कर रहा है, किंतु यह बोध होना मात्र ही प्रेम या क्रोध का रसात्मक अनुभव नहीं है।[1] ऐसी दशा में रस परिपाक के अंतर्गत व्यंग्यार्थ भी एक साधन या माध्यम मात्र ठहरता है। लेकिन जब पाठक को अलग रखकर केवल काव्य पर विचार करेंगे तब व्यंग्यार्थ को ही अंतिम लक्ष्य मानना पड़ेगा जैसा नगेन्द्र जी ने माना है।

यह निर्णय करना कि काव्यत्व का अधिवास वाच्यार्थ में है या व्यंग्यार्थ में इतना सरल नहीं जितना ऊपर से देखने में लगता है। जब से, काव्य-शरीर से आगे बढ़कर उसकी आत्मा का अनुसंधान होने लगा तभी से उसके कुछ उपादानों को शरीर का और दूसरों को आत्मा का धर्म बताया जाने लगा। किंतु आत्मा और शरीर की यह दार्शनिक गुत्थी इतनी जटिल थी कि अनेक उपादान, किसी ठीक विभाजक रेखा के अभाव में, दोनों ओर डाले जाने लगे। काव्य-गुणों के वर्गीकरण का इतिहास देखने से यह बात सिद्ध हो जाती है। बड़े-से-बड़े आचार्य भी इस संबंध में अंतिम सर्वमान्य

---

१. चिं०, भाग २, पृ० १६३।

निर्णय नहीं दे सके कि गुणों को काव्यात्मा का धर्म माना जाय अथवा शरीर का। शौर्य और कटक[1] के दृष्टांत भी भ्रामक ही रहे क्योंकि आत्मा के ऊपर किसी धर्म का आरोप करना भी विलक्षण लगता है, अलंकारों को तो कटकादिवत् कहना युक्ति-संगत था। रस के संबंध में भी प्रारम्भ में ऐसी ही धारणा जान पड़ती है। लोल्लट आदि की व्याख्या ने उसे मूल नायक-नायिका अर्थात् अपने से बाहर, विषय में स्थित मान लिया। आगे चल कर रस को सहृदय में प्रतिष्ठित कर दिया गया। वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भी शरीर तथा आत्मा जैसा संबंध मानकर ही काव्यत्व के निवास स्थान का अनुसंधान होने लगा और जिस प्रकार गुणों और रसों की स्थिति प्रकरण-भेद से दोनों ओर मानी जाती रही उसी प्रकार काव्यत्व को भी कुछ लोग वाच्यार्थ में देखते रहे और दूसरे व्यंग्यार्थ में। इस प्रकार, यहाँ से देखने पर यह प्रश्न उस बड़े प्रश्न का अंग बन गया कि आत्मा तथा शरीर का पारस्परिक संबंध क्या है और वास्तविक मनुष्यत्व किस में है।

ऊपर दिये हुए विवरण से स्पष्ट है कि यह प्रश्न कई दार्शनिक प्रश्नों के साथ उलझा हुआ है—किंतु शुक्ल जी ने इसे व्यावहारिक स्तर पर ही उठाया है। इस प्रकरण में वे चमत्कार-विधायक और रसात्मक जैसे शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में कर गये हैं। 'कोई रसात्मक या चमत्कार विधायक उक्ति लीजिये।'[2] इसके आगे लिखा है कि···"वाच्यार्थ ही में काव्यत्व या रमणीयता होगी, उसके लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में नहीं।"[3] इस कथन में कोई अंतर्विरोध नहीं किंतु एक पंक्ति का उद्धरण देकर वे लिख बैठते हैं कि जो कुछ वैचित्र्य या चमत्कार है वह इस अयोग्य और अनुपपन्न वाक्य या उसके वाच्यार्थ में ही है।

उक्त उद्धरणों को सामने रखने से हमारे सामने दो प्रश्न खड़े होते हैं—

(१) क्या रसात्मक और चमत्कार-विधायक उक्तियों में शुक्ल जी कोई भेद नहीं मानते हैं ?

(२) जब काव्यत्व या रमणीयता के अधिवास की बात उठाई गई तो बीच में वैचित्र्य या चमत्कार के अधिवास का प्रश्न कहाँ से आ गया ?

जहाँ तक पहली बात का सम्बन्ध है शुक्ल जी ने अन्यत्र यह[4] स्पष्ट कर दिया है कि चमत्कार रसात्मकता से भिन्न है और कोरा चमत्कार सूक्तियों में ही मिलता है। फिर 'रसात्मक' के साथ 'चमत्कार विधायक' शब्द के प्रयोग का एक ही अर्थ हो सकता है। वह यह कि वे दोनों प्रकार की उक्तियों को उदाहृत करके उनके सौंदर्य का निवास ढूंढ़ना चाहते हैं। "जीकर हाय! पतंग मरे क्या" वाले प्रकरण में वे

---

१. ध्वन्यालोक, द्वि० उ०, कारिका ६।
२. चिं०, भाग २, पृ० १८२।
३. वही, भाग २, पृ० १८२।
४. वही, भाग १, पृ० १७१।

चमत्कार का ही उल्लेख करते हैं रमणीयता का नहीं।[1] यदि ऐसा है तो कोई विवाद की बात नहीं। चमत्कार तो निश्चित रूप से उक्ति का ही धर्म है। डॉ० नगेन्द्र ने भी लिखा है—"अतएव जहाँ तक इस चमत्कार का सम्बन्ध है, उसका अधिवास वाच्यार्थ में ही है।" यहाँ आकर हमें दूसरे प्रश्न का भी उत्तर मिल जाता है। चमत्कार या वैचित्र्य के अधिवास का प्रश्न प्रासंगिक रूप से ही खड़ा कर दिया गया, केवल एक और तथ्य का बोध कराने के लिए।

इसीलिये दूसरे उदाहरण को सामने रखते हुए उन्होंने कहा है—"अब साकेत में उर्मिला की यह रसात्मक उक्ति लीजिए।"

आप अवधि बन सकूं कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ।
मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊं।

इससे स्पष्ट है कि प्रथम उक्ति को चमत्कार-विधायक और दूसरी को रसात्मक मानकर उन्होंने अपना विवेचन किया है।

दूसरे उद्धरण को लेकर उन्होंने कहा है कि—"···सारी रमणीयता, इसी व्याहत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ में है, इस योग्य और बुद्धि ग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि, "उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है।"[2] डॉ० नगेन्द्र ने इस कथन पर एक रोचक आपत्ति उठाई है। उनका कहना है कि "उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है" यह बात व्यंग्यार्थ न रह कर वाच्यार्थ मात्र रह गई[3] और इसलिये यदि उसमें रमणीयता नहीं है तो उचित ही है। पंडित रामदहिन मिश्र ने भी यही आपत्ति उठाई थी जब उन्होंने यह कहा कि "शुक्ल जी ने जो बुद्धिग्राह्य व्यंग्यार्थ लिखा है वह व्यंग्यार्थ है ही नहीं। वह तो शुद्ध वाच्यार्थ है।"[4] किन्तु जैसा हम पहले देख चुके हैं शुक्ल जी व्यंग्यार्थ को भी बोध रूप ही मानते हैं, उसे किसी 'अर्थ' के रूप में ही देखते हैं। अतः 'उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है', यह बात व्यंग्य होने पर भी एक तथ्य मात्र है। दूसरी बात यह है कि जब वाच्यार्थ को बिल्कुल अलग रख कर, इस व्यंग्यार्थ का कथन कर दिया जाय या इस पर विचार किया जाए तभी यह वाच्यार्थ बन सकता है, अन्यथा नहीं। पहले वाच्यार्थ की सापेक्षता में तो यह व्यंग्यार्थ ही बना रहेगा। और यह शायद ही सम्भव हो कि हम काव्य-पाठ करते समय वाच्यार्थ की निरपेक्षता में व्यंग्यार्थ को देख सकें। केवल महिम भट्ट ने ही नहीं अपितु ध्वनिवादियों ने भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का अविनाभाव सम्बन्ध माना है,[5] इसलिये वे एक-दूसरे की सापेक्षता में ही

---

१. चिं०, भाग २, पृ० १८२।
२. वही, पृ० १८३।
३. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ११५।
४. काव्यालोक, द्वितीय उद्योत, पृ० १७७।
५. काव्य-विचार (सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त), पृ० १९७-९८।

विचारणीय हैं। अतः शुक्ल जी के कथन में कोई ऐसा दोष या अनौचित्य मानना ठीक नहीं जान पड़ता।

नगेन्द्र जी का यह कथन युक्ति-युक्त है कि : "(उर्मिला) के अत्यन्त औत्सुक्य की व्यंजना ही रमणीयता का कारण है—यही पाठक के मन का इस अत्यन्त औत्सुक्य के साथ तादात्म्य करके एक मधुर अनुभूति जगाती है।"[1] व्यंग्यार्थ तक पहुँचे बिना हम रसानुभव कर ही नहीं सकते। जब तक वस्तु का पूर्ण बोध न हो और उसका सम्पूर्ण चित्र नेत्रों के समक्ष प्रस्तुत न हो जाय तब तक उसके प्रति किसी भाव का जगना और रस की कोटि तक पहुँचना असम्भव है। शुक्ल जी ने इस बोध और भाव का इतना अनिवार्य सम्बन्ध माना है, और इतने अधिक अवसरों पर इसका प्रतिपादन किया है कि उसका प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। फिर उनकी यह स्थापना भी कि व्यंग्यार्थ की उपयोगिता केवल समीक्षकों के लिए ही पड़ती है,[2] असंगत हो जाती है। इसी प्रकरण में उनका एक और अन्तर्विरोध भी उभर आया है। व्यंग्यार्थ को लेकर वे कहते हैं—

"वह काव्य नहीं, काव्य को धारण करने वाला सत्य है जिसकी देख-रेख में काव्य मनमानी क्रीड़ा कर सकता है।"[3]

इस कथन का सीधा अर्थ यही है कि व्यंग्यार्थ के भीतर ही काव्यत्व निहित है वह उसके बनाये हुए दायरे के बाहर नहीं जा सकता। फिर, यदि व्यंग्यार्थ में काव्यत्व का अधिवास माना जाय तो आपत्ति क्या है?

पंडित रामदहिन मिश्र ने यह भी सुझाया है कि "शुक्ल जी ने उक्ति का अर्थ जो वाच्यार्थ किया है वह ठीक नहीं है।"[4] यह सुझाव अवश्य मान्य होना चाहिये क्योंकि उक्ति के भीतर तो वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ सभी सन्निहित हैं और यदि, इस अर्थ में, उक्ति को काव्य कहा जाये तो किसी को आपत्ति ही क्या हो सकती है? लेकिन साथ ही यह बात भी है कि उस समय इस कथन का कोई महत्त्व ही नहीं हो सकता। यह तो इतनी मोटी या स्थूल बात हो जायेगी कि इसका बार-बार दुहराना क्या, एक बार कहना भी उपहासास्पद लगेगा। इसलिये यह तर्क देना (जैसा श्री गिरिजा दत्त शुक्ल 'गिरीश' ने दिया है)[5] कि शुक्ल जी उक्ति में काव्यत्व मान कर व्यंग्यार्थ में भी उसका अस्तित्व स्वीकार कर गये हैं, नितान्त असंगत लगता है।

ऊपर दिए हुए विवरण से प्रकट है कि शुक्ल जी की इस स्थापना के ऊपर

---

१. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ११५।
२. चिं०, भाग २, पृ० १६७।
३. वही, पृ० १६७।
४. काव्यालोक, द्वितीय उद्योत, पृ० १७४।
५. समीक्षक-प्रवर पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २८८।

पर्याप्त विचार हुआ है, किन्तु इतना होने पर भी इस बात का कोई समाधान नहीं प्राप्त हो सका कि इस स्थापना का क्या रहस्य है। अपने विवेचन के प्रारम्भ में ही हम देख चुके हैं कि वे बार-बार इस के ऊपर बल देते हैं। उनकी चिन्तन-शक्ति और मौलिकता को देखते हुए यह बड़ा विलक्षण लगता है कि ऐसे अन्तर्विरोधपूर्ण तथ्य का प्रतिपादन वे कैसे करते चले गए। विचार करने पर भी उनकी उक्त स्थापना का कोई संतोषजनक चिन्तन-सूत्र नहीं मिल पाता। केवल इतना अनुसंधान करके हम तृप्त नहीं हो सकते कि महिम भट्ट, भट्टनायक और हिन्दी के देव कवि ने भी अभिधा का यही महत्त्व आँका था; और शुक्ल जी उसी परम्परा में बात कर रहे हैं।

काव्य में व्यंग्य वस्तु को सर्वाधिक महत्त्व देने वाले मार्क्सवादी समीक्षक भी उक्ति के महत्त्व को कम नहीं कर पाते। जैसी समस्या शुक्ल जी के सामने है लगभग वैसी ही समस्या क्रिस्टाफर कॉडवेल के सामने आ जाती है जब वे कहते हैं कि काव्य का निर्माण शब्दों से होता है।[1] मेलार्मे ने अपने चित्रकार मित्र को सलाह देते हुए कहा था कि "कविता शब्दों से लिखी जाती है विचारों से नहीं।" कॉडवेल महोदय इस मत से सहमत नहीं—उनकी दृष्टि में विचारोत्तेजकता तो कविता के भीतर अवश्य ही होनी चाहिए, लेकिन उसके शब्द-विधान की भी यह विलक्षणता होती है कि वह अनूदित नहीं हो पाता। यदि कविता केवल विचारों का ही समुच्चय होती तो उसका अनुवाद अवश्य हो जाता, किन्तु ऐसा होता नहीं, इसलिए व्यक्त अर्थ के साथ-साथ काव्य में शब्द की कुछ निजी विशेषता भी अवश्य माननी पड़ेगी।[2] शब्दों का वह निजी 'वैशिष्ट्य' ही काव्य को उपन्यास, नाटकादि से अलग करता है। यदि यही सिद्धान्त—काव्य का निर्माण शब्दों से होता है—भारतीय शब्दावली में ढाला जाये तो उक्ति या अभिधा की प्रधानता स्वतः स्थापित हो जाएगी। क्या शुक्ल जी का मंतव्य वही है जो कॉडवेल का? सम्भव है वे अभिधा की प्रधानता को ही लक्षित करना चाहते हों।

(ख) रसात्मक बोध

रूप-विधान के तीन पक्ष हो सकते हैं—प्रत्यक्ष, स्मृत, और कल्पित। इनमें से काव्य-शास्त्र के भीतर केवल तीसरे का ग्रहण ही रसानुभूति के प्रकरण में हुआ, प्रत्यक्ष और स्मृत रूप-विधान को काव्य-शास्त्र से अलग ही रखा गया। शुक्ल जी के मतानुसार इसका कारण यह था कि काव्य मूलतः शब्द व्यापार है, वह शब्द-संकेतों द्वारा ही अंतस् में रूप-विधान करता है। अतएव प्रत्यक्ष या स्मृत अनुभूति उसके

---

१. Poetry is composed of words—*Illusion and Reality*, page 108.

२. The word as word must have some component additional to the idea it stimulates—वही, पृ० १०६।

अंतर्गत नहीं ली जा सकी।[१] परन्तु ध्यान से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि बात केवल इतनी ही नहीं थी। प्राचीन आचार्यों ने प्रत्यक्ष अनुभूतियों से विलक्षण और बिल्कुल भिन्न प्रकार की अनुभूति को रसानुभूति कहा है—इसके लिए 'लोकोत्तर' विशेषण का प्रयोग इसीलिए किया गया। शुक्ल जी का यह मानना पूर्णतया युक्ति-संगत है कि 'लोकोत्तर' का अर्थ कोई स्वर्ग से आई हुई अनुभूति नहीं लोकानुभूति ही है। किन्तु साथ-ही-साथ यह भी तर्क है कि रसानुभूति प्रत्यक्ष अनुभूति से भिन्न है, जिस प्रकार स्मृत अनुभूति, प्रत्यक्ष अनुभूति से अलग है।

आचार्यों के इस पर न विचार करने का कारण चाहे जो रहा हो किन्तु शुक्ल जी ने उक्त दोनों प्रकार की अनुभूतियों में रसानुभूति मानी है। उनकी यह मान्यता उनके निजी मौलिक चिन्तन का परिणाम है और मानना पड़ेगा कि इससे रस-शास्त्र में एक नयी सम्भावना उत्पन्न हो गई है।

शुक्ल जी का कहना है, "जिस प्रकार काव्य में वर्णित आलम्बनों के कल्पना में उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता है उसी प्रकार हमारे भावों के कुछ आलंबनों के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलंबनों के सम्बन्ध में लोक के साथ—या कम से कम सहृदयों के साथ—हमारा तादात्म्य रहता है।"[२]

यदि आलम्बनों के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी ऐसा तादात्म्य सम्भव है तो यह प्रश्न उठेगा कि क्या संसार के सभी व्यक्तियों के मन में किसी एक प्रत्यक्ष घटना की प्रतिक्रिया में समान भावनायें उत्तेजित हो सकती हैं। क्या यह सम्भव है कि अपने व्यक्तिगत राग-द्वेष का विसर्जन करके मनुष्य उन घटनाओं का तटस्थ दर्शक-मात्र बन सके? काव्य में साधारणीकरण की क्रिया द्वारा "सहृदय" या पाठक निजी योगक्षेम की वासना का परिहार कर देता है। किन्तु प्रत्यक्ष जीवन में ऐसा सर्वत्र सम्भव नहीं है। इसलिए प्रत्यक्ष रसानुभूति की सम्भावना वहीं हो सकती है जहाँ किसी कारणवश व्यक्ति की वैयक्तिक भावनायें लोक-भावनाओं के रूप में परिणत हो जायें। इस अपवादी स्थिति का उल्लेख स्वयम् शुक्ल जी ने ही किया है।[3]

इस प्रकरण में उन्होंने रिचर्ड्स के उस मत का उल्लेख किया है, जिसमें प्रत्यक्ष जीवनानुभूति को काव्यानुभूति के समकक्ष रखा गया है।[४] लेकिन विलक्षण बात यह है कि शुक्ल जी का उक्त सिद्धान्त 'क्रोचे' के प्रातिभ ज्ञान (Intuition) वाले सिद्धान्त से भी मिलता-जुलता है। उन्होंने अपने इन्दौर वाले भाषण में 'क्रोचे' के कुछ सिद्धान्तों का भारतीय साहित्य-शास्त्र की मान्यताओं की अपेक्षा में विवेचन

---

१. चिं०, भाग १, पृ० २४५।
२. वही, पृ० २४७-४८।
३. वही, पृ० २४९।
४. वही, पृ० २५०।

करते हुए उसके इस मतवाद का खंडन किया था कि कला केवल मानसी सृष्टि है किन्तु प्रत्यक्ष रूप से उसकी इस धारणा का समर्थन भी वे कर गये हैं। जब वे 'शब्द-काव्य' के साथ-साथ 'वस्तु-काव्य' का अस्तित्व स्वीकार करते हैं[1] और प्रत्यक्ष अनुभूति को रसात्मक मानने में कोई संकोच नहीं करते तब उन्हें यह मानने में आपत्ति क्यों हो कि कला शब्द-हीन मानसी-सृष्टि के रूप में भी अस्तित्व रखती है। जिन वस्तुओं को हम जगत् में देखते हैं उनका मानस-बिम्ब विधायक कल्पना के आश्रय से बनता चला जाता है। मन का भाव भी उसी बिम्ब को देखकर उद्‌बुद्ध होता है। इन्हीं बिम्बों को क्रोचे ने इन्ट्यूशन कहा है। यदि ये मनोभावों के उद्‌बोधक हैं तो इनमें भी काव्यत्व मानना पड़ेगा। शब्द के द्वारा इनकी अभिव्यक्ति हो अथवा न हो किन्तु जिस व्यक्ति के अन्तर्गत, ये मानस-बिम्ब होंगे उसे रसानुभूति तो होती ही रहेगी। प्रत्यक्ष अनुभूति में रसानुभूति मानने का एक यही अर्थ हो सकता है कि जो बिम्ब कल्पना द्वारा तैयार किये जाते हैं उन्हें रसोद्‌बोधक अथवा कला-स्वरूप मान लिया जाये। इस प्रकार प्रत्यक्ष, और स्मृत रूप-विधान में रसानुभूति का अस्तित्व, 'क्रोचे' के 'सौन्दर्य शास्त्र' में पहले से ही स्वीकृत है। दोनों विद्वानों ने अपने विवेचन के लिये जो उदाहरण लिये हैं, उनमें तात्त्विक भेद कोई नहीं है केवल उपकरण बदल गये हैं। 'शुक्ल' जी ने लिखा है, "एक स्थान पर हमने किसी अत्यन्त रूपवती स्त्री का स्मित आनन और चंचल भ्रू-विलास देखा और मुग्ध हुए, अथवा किसी पर्वत के अंचल की सरल सुषमा देख उसमें लीन हुए।"[2] (प्रत्यक्ष रूप-विधान)। उन्होंने उक्त प्रत्यक्ष दर्शन और उसकी स्मृति में भी आगे चलकर रसात्मक आनन्द माना है। क्रोचे ने लिखा है—

"..... the perceptions of the room in which I am writing, of the ink-bottle and paper that are before me, of the pen I am using, of the objects that I touch and make use of as instruments of my person, which, if it write, therefore exists..... these are all intuitions."[3]

वह प्रातिभ ज्ञान (Intuition) को ही कला मानता है, और इस ज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभूति से कितना लगाव है! उसी प्रकार स्मृत रूप-विधान में भी क्रोचे प्रातिभ ज्ञान की स्थिति मानता है। उसके अनुसार--"..... the image that is now passing through my brain of a man writing in another room, in

---

१. "शब्द-काव्य की सिद्धि के लिए वस्तु-काव्य का अनुशीलन परम आवश्यक है।" चिं० भाग १, पृ० २४३।

२. चिं०, भाग १, पृ० २४५।

३. Aesthetic, page 3.

another town with different paper, pen and ink, is also an intuition.[1]

कहना नहीं होगा कि इस दूसरे उद्धरण में कल्पना की उस क्रिया का भी समावेश हो गया है, जिसके आधार पर 'लिखने वाला' किसी अन्य नगर में, किसी अन्य कलम और दावात तथा कागज का प्रयोग किसी अन्य कमरे में बैठकर करते हुए अपने रूप का बिम्ब निजी अंतःकरण के समक्ष प्रस्तुत कर रहा है। इसलिए इसमें विशुद्ध स्मृति न होकर स्मृत्याभास कल्पना का[2] भी कुछ मिश्रण हो गया है। दोनों प्रसंगों में क्रोचे के अनुसार प्रातिभ ज्ञान है। प्रातिभ ज्ञान ही अभिव्यंजना है और अभिव्यंजना ही कला है। इस प्रकार यदि शुक्ल जी प्रत्यक्ष और स्मृत रूप-विधानों में काव्य-गत रसानुभूति मानते हैं तो वे प्रकारान्तर से क्रोचे की इसी मान्यता का समर्थन करते जान पड़ते हैं कि कला मानसी सृष्टि है। भेद केवल यह है कि प्रातिभ ज्ञान के द्वारा जो बिम्ब अंतःकरण में पहुँचता है, शुक्ल जी उसके द्वारा भावोत्तेजन की बात कहते हैं। क्रोचे उसे नहीं कहता।

एक दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि शुक्ल जी ने अपने विवेचन का शीर्षक दिया है—"रसात्मक बोध के विविध रूप।" यह शीर्षक भ्रामक इसलिए लगता है, कि काव्य-विचार में उन्होंने सर्वत्र 'बोध' को 'भाव' से पहले रखा है, यानी विषय-बोध हो जाने के बाद तदनुरूप भाव का उदय माना है। "भाव का प्रथम अवयव विषय-बोध ही है"[3] परन्तु उक्त शीर्षक से तो ऐसा लगता है कि वे बोध की रसमयी प्रक्रिया या उसके रसमय स्वरूप का विचार करने जा रहे हैं। दूसरी ओर वे क्रोचे की त्रुटियों का संकेत करते हुए यह कह गये हैं कि वह कला को बोध-स्वरूप मानता है।

रसात्मक बोध के विविध रूपों का उद्घाटन करके शुक्ल जी भी काव्य और उसकी अनुभूति को "बोध' के निकट ले जाते जान पड़ते हैं। अगर बोध ही रसात्मक है और वह बोध, इन्ट्यूशन के ही समकक्ष ठहरता है तो इन्ट्यूशन में भी काव्यत्व की स्थापना हो जाती है। यद्यपि लेख में वे बहुधा 'अनुभूति' शब्द का ही प्रयोग करते हैं, तथापि शीर्षक इसी बात का संकेत देता है कि बोध स्वतः 'रसमय' हो जाता है।

अपने विवेचन को आगे बढ़ाते हुए शुक्ल जी ने कहा है कि सुखात्मक अनुभूतियों को तो लोग रसात्मक मान लेंगे किन्तु रस को मूलतः आनन्द-स्वरूप मानने वालों के समक्ष यह कठिनाई अवश्य उपस्थित होगी कि दुःखात्मक प्रत्यक्षानुभूतियों को रस के अन्तर्गत कैसे लिया जाय। इसका समाधान देते हुए उन्होंने कहा कि—

"आनन्द शब्द को व्यक्तिगत सुख-भोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण करना मुझे

---

१. Aesthetic, page 3.

२. चिं०, भाग १, पृ० २५७।

३. चि० सा० इ०, पृ० ६११।

ठीक नहीं जँचता। उसका अर्थ मैं हृदय का व्यक्ति-बद्ध दशा से मुक्त और हल्का होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना ही अधिक उपयुक्त समझता हूँ।"[१]

जहाँ तक हृदय के व्यक्ति-बद्ध दशा से मुक्त होने या ऊपर उठने की बात है, वह क्रोध, भय आदि भावों के अनुभव के समय सम्भव है। शर्त केवल यह है कि भाव का आलम्बन सामान्य हो।[२] इस प्रकरण में और भावों से "करुणा" को विलक्षण मानते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा कि—"करुणा ही एक ऐसा व्यापक भाव है जिसकी प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति सब रूपों और सब दशाओं में रसात्मक होती है।"[३]

(स्पेंसर आदि विद्वानों और अनेक मनोवैज्ञानिकों ने संभवतः इसीलिये 'करुणा' (pity) को आनन्ददायी भाव माना है और उसके कारणों की विकासवादी व्याख्या भी की है।[४])

स्मृत रूप-विधान के दो प्रकार हैं—(क) विशुद्ध, (ख) प्रत्यक्षाश्रित स्मृति या प्रत्यभिज्ञान। विशुद्ध स्मृति में किसी बीती हुई घटना, व्यापार, दृश्य या वस्तु का स्मरण आता है जो कभी-कभी रसात्मक होता है, उस समय "हमारी मनोवृत्ति स्वार्थ या शरीर-यात्रा के रूखे विधानों से हटकर शुद्ध भाव-क्षेत्र में स्थिर हो जाती है।"[५] अधिकतर ऐसा है कि कुछ चुने हुए भावों से सम्बद्ध स्मरण ही रस-कोटि में पहुँच पाता है, दूसरों का नहीं। वे भाव जिनसे सम्बद्ध स्मृति रसात्मक होती है अधिकतर 'रति,' 'करुणा' और 'हास' होते हैं।[६] अन्य स्मृतियाँ केवल वहीं रसात्मक होती हैं जहाँ भाव के "आलम्बन केवल हमारी ही व्यक्तिगत भावसत्ता से संबद्ध नहीं, अपितु सम्पूर्ण नर-जीवन की भाव-सत्ता से संबद्ध होते हैं।"[७]

विशुद्ध स्मृति के समान प्रत्यभिज्ञान में भी रस-संचार की बड़ी गहरी शक्ति होती है। "बाल्य या कौमार जीवन के किसी साथी के बहुत दिनों पीछे सामने आने पर कितने पुराने दृश्य हमारे मन के भीतर उमड़ पड़ते हैं!"[८] शुक्ल जी ने दिखाया है कि किस प्रकार स्वदेश और विदेश के रस-सिद्ध कवियों ने प्रत्यभिज्ञान के सहारे परिष्कृत भाव-संचार के लिये, मार्मिक प्रसंगों की सृष्टि की।

जहाँ विशुद्ध स्मृति या प्रत्यभिज्ञान नहीं होता वहाँ भी कभी-कभी कल्पना की शक्ति से किसी स्मृति के आधार पर एक नूतन मूर्त्ति-विधान होता है। जैसे हम

---

१. चिं०, भाग १, पृ० २५१।
२. वही, पृ० २५१।
३. वही, पृ० २५१।
४. *The Human Mind*—Vol. II, James Sully, page 130.
५. चिं०, भाग १, पृ० २५३।
६. वही, पृ० २५४।
७. वही, पृ० २५५।
८. वही, पृ० २५५-५६।

किसी देखे अथवा सुने हुए दृश्य के आधार पर कोई अन्य दृश्य कल्पित कर लें जिसमें पहले दृश्य से किंचित् भिन्नता हो। ऐसा मूर्त्ति-विधान केवल दो आधारों पर ही टिक सकता है—

(१) इतिहास के आधार पर या (२) अनुमान के आधार पर। किन्तु इस विभाजन से यह नहीं समझना चाहिए कि इतिहास पर आश्रित कल्पना में अनुमान का योग नहीं रहता। शुक्ल जी कहते हैं कि "आप्त-वचन या इतिहास के संकेत पर चलने वाली कल्पना या मूर्त्त-भावना अनुमान का भी सहारा लेती है।"[1] इसी प्रकार अनुमान से संबद्ध कल्पना के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि उसके पीछे, परोक्ष-रूप में ही सही, इतिहास का सामान्य ज्ञान अवश्य रहता है। हम किसी विशेष खंडहर के सम्बन्ध में कुछ भले ही न जानते हों लेकिन हमारी कल्पना अनुमान के सहारे उसके अतीत का कुछ-न-कुछ रूप अवश्य खड़ा कर देगी। किन्तु यदि हम किसी खंडहर के सम्बन्ध में कुछ न जानते हों और इतिहास के ज्ञान से एक दम शून्य हों तो कल्पना किस आधार पर कोई रूप खड़ा करेगी? अतः सिद्ध हुआ कि इतिहास-ज्ञान-शून्य कोरा अनुमान उक्त मूर्त्त-विधान में सक्षम नहीं। शुक्ल जी ने इस तथ्य की ओर संकेत नहीं किया।

कल्पना के प्रयोग में एक बात के ऊपर बल दे देना वे आवश्यक समझते हैं—"सत्य से अनुप्राणित होने के कारण ही कल्पना स्मृति या प्रत्यभिज्ञान का-सा रूप धारण करती है।[2] किन्तु केवल वस्तुतः घटित वृत्त को ही वे सत्य के अंतर्गत नहीं लेते अपितु निश्चयात्मकता से प्रतीत वृत्त को भी उसके भीतर मानते हैं। जिस बात के सम्बन्ध में हमारा अपना निश्चय यह है कि यह ठीक है, वह भी, इस प्रकरण में, सत्य के अंतर्गत समझी जायेगी (चाहे वह वस्तुतः सत्य हो अथवा नहीं)।

स्मृतियाँ और उनके आधार पर चलने वाली स्मृत्याभास कल्पनायें सुख-दुःख की अनुभूतियों से परे हैं, वे सुखात्मक या दुःखात्मक नहीं होतीं, केवल तल्लीन करती हैं[3] और यही कारण है कि उनमें रसास्वाद होता है। 'प्रसाद' जी ने भी लिखा है "आह! मधुर हैं कष्टपूर्ण भी जीवन की बीती घड़ियाँ।"

रसात्मक बोध के विभिन्न रूपों पर सामान्य रूप से विचार करते हुए हमने इस तथ्य की ओर संकेत किया था कि शुक्ल जी की धारणायें क्रोचे के प्रातिभ-ज्ञान वाले सिद्धान्त से किसी अंश में साम्य रखती हैं। इस साम्य को एक सीमा के ही अंतर्गत रखा जायेगा, आगे चलकर, दोनों के विचारों में जो भेद हो गया है उसकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। शुक्ल जी ने इस प्रकरण में आई० ए० रिचर्ड्स

---

१. चिं०, भाग १, पृ० २५९।

२. वही, पृ० २६०।

३. वही, पृ० २६०।

का ही उल्लेख किया है क्रोचे का नहीं । अगर तीनों आचार्यों के इन विचारों का परीक्षण एक साथ किया जाय तो ऐसा ज्ञात होगा कि क्रोचे की बात का ही समर्थन शेष दो आचार्य अप्रत्यक्ष रूप से कर जाते हैं, यद्यपि वे उससे सर्वांश में सहमत नहीं हैं ।

प्रत्यक्षादि अनुभूतियों मेंरसात्मकता का अस्तित्व स्वीकार करना अत्यन्त साहसपूर्ण कदम था, इसे आचार्य की मौलिक दृष्टि का ही परिणाम माना जायेगा, पूर्व या पश्चिम के किसी आलोचना सिद्धान्त में इसको अंतर्भुक्त नहीं किया जा सकता। यह प्रत्यक्ष जीवन में भाव-योग की सिद्धि का स्पष्ट निदर्शन है !

(ग) रस की कोटियाँ

शुक्ल जी द्वारा उत्थापित रस की मध्यम कोटि वाला सिद्धान्त जितना ही मौलिक है उतना ही विवाद-ग्रस्त भी । प्रतिपादित होने के बाद से ही इसके पक्ष अथवा विपक्ष में अनेक प्रकार के तर्कों की योजना अधिकारी विद्वानों द्वारा होती रही है । अधिकांश यही माना गया कि यह स्थापना रसवाद के अनुकूल नहीं । देखा जाय कि वस्तु-स्थिति क्या है ।

आचार्य शुक्ल ने कहा है कि "कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करने वाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जागेगा । ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील-द्रष्टा या प्रकृति-द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा । पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे ।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण पर ध्यान देने से प्रकट हो जाता है कि शुक्ल जी ने सिद्धान्त की नहीं, व्यवहार की समस्या उठाई है । सिद्धान्त रूप में रस का स्वरूप चाहे जो रहा हो, किन्तु इस व्यावहारिक समस्या का समाधान उससे नहीं हो सकता था। जैसा उन्होंने स्वयं बताया है, प्रबन्ध-काव्य, नाटक और उपन्यास आदि का प्रत्येक पाठक ऐसी स्थितियों से अवश्य परिचित होगा जिनमें आश्रय के साथ तादात्म्य नहीं हो पाता और न उसके अनुरूप आलम्बन का साधारणीकरण ही । ऐसी स्थिति में हमें वह रसात्मक अनुभव नहीं होता जिसका वर्णन 'रसवाद' के अन्तर्गत हुआ है और हम एक विलक्षण प्रकार की बेचैनी का अनुभव करने लग जाते हैं । शुक्ल जी के मत से यह विलक्षण अवस्था भी 'रस-कोटि' तक पहुँची हुई होती है, किन्तु उतनी उदात्त नहीं होती जितनी तादात्म्य वाली अवस्था। उन्होंने यह भी कहा है कि ऐसी स्थिति में श्रोता या दर्शक का भाव अपरितुष्ट दशा में रहता है, और जब कोई बलवान पात्र

---

१. चिं०, भाग १, पृ० २३१ ।

सामने आकर उस दुष्ट और क्रोधी पात्र की भर्त्सना करता अथवा उसे दण्ड देने लगता है तब हमारा वही अपरितुष्ट भाव परितुष्ट होने लगता है और हम पूर्ण रस का अनुभव करते हैं। भाव की परितुष्टि की अवस्था में हमारा काव्य या नाटक के आश्रय के साथ तादात्म्य हो जाता है और आलंबन के साथ साधारणीकरण भी। शुक्ल जी ने जिसे मध्यम कोटि की रसानुभूति कहा वह भाव की अपरितुष्ट दशा से संबद्ध है, परितुष्ट दशा से नहीं, जैसा श्री शिवनाथ जी भ्रमवश कहते हैं, "ऐसी स्थिति में जब काव्य-गत तीसरा पात्र आकर कुपात्र के प्रति विरोधी भाव की व्यंजना करता है, सुपात्र के प्रति अनुकूल भाव की व्यंजना करता है, तब श्रोता, पाठक या दर्शक को 'अपूर्व तुष्टि' होती है। यह तुष्टि ही रस की मध्यम कोटि है।"[1] यदि इस तुष्टि वाले प्रसंग में ही रस की मध्यम कोटि मानें तो उसकी उत्तम कोटि कौन-सी होगी ? अस्तु।

शुक्ल जी इस व्यावहारिक समस्या तक कैसे पहुँचे, यह रहस्य हमारे आगे के विवेचन से प्रकट हो जायेगा, किन्तु जब एक बार समस्या उठ खड़ी हुई तब उसके समाधान के लिए किन तर्कों की योजना हुई यह देखना यहाँ प्रासंगिक है।

इस समस्या का सबसे पहला और मौलिक समाधान श्री जयशंकर प्रसाद ने अपने एक निबन्ध में दिया।[2] उन्होंने बताया कि जिस स्थिति का संकेत शुक्ल जी ने किया है वह रस-दशा नहीं अपितु उसकी साधिका मात्र है। प्रबन्धकार, नाटककार अथवा उपन्यासकार अपनी कृतियों में इस प्रकार की स्थितियाँ केवल इसीलिए उत्पन्न किया करते हैं कि भाव में अधिक तीव्रता उत्पन्न हो और रसानुभूति सरल हो जाय। श्रोता या दर्शक ऐसी विलक्षण परिस्थितियों में जितनी ही अधिक बेचैनी का अनुभव करेगा, भाव की परितुष्टि की अवस्था में, उसे उतना ही पूर्ण रसानुभव होगा। मान लीजिये उस क्रूर और क्रोधी व्यक्ति के प्रति हमारे मन में घोर घृणा और क्रोध संचित हो चुका है और हम आतुरतापूर्वक उस क्षण की प्रतीक्षा किये बैठे हैं जब कोई अन्य पात्र उस दुष्ट को दण्डित करने के लिए आ जाय। तब उस पात्र के आने और ताड़ना करने में हमें कितना आनन्द होगा ! दूसरी ओर एक ऐसा उदाहरण लीजिये जिसमें लेखक ने ऐसी जटिल परिस्थिति नहीं उत्पन्न की और वह किसी अपरिचित पात्र को पहली ही तात्कालिक क्रूरता पर हमारे क्रोध को उत्तेजित करना चाहता है। ऐसी दशा में उतनी रसलीनता का उत्पन्न होना असंभव है।

'प्रसाद' जी के विवेचन में पूर्णता और मनोवैज्ञानिकता है, यह मानना होगा, किन्तु उनकी उपपत्ति भारतीय काव्य परंपरा पर ही घटित होती है, जहाँ काव्य को मंगल-जनक परिणाम तक पहुँचाना अनिवार्य था। भारतीय साहित्य में ऐसी जटिल परिस्थितियाँ और भावों की अपरितुष्ट दशाएँ भी बहुत मिलती हैं, किन्तु उन सबको

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २०५।
२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ८३।

मंगलमूलक परिणाम तक पहुँचाने वाले साधन के रूप में ही नियोजित किया गया है। उन विलक्षण परिस्थितियों में काव्य की परिसमाप्ति नहीं हुई। किन्तु आधुनिक उपन्यासों और अनेक योरोपीय महाकाव्यों और नाटकों में ऐसी अपरितुष्ट अवस्था में ही रचना की परिसमाप्ति हो जाने के कारण प्रसाद जी का उक्त विधान वहाँ तक लागू नहीं होता। वहाँ ये अवस्थायें साध्य रूप में ही मान्य हैं, इसलिये उनके साधन रूप होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

एक विचित्र बात यह है कि इस रस-दशा का विवेचन करते समय शुक्ल जी के समक्ष वे पाश्चात्य साहित्य संबंधी समस्याएँ ही थीं जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, किन्तु उन्होंने जो उदाहरण दिये वे भारतीय साहित्य के, जैसे क्रोधी परशुराम और रावण। वे रस-शास्त्र की एक नई संभावना का उद्भावन कर रहे थे जिससे रसेतर दृष्टि से लिखा साहित्य भी उसके अंतर्गत विवेचित हो सके, किन्तु उन्होंने उदाहरण अपने यहाँ के पुराने प्रसंगों से निकालकर देने का प्रयास किया, शायद इसीलिये कि वे वस्तुस्थिति को भारतीय साहित्य में ही प्रमाणित करना चाहते थे। वे इस बात का स्वयं ही अनुभव कर रहे थे कि पाश्चात्य नाटकों में ही मध्यम कोटि की रसानुभूति प्राप्त हो सकती है, भारतीय काव्यों में नहीं। इन्दौर वाले भाषण में इस तथ्य का निरूपण करते हुए उन्होंने कहा—

"अतः प्राकृतिक वैचित्र्य-प्रदर्शन की दृष्टि से लिखे हुए पाश्चात्य नाटकों से इसी प्रकार की (मध्यम कोटि की) रसानुभूति होती है। पर हमारे यहाँ के पुराने नाटकों में रस की प्रधानता रहने से 'साधारणीकरण' अधिक अपेक्षित होता है।"[1]

यहाँ शुक्ल जी के पक्ष में एक बात कहनी आवश्यक है। उनके इन उदाहरणों में रस की 'साधकता' मानकर हम 'प्रसाद' जी के तर्क के अनुसार काम अवश्य चला सकते हैं और रस की अखण्डता को भी अक्षुण्ण रख सकते हैं, लेकिन उन स्थितियों में भी मन जिस अवस्था को पहुँचा रहता है, वह केवल भाव-दशा नहीं होती, उससे कुछ ऊँची लगती है। रस की अखण्डता अथवा उसकी अलौकिकता का नाम लेकर हम उस अपवादी स्थिति के अस्तित्व से इन्कार नहीं कर सकते और न ही उसे साधन-रूप में देखकर संतुष्ट हो सकते हैं।

उक्त मान्यता को लेकर, विस्तृत विचार करने वाले दूसरे विद्वान हैं, पण्डित राम दहिन मिश्र। ऊपर हमने शुक्ल जी का जो उद्धरण लिया है उसे सामने रखकर मिश्र जी ने कहा है कि "योरोपीय विचार के अनुशीलन का ही यह प्रभाव है कि शुक्ल जी ने दो कोटि की रसानुभूति बतलाई। संवेदनात्मक रसानुभूति, प्रथम कोटि की और शील द्रष्टात्मक रसानुभूति, मध्यम कोटि की। संभव है कि कहीं से निकृष्ट कोटि की

---

१. चिं०, भाग २, पृ० ४०।

भी रसानुभूति टपक पड़े।"[१] किन्तु शुक्ल जी ने तो तीनों प्रकार की रसानुभूतियों का अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख अपने इन्दौर वाले भाषण में किया है—

"चमत्कारवादियों के कुतूहल को भी काव्यानुभूति के अंतर्गत ले लेने पर रसानुभूति की क्रमशः उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन दशाएँ हो जाती हैं।"[२] मिश्र जी का ध्यान इस कथन की ओर गया होता तो इसे वे अवश्य उद्धृत करते! योरोपीय विचार के अनुशीलन वाली बात अवश्य ठीक है, यह बात अलग है कि हम उसे बुरा समझते हैं अथवा अच्छा।

आगे चलकर, शुक्ल जी के उक्त उद्धरण पर शास्त्रीय ढंग से विचार करते हुए मिश्र जी ने पाँच आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं।[3]

पहली आपत्ति यह है कि "रसास्वाद भिन्न-भिन्न कोटि का नहीं होता। क्योंकि उसे अखण्ड, स्वयं प्रकाश रूप और आनन्दमय कहा गया है।"

दूसरी आपत्ति यह है कि अपुष्टावस्था में रहने पर भाव, भाव ही रहता है और संचारी संज्ञा को प्राप्त होता है।

तीसरी आपत्ति यह है कि क्रोधी, यदि बिना शत्रुता के भाव के, किसी दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना करेगा तो कृत्रिमता उत्पन्न हो जायेगी और सामाजिकों का मन रम नहीं सकेगा—क्योंकि क्रोध का आलम्बन शत्रु होता है।

चौथी आपत्ति यह है कि उक्त उदाहरण में दीन-असहाय के ऊपर प्रबल क्रोध की व्यंजना से अनुचित स्थान में विस्तार होने का रस-दोष उपस्थित हो जायेगा।

पाँचवीं आपत्ति यह है कि क्रोध की प्रबल व्यंजना में व्यंजना का रूप रह ही नहीं जायेगा। हम भी आग-बबूला हो जायँ और मंच पर जूता चला बैठें तो उसका वह रूप लौकिक हो जायेगा।

जहाँ तक पहली आपत्ति का प्रश्न है, यह माना जायेगा कि वह रस-शास्त्र की दृष्टि से उठाई गई है। रस को अखण्ड आनन्दमय, स्वयं प्रकाश रूप और लोकोत्तर मानकर चलने में शुक्ल जी की विचारणा एक दम अनर्गल और अशुद्ध सिद्ध हो जाती है। किन्तु उनका पक्ष इससे भिन्न है। उनके अनुसार रस को जो अलौकिक कहा गया वह केवल अर्थवाद के रूप में, तात्त्विक रूप में नहीं। वस्तुतः वे काव्य को मनोमय कोश से ऊपर ले जाकर विचार करने के पक्षपाती नहीं हैं।

किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से भी शुक्ल जी के पक्ष-समर्थन की एक युक्ति है जिस की ओर मिश्र जी ने स्वयं संकेत कर दिया है—यद्यपि रसास्वाद सत्वोद्रेक से ही होता है "तथापि रजः तमः की उस पर छाया पड़ती है और इनके मिश्रण से रस-भोग की

---

१. हिन्दुस्तानी—१९४६, पृ० १५३।
२. चिं०, भाग २, पृ० २४०।
३. हिन्दुस्तानी—१९४६, पृ० १५४।

अनेक प्रणालियाँ (कोटियाँ ?) हो सकती हैं।" फिर मध्यम कोटि की रसानुभूति में रजः तमः की छाया क्यों नहीं मानी जा सकती ?

दूसरी आपत्ति अपुष्टावस्था में भावानुभव होने की है। शुक्ल जी ने भी स्थायी और संचारी के भेद के मूल आधार का अनुसन्धान करते हुए यह दिखाया है कि जो भाव आश्रय के मन में उद्‌बुद्ध होकर फिर साधारणीकरण द्वारा पाठक या दर्शक के मन में, उद्‌बुद्ध नहीं हो पाते वे संचारियों की श्रेणी में डाले गये हैं, जैसे लज्जा, असूया आदि, किन्तु जो भाव संक्रामक हैं उन्हें स्थायी भाव माना गया है, जैसे क्रोध आदि। उक्त प्रकरण में जिस भाव के उद्‌बुद्ध होने का प्रश्न है वह क्रोध नामक स्थायी भाव है। शुक्ल जी के उक्त वर्गीकरण के अनुसार हम उसे संचारियों में स्थान नहीं दे सकते। हाँ, एक दूसरी संभावना और है जो इस प्रकरण में विचारणीय है। शुक्ल जी के भाव-विवेचन के प्रसंग में हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार वे मनोवैज्ञानिकों की ही भाँति कुछ भाव-कोशों (सेंटीमेंट्स) की ऐसी स्थिति मानते हैं जिसमें अनेक विपरीत भाव उत्पन्न होते रहते हैं और मूल में प्रवर्त्तक भाव विद्यमान रहता है।[२] ऐसी स्थिति में दीन और असहाय के प्रति हमारी करुणा का भाव ही मूल-प्रवर्तक भाव माना जायेगा और अत्याचारी के प्रति क्रोध या घृणा उसके द्वारा प्रवर्त्तित। पहले में भाव की स्थायी-दशा रहेगी और दूसरे में भाव-दशा।[३] उस दीन और असहाय के प्रति हमारे मन में करुणा पहले से ही विद्यमान रहेगी, तभी अत्याचारी के ऊपर क्रोध होगा। बिना उस करुणा के उत्पन्न हुए हम क्रोध का अनुभव ही नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में, उक्त प्रकरण में यदि करुण-रस का ही अस्तित्व मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है ? आपत्ति स्पष्ट है। अत्याचारी के प्रति क्रोध का भाव इतना प्रबल रहेगा कि वह करुण-रस का विविक्त रसानुभव नहीं होने देगा और शुक्ल जी द्वारा संकेतित मध्यम कोटि की रसानुभूति ही शक्य होगी।

मिश्र जी की तीसरी आपत्ति जिसमें यह कहा गया कि उक्त अवसर पर क्रोध की प्रबल व्यंजना प्रकरण-विरुद्ध और अस्वाभाविक होगी, ग्राह्य नहीं जान पड़ती। यह तो कवि के कौशल के ऊपर निर्भर करता है कि अस्वाभाविकता को बचाते हुए उस परिस्थिति का रूप खड़ा करे लेकिन इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसी स्थितियाँ प्रबन्ध-काव्यों, नाटकों और उपन्यासों में होती हैं। दूसरी बात यह भी है कि अत्याचारी के क्रोध की किंचित् अस्वाभाविकता और अवांछनीयता ही हमारे मन में उसके प्रति एक ओर तो घृणा आदि मनोविकारों को जन्म देगी और दूसरी ओर उसके आचरण या चरित्र की ओर हमारा ध्यान ले जायेगी। यदि अत्याचारी

---

१. चिं०, भाग २, पृ० २३६।
२. रस-मीमांसा, पृ० १७०।
३. वही, पृ० १७८।

के क्रोध में स्वाभाविकता ही रही, किसी प्रकार की विलक्षणता न आ सकी, तो उसके अनौचित्य का प्रश्न ही कहाँ रहेगा ?

चौथी आपत्ति जिसमें यह कहा गया कि दीन और असहाय कृपा या करुणा के ही पात्र होते हैं, इसलिये उनके ऊपर क्रोध की व्यंजना होने से अनुचित स्थान में विस्तार का दोष लग जायेगा, तीसरी आपत्ति का ही सैद्धान्तिक पक्ष है । ऊपर दी हुई युक्ति से ही इसका भी निराकरण हो जाता है ।

पाँचवीं आपत्ति बड़ी विलक्षण और उपहासास्पद लगती है । यदि पात्रों द्वारा व्यंजित भावों को देखकर दर्शकों का क्रोध भी इस लौकिक रूप में प्रकट हो कि वे मंच पर जूता चला बैठें, तब नाट्यशालाओं और रंग मंचों में रोज़ जूते ही चलते रहें । वास्तव में दर्शकों में कायिक या वाचिक अनुभाव इस रूप में प्रकट नहीं होते । उन अनुभावों का साधारणीकृत रूप कुछ और ही होता है । अतः यह आपत्ति निराधार है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मिश्र जी की अधिकांश आपत्तियाँ शुक्ल जी द्वारा संकेतित परिस्थिति के अनस्तित्व या अस्वाभाविकता को लेकर ही उठाई गई हैं, केवल पहली आपत्ति ही सैद्धान्तिक है । किन्तु उसमें सतोगुण के ऊपर रज और तम की छाया पड़ने की बात कहकर परिस्थिति के अस्तित्व और उसकी स्वाभाविकता को मान लिया गया है । इससे प्रकट है कि उन आपत्तियों में परस्पर विरोध है ।

डॉ० देवराज ने शुक्ल जी द्वारा उत्थापित सिद्धान्त को अधिक महत्त्वपूर्ण मानकर ग्रहण किया है । दुष्यन्त के द्वारा, उपालम्भ देती तथा दोषारोपण करती हुई शकुन्तला के प्रत्याख्यान का उल्लेख करके वे पूछते हैं कि, "तब हमारी अनुभूति का आलम्बन क्या होता है ? दुष्यंत ? अथवा शकुन्तला ? क्या उस समय हमारा ध्यान दुष्यंत की दुविधा और शकुन्तला के कष्ट तथा क्रोध इन सब पर नहीं होता ? और क्या यह कहना अधिक ठीक नहीं होगा कि नाटक का यह स्थल हममें एक जटिल नैतिक परिस्थिति की समस्यामूलक चेतना को जगाता है ।"[1]

शुक्ल जी ने उस जटिल नैतिक परिस्थिति की समस्या में डूबे हुए पाठक या दर्शक को ही शील-द्रष्टा माना है ।

इस मध्यम कोटि की रसानुभूति का आविष्कार आचार्य शुक्ल ने नीतिवादिता के आग्रह से मनोविज्ञान का आधार लेकर किया, इस बात का उल्लेख अनेक सुधी आलोचकों ने किया है । यह बात विचारणीय है कि नीति, मनोविज्ञान और रस का यह सामंजस्य वह क्योंकर कर सके । भाव के प्रकरण में हम देख चुके हैं कि वे मनोवेग-वर्जित-सदाचार (नीतिवादिता) को दम्भ मानते हैं और भावों के आधार पर ही शील या आचरण की प्रतिष्ठा मानते हैं, जिसका अत्यन्त दृढ़ प्रतिपादन शैंड ने अपनी "फाउण्डेशन्स ऑफ कैरेक्टर" नामक पुस्तक में किया है । मनोविज्ञान और

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १४७ ।

नीतिवादिता के इस अविच्छिन्न रूप को लेकर जब वे रस की उस स्थिति के निकट पहुँचे तो उनकी सूक्ष्मग्राहिणी वृत्ति ने उस नयी सम्भावना को तुरन्त पकड़ लिया। यह पकड़ उनके चिन्तन की मौलिकता का प्रमाण है। इसलिए यह मानते हुए भी कि शुक्ल जी की उक्त उद्भावना के मूल में कुछ बाहरी सिद्धान्तों का प्रभाव है, हम यह नहीं मान सकते कि वह उद्भावना अपने आप में नूतन या मौलिक नहीं है।

इस प्रकरण में इतना और कह देना आवश्यक है कि हमारा विचारणीय प्रश्न यह नहीं होना चाहिए कि शुक्ल जी का मत रसवाद के अन्तर्गत है अथवा नहीं, अपितु हमें यह देखना चाहिए कि उन्होंने जिस तथ्य का उद्भावन किया, उसमें सचाई कितनी है। अपने रसवाद को अधिक व्यापक बनाने की एक मात्र यही पद्धति हो सकती है।

शुक्ल जी की यह स्थापना मौलिक है, किन्तु उनके भाव-विवेचन को ध्यान से देखने पर प्रतीत होता है कि 'सेंटीमेंट्स' और 'इमोशन' के सापेक्षिक व्यापकत्व और पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करके ही वे उस स्थिति का उद्घाटन कर सके जिसमें एक 'सेंटीमेंट' के अन्तर्गत किसी विपरीत इमोशन (भाव) का अभ्युदय हो जाया करता है।

(घ) साधारणीकरण का विषय

शुक्ल जी का मत : "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।"[1]—विषय को ही किसी रूप में लाया जाता है। अतः सिद्ध है कि साधारणीकरण उसी का होता है, दूसरे शब्दों में साधारणीकरण आलम्बन का होता है। शुक्ल जी आगे कहते हैं "इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है।"[2] इससे प्रकट है कि किसी विषय में आलम्बनता का जो गुण होता है, वही साधारणीकृत हो जाता है।

शुक्ल जी के उक्त मत को लेकर, हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक डॉ० नगेन्द्र ने एक रोचक आपत्ति उठाई है। वे इस सिद्धान्त से सहमत नहीं कि साधारणीकरण आलम्बन का होता है, उनका निष्कर्ष यह है कि "साधारणीकरण कवि की अपनी

---

१. चिं०, भाग १, पृ० २२७।

२. वही, पृ० २३०।

अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्त कर सकता है कि वह सभी के हृदय में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है।"[1]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि डॉक्टर साहब की उक्त उपपत्ति अत्यन्त संगत है और उसके द्वारा साधारणीकरण की अपवादी स्थिति—आश्रय के साथ तादात्म्य और आलम्बन के साधारणीकरण का न होना—के निराकरण का मार्ग स्वच्छ हो गया है। इस सिद्धान्त का उपयोग काव्य अथवा नाटक की सभी स्थितियों में हो सकता है। कवि की अनुभूति (भाव) के साधारणीकरण (तादात्म्य) की बात शुक्ल जी ने भी दो स्थलों में मानी है, एक तो वहाँ जहाँ किसी प्राकृतिक दृश्य का यथातथ्य चित्रण हो और आश्रय के रूप में स्वयं कवि ही प्रतिष्ठित हो, दूसरे वहाँ जहाँ आश्रय के दुराचारी कृत्यों के कारण हमारे मन में उसके प्रति घृणा, क्रोध आदि के भाव जग जायँ और हम शील-द्रष्टा बन जायें। पहली स्थिति में किसी अन्य आश्रय के न रहने के कारण हमारा तादात्म्य कवि के भाव से ही हो सकता है और दूसरी स्थिति के लिए शुक्ल जी ने स्पष्ट कहा है—

"इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त-भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है।"[2] इस अवतरण से प्रकट है कि अपने मूल रूप में यह स्थापना आचार्य शुक्ल के विवेचन में विद्यमान थी, कारण-वश वे इसे सामान्य नियम के रूप में नहीं ग्रहण कर सके। नगेन्द्र जी ने इसी मूल रूप को अधिक आगे बढ़ाकर, कुछ अधिक व्यापक बनाने की चेष्टा करते हुए, सामान्य नियम तक पहुँचाया, किन्तु रस-सम्बन्धी वास्तविक विचिकित्सा का समाधान यह सामान्य नियम उतना नहीं कर पाता जितना शुक्ल जी द्वारा उद्भावित सिद्धान्त। आगे दोनों मतों की छान-बीन से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

सबसे पहले ध्यान देने की बात है—'तादात्म्य' और 'साधारणीकरण' शब्दों का अलग-अलग प्रयोग जिसमें शुक्ल जी अत्यन्त सजग हैं। आश्रय और पाठक के भावों के एकीकरण की अवस्था को वे 'तादात्म्य' शब्द से और दोनों के आलम्बनों के एकीकरण को 'साधारणीकरण' शब्द से सूचित करते हैं। इन शब्दों के प्रयोग में निहित उनके प्रयोजन को परिस्फुट किये बिना हम उनके सिद्धान्त का परीक्षण नहीं कर सकते। 'तादात्म्य' शब्द वस्तुतः विषयी की चेतनता और क्रियात्मकता का बोध कराता है, शुक्ल जी उस क्रियात्मकता पर बल देना चाहते हैं जो पाठक के हृदय को गतिशील बना कर आश्रय या कवि के हृदय तक पहुँचा देती है। यह पाठक के

---

१. विचार और विवेचन, पृ० ३३।
२. चिं०, भाग १, पृ० २३२।

हृदय की आन्तरिक गति है। 'साधारणीकरण' का प्रयोग शुक्ल जी आलम्बन के लिये करते हैं जो सजीव या निर्जीव, कुछ भी हो सकता है और जो कवि की कला का स्पर्श पाकर उसी के आघात से पाठकों के आलम्बनों के साथ एकाकार होता है। कवि उस आलम्बन को ही इस रूप में चित्रित अथवा निर्मित करता हुआ अवतरित करता है कि वह पाठकों के आलम्बन-स्तर तक उतर आये। उस अवतरण में कवि का प्रत्यक्ष कौशल अपेक्षित होता है। जिस गति से कवि का आलम्बन पाठक का आलम्बन बनने के लिए गतिशील होता है ठीक उसी गति से उसका हृदय भी कवि अथवा आश्रय के हृदय के साथ एकाकार होने के लिये आगे बढ़ता है और जिस क्षण में आलम्बन अन्तिम रूप से साधारणीकृत हो जाता है ठीक उसी क्षण में आश्रय के साथ पाठक का तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

ऊपर दिये हुए विवरण से स्पष्ट है कि और आचार्यों से शुक्ल जी का दृष्टि-भेद यहीं से प्रारम्भ हो जाता है। वे काव्य-गत आलम्बन और आश्रय की विभिन्नता का भी सदैव ध्यान रखते हैं। दूसरी ओर डॉक्टर नगेन्द्र की स्थापना में इस भेद को हटा देने का प्रयास किया गया है। पूछा जा सकता है कि कवि की अनुभूति का क्या अर्थ है? क्या उस का तात्पर्य केवल काव्य-गत आलम्वन से है? या आश्रय भी उसके भीतर सन्निविष्ट है? 'मानस' के पात्रों का उदाहरण लें (जैसे डॉ० नगेन्द्र ने लिया है) तो पूछ सकते हैं कि प्रेम का आलम्बन होने के कारण सीता कवि की अनुभूति का प्रतीक है या उस भाव का आश्रय राम भी? यदि दोनों का समावेश कवि की अनुभूति के अन्तर्गत हो जाता है तो नगेन्द्र जी के निम्नांकित कथन का क्या प्रयोजन?

"इसलिए जिसे हम आलम्बन कहते हैं (यानी सीता) वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का संवेद्य रूप है।"[1] यह मानते हुए भी कि सीता कवि की ही अनुभूति का प्रतिरूप है, यह प्रश्न बना ही रहता है कि राम क्या है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि वह भी कवि की ही अनुभूति का प्रतीक है। और फिर, सीता राम ही क्यों, सम्पूर्ण रामचरितमानस ही अपने दृश्यों, घटनाओं और पात्रों के साथ कवि की अनुभूति का अंग सिद्ध हो जाता है। वह तुलसी की अनुभूति का ही बाह्य प्रतिबिम्ब है। यहाँ पहुँच कर जब हम नगेन्द्र जी के इस वाक्य को देखते हैं कि "हम राम से तादात्म्य न कर तुलसी से ही तादात्म्य कर पायेंगे।" तब स्वतः ही प्रश्न उठता है कि तादात्म्य के इस प्रकरण में 'तुलसी' क्या है? क्या वह कवि ही है या रस-शास्त्र में उसकी और कोई अभिधा भी हो सकती है? कदाचित् इस से नगेन्द्र जी भी सहमत होंगे कि यहाँ वह आश्रय के स्थान पर है और इस दृष्टि से सम्पूर्ण 'रामचरितमानस' ही आलम्बन है जिसके प्रति कवि-रूप आश्रय का एक निर्दिष्ट भाव है और नगेन्द्र जी के मत से वही भाव पाठकों के मन में भी उद्बुद्ध हो जाता है। कवि के साथ तादात्म्य

---

१. विचार और विवेचन, पृ० ३३।

करने का यही अर्थ हो सकता है। दूसरी ओर नगेन्द्र जी की यह स्थापना है कि साधारणीकरण कवि की अनुभूति (यानी संपूर्ण रामचरितमानस) का होता है। और हम यह देख चुके कि रस-शास्त्र की शब्दावली में कवि की वह अनुभूति पाठक की दृष्टि से विचार करने पर आलम्बन ही ठहरती है। ऐसी स्थिति में यह कहने में क्या आपत्ति है कि 'साधारणीकरण' आलम्बन का होता है। वास्तव में नगेन्द्र जी की उक्त स्थापना से कहीं अधिक व्यापक शुक्ल जी की ही स्थापना है, आवश्यकता केवल इस बात की है कि उसे अलग प्रकरण में भी रखकर देखा जाये। शुक्ल जी ने बँधी हुई शास्त्रीय शब्दावली का व्यवहार किया है और साधारणीकरण का सिद्धान्त इसी शब्दावली के माध्यम से परिस्फुट किया जा सकता है। चाहे हम कवि की अनुभूति के साधारणीकरण की बात कहें चाहे किसी और की, जब विषयी या ग्रहीता को समक्ष रखेंगे तो विषय या ग्राह्य हमारे समक्ष अवश्य उपस्थित होगा, इन्हें ही आश्रय-आलंबन के रूप में देखना होगा और साधारणीकरण की वास्तविकता इनसे ही स्पष्ट करनी होगी।

नगेन्द्र जी की स्थापना के सम्बन्ध में एक और बात का विचार आवश्यक है। हमने पहले कहा था कि वह सामान्य रूप से सर्वत्र लागू होने वाला सिद्धान्त है, आगे चलकर हमने दिखाया कि वह स्थिति-भेद से शुक्ल जी के आलम्बन वाले सिद्धान्त का समर्थन ही है। अब यहाँ यह कहा जाय कि यह सिद्धान्त प्राचीन आचार्यों के ही इस सिद्धान्त की आधुनिक प्रतिध्वनि है कि विभाव आदि सब का साधारणीकरण होता है, क्योंकि कवि की अनुभूति का संवेद्य रूप ही तो विभावादिकों में व्यक्त हुआ है। इस प्रकार यह स्थापना इतनी सामान्य और व्यापक बन जाती है कि इसके असत्य होने की कोई आशंका ही नहीं रहती। लेकिन इसके साथ हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि वस्तुस्थिति का यह बहुत ही प्रारंभिक निरूपण है, यह समाधान हमें समस्या के प्रथम सोपान पर ही छोड़ देता है। शुक्ल जी के "साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद" शीर्षक लेख को देखने पर यह स्फुट हुए बिना नहीं रहता कि वे प्रश्न को उस सोपान पर अधिष्ठित नहीं करते। अपनी अन्तःप्रवेशशीलता के आंतरिक गुण के कारण वे आगे बढ़ते हैं और दो अलग-अलग स्थितियों का अनुसंधान कर लेते हैं—एक तो वह जहाँ कवि के साथ तादात्म्य करने के साथ-साथ पाठक, काव्य-गत आश्रय के साथ भी तादात्म्य कर लेता है और दूसरा वह जहाँ उसका तादात्म्य केवल कवि के ही साथ होता है काव्यगत आश्रय के साथ नहीं। इस अपवादी स्थिति के अस्तित्व को हम अस्वीकार नहीं कर सकते और न यही कह सकते हैं कि इन दोनों स्थितियों की रसानुभूति समश्रेणीय है। दोनों स्थितियों के गंभीर वास्तविक भेद का निराकरण हम इस स्थापना से नहीं कर सकते कि कवि की अनुभूति का ही साधारणीकरण होता है।

अगर इस अपवादी स्थिति का विचार छोड़ भी दें तो भी शुक्ल जी की गवेषणा युक्ति-संगत जान पड़ेगी। कवि की अनुभूति वाली स्थापना तो कुछ इतनी गोल-मटोल

है कि रहस्य का अनावरण नहीं होने देती। उससे आगे बढ़ने पर, यानी कवि के अव्यक्त व्यक्तित्व को अलग रखकर जब हम काव्यगत आलम्बन-आश्रय तक पहुँचते हैं तभी इस विस्तार में पहुँच पाते हैं कि साधारणीकरण की क्रिया कहाँ से शुरू होती है और उसका मूल विषय कौन है; इन सबको अलग-अलग रखने से ही काव्य के ग्रहण की प्रक्रिया स्पष्ट होती है। और यहाँ पहुँच कर हम देखते हैं कि यदि हम सामाजिक के हृदय का साधारणीकरण मानें तो प्रश्न उठेगा कि उसका कारण क्या है, यानी वह कौन-सी वस्तु है जिसके समक्ष उपस्थित होने पर ही हृदय की वह स्थिति होती है और जिसके न आने पर नहीं होगी। या वह वस्तु अगर रूप बदल कर आये तो भी हृदय उस स्थिति को नहीं प्राप्त होता। उत्तर होगा कि वह वस्तु आलम्बन है। उसका एक विशेष रूप धारण करके आना ही हृदय को उस स्थिति में पहुंचाने का कारण है और कहना न होगा कि यह रूप धारण करके आना ही साधारणीकरण है। इसी प्रकार यदि काव्यगत आश्रय के साधारणीकरण की बात कहें तो आलम्बन की कारणता और उसका साधारणीकरण पहले ही मानना होगा क्योंकि शुक्ल जी के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक भी मानते हैं कि भाव का प्रथम अवयव विषय-बोध ही है। आश्रय में भावोदय के पूर्व आलम्बन की स्थिति मानना अनिवार्य है। आश्रय के तादात्म्य और आलम्बन के साधारणीकरण का वह तात्पर्य ध्यान में रखना आवश्यक है जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। शुक्ल जी दोनों में प्रक्रिया का भेद मानते हैं और उन प्रक्रियाओं को ही अलग-अलग शब्दों द्वारा अभिहित करते हैं। इस प्रकार यह निर्णय मान्य ठहरता है कि साधारणीकरण आलम्बन का ही होता है।

नगेन्द्र जी की स्थापना को मान लेने पर शुक्ल जी के रस-सम्बन्धी सिद्धान्त में ऐसी अनेक अपवादी स्थितियाँ उत्पन्न हो जायेंगी जिनका कोई समाधान नहीं हो सकता। शुक्ल जी प्रत्यक्ष अनुभूतियों को भी रसात्मक मानते हैं और स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और स्मृत्याभास कल्पना द्वारा गृहीत बिम्बों को भी विशेष अवस्थाओं में उसी प्रकार रसोद्बोधक मानते हैं जिस प्रकार काव्य को। प्रश्न होगा कि यहाँ कवि कौन है जिसके साथ हमारा तादात्म्य हो और जिसकी अनुभूति का साधारणीकरण हो। ऐसी स्थिति में या तो इन अवस्थाओं में रसानुभूति के अस्तित्व को ही अस्वीकार करना होगा या उस स्थापना को ही छोड़ देना होगा जिसके अनुसार कवि की अनुभूति का साधारणीकरण होता है। क्योंकि इस प्रकरण में तो सृष्टि के विधाता के साथ ही तादात्म्य करने की बात उठ पड़ेगी और अस्तित्व-अनस्तित्व के विवाद से पिंड छूटना मुश्किल हो जायेगा।

डॉ० नगेन्द्र की स्थापना को लेकर एक बात और। सीता आदि पात्रों के प्रति रति भाव के उत्पन्न होने की जो नैतिक कठिनाई है उसके निवारणार्थ उस स्थापना में यह बताया गया है कि कवि की मूल प्रेरक अनुभूति में ही यदि रति का अस्तित्व है तो हमें उसका अनुभव होगा और उसमें कोई आपत्ति नहीं होगी। भट्टनायक ने

इसी आपत्ति का निराकरण साधारणीकरण की क्रिया से किया था। इस क्रिया के द्वारा ही तो पात्र अपना रूप विसर्जित कर देता है, उसकी विशिष्टता समाप्त हो जाती है। कवि की अनुभूति तक पहुँचते-पहुँचते पात्र अपना वैशिष्ट्य विसर्जित कर चुका होता है, यहाँ विशिष्ट होकर या अपनी सम्पूर्ण ऐतिहासिक सत्ता को लेकर वह पहुँच ही नहीं सकता। दूसरे शब्दों में उसका साधारणीकरण पहले ही हो गया रहता है। अतः उक्त स्थापना में जो बात कही गई है वह प्राचीन सिद्धान्त का अनुमोदन करती हुई जान पड़ती है।

शुक्ल जी के मत को शास्त्रीय मत के साथ समन्वित करने के लिये कभी-कभी यह भी प्रतिपादित किया जाता है कि उसमें प्रकारान्तर से कवि और विभावादि सभी का साधारणीकरण मान्य है। किन्तु यह प्रतिपादन युक्ति-युक्त नहीं जान पड़ता। 'आलोचना' के एक लेख में श्री रामलालसिंह ने यह शिकायत की है कि, "शुक्ल जी की कृतियों में साधारणीकरण की व्याख्या एक स्थान पर पूर्णरूपेण नहीं मिलती, इसीलिए उनके आलोचक किसी वाक्य को लेकर उड़ पड़ते हैं और उसे एकांगी, संकुचित अथवा अशास्त्रीय घोषित करने का प्रयत्न करते हैं और कुछ उसे किसी आचार्य के अनुकरण का फल बतलाने का प्रयत्न करते हैं।"[१] इस शिकायत को दूर करने के उद्योग में प्रवृत्त होते हुए स्वयं लेखक ने शुक्ल जी के कुछ उद्धरणों को सामने रख कर यह दिखाने का प्रयास किया है कि उन्होंने शास्त्रोक्त मत का ही प्रतिपादन किया था। उनका कहना है :—

'रस-मीमांसा में काव्य का लक्ष्य", नामक निबन्ध में शुक्ल जी ने साधारणीकरण में कवि, विभावादि तथा सहृदय तीनों के साधारणीकरण की बात कही है, वह उन्हीं के शब्दों में देखिए :—

"जहाँ आचार्यों ने पूर्ण रस माना है, वहाँ तीनों हृदयों का समन्वय चाहिये, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है, वह तभी चरितार्थ हो सकता है।" अर्थात् काव्य में साधारणीकरण की स्थिति लाने के लिये शुक्ल जी सर्वप्रथम कवि की अनुभूति के साधारणीकरण पर बल देते हैं। इसे भी उन्हीं के शब्दों में स्पष्ट रूप से देखिये—"विषय के सामान्यत्व की ओर जब कवि की दृष्टि रहेगी तभी यह साधारणीकरण हो सकता है।"[२]

उक्त अवतरण के दोनों उद्धरणों से वह बात सिद्ध नहीं हो पाती जो लेखक महोदय सिद्ध करना चाहते हैं। शुक्ल जी ने अपना मंतव्य जैसे एक बार बिना किसी

---

१. 'आलोचना', भाग १८, पृ० ५७।
२. वही, पृ० ५७।

ननु-नच के स्पष्ट कर दिया है वैसे ही यहाँ भी उनकी स्थिति निर्भ्रान्त है। पहले अवतरण में उन्होंने तीन हृदयों के समन्वय की बात कही है, जिसे अन्य स्थानों में वे तादात्म्य शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं। हम ऊपर इस बात को प्रमाणित कर चुके हैं कि पाठक का कवि, और काव्यगत आश्रय के साथ तादात्म्य होने पर ही शुक्ल जी रस की पूर्णावस्था मानते हैं। यहाँ भी उसी तादात्म्य को समन्वय शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। उन्होंने यह क्रम बताया है कि प्रत्यक्ष आलम्बन पहले कवि में भाव का अनुभव उत्पन्न करेगा और तदुपरान्त (कवि-कौशल द्वारा साधारणीकृत होकर) काव्यगत आश्रय का आलम्बन बनेगा और (अपने सामान्य धर्मों के कारण) सभी पाठकों का आलम्बन बन जायेगा। इस क्रम में शुक्ल जी के उक्त मन्तव्य की पुष्टि ही होती है। इसी प्रकार दूसरे अवतरण में "विषय के सामान्यत्व" की ओर "कवि की दृष्टि" के होने का एक यही अर्थ हो सकता है कि वह आलम्बन में सामान्य धर्मों की प्रतिष्ठा कर सकता हो। आलम्बनों में सामान्य धर्मों के साथ विशिष्ट निजी धर्म भी होते हैं, उन निजी धर्मों या वैशिष्ट्यों से मुक्त करके आलम्बन को देखना या प्रस्तुत करना ही उसका साधारणीकरण कहलाता है। इसलिए इस अवतरण से भी इस धारणा का खण्डन नहीं होता कि शुक्ल जी आलम्बन का ही साधारणीकरण मानते हैं।

इस प्रकार वस्तुस्थिति की पूर्ण परीक्षा करने के उपरांत हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि शुक्ल जी का उक्त सिद्धान्त मौलिक है और हमारी रस-मीमांसा की एक नूतन शृंखला का प्रतीक है।

(ङ) काव्य में वस्तु-व्यंजना

काव्य की विषय-वस्तु के संबंध में विचार करते हुए हम पहले देख चुके हैं कि आचार्य शुक्ल सम्पूर्ण चराचर जगत् को काव्य का विषय मानते हैं और शब्द-काव्य की सिद्धि तथा अनुशीलन के लिये वस्तु-काव्य का अनुशीलन परमावश्यक समझते हैं। यहाँ विचारणीय बात यह है कि कविता में इस व्यापक विषय-वस्तु का सन्निवेश किस पद्धति से किया जाय। यह तो सिद्ध बात है कि कवि वस्तुओं को पाठकों के समक्ष इसलिये प्रस्तुत करता है कि उनके साक्षात्कार से मनोगत भाव उद्बुद्ध हो सके, उस का उद्देश्य केवल वस्तुबोध करना नहीं होता। इसीलिए वस्तु-वर्णन की उसे ऐसी प्रणाली अपनानी पड़ती है जो स्थूल-सूक्ष्म वस्तु रूपों का गोचर प्रत्यक्षीकरण करा सके। इसे ही शुक्ल जी ने "बिम्ब-ग्रहण" की प्रणाली कहा है, जिसमें कवि का लक्ष्य बिम्ब-ग्रहण कराने का रहता है केवल अर्थ-ग्रहण कराने का नहीं। यह बिम्ब-ग्रहण क्या है ? शुक्ल जी के अनुसार यह संकेत-ग्रहण का ही एक रूप है जो वर्णित वस्तु का बिम्ब या चित्र प्रस्तुत कर देता है और यह अभिधा शक्ति के व्यापार के रूप में ही माना जाना चाहिये। उन्होंने कहा, "यह तो स्पष्ट है कि प्रतिबिम्ब या दृश्य का ग्रहण अभिधा

द्वारा ही होता है। पर अभिधा द्वारा ग्रहण एक ही प्रकार का नहीं होता।..... .....अभिधा द्वारा ग्रहण दो प्रकार का होता है। बिम्ब-ग्रहण और अर्थ-ग्रहण।"[१] इससे प्रकट है कि बिम्ब-ग्रहण को आचार्य शुक्ल अभिधा शक्ति का ही व्यापार मानते हैं। एक दूसरे प्रकरण में उन्होंने सम्पूर्ण वस्तु-बोध को अभिधा-शक्ति के माध्यम से ही सिद्ध मानकर 'वस्तु' के साथ व्यंजना शब्द के प्रयोग पर संशय प्रकट किया है। इस का विचार अन्यत्र किया गया है। प्रकरण-प्राप्त बात इतनी है कि कवि विभिन्न पद्धतियों का आलम्बन लेकर वस्तु के गोचर प्रत्यक्षीकरण में प्रवृत्त होता है। ये पद्धतियाँ क्या हैं ?

पहली है, वस्तुओं के व्यापारों की संश्लिष्ट योजना जिसका तात्पर्य है एक ही प्रकरण में आने वाले परस्पर संबद्ध वस्तुओं और व्यापारों की ऐसी जटिल योजना जो उन्हें एक सम्पूर्ण चित्र में आवेष्टित रखती है और बिखरने नहीं देती। इसके लिये आवश्यक है कि कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उनके आस-पास की परिस्थिति[२] का अखण्ड चित्र पहले स्वयं हृदयंगम कर ले।

दूसरी पद्धति है व्यापार-शोधन की। काव्य में व्यापारों के सूक्ष्म-बोध मात्र से काम नहीं चलता, मन के भीतर उनके मूर्त्त रूप का उपस्थित होना आवश्यक होता है। इसीलिये कविता केवल इतना कहकर काम नहीं चलाती कि "वहाँ अत्याचार हो रहा है। अपितु वह निरपराध व्यक्तियों के वध, भीषण यंत्रणा, स्त्री-बच्चों पर निष्ठुर प्रहार आदि का क्षोभकारी दृश्य सामने रखेगी।"[३] इसी के अनुरूप कविता में जाति-संकेत वाले शब्दों के स्थान पर व्यक्ति-संकेत वाले शब्दों का ही चुनाव करना पड़ता है।"[४]

ऐसा रूप-विधान कल्पना द्वारा ही संभव है, शुक्ल जी का यह मत हम पहले निरूपित कर चुके हैं, किन्तु यह ध्यान में रखना है कि वे कल्पना के अनुचित प्रयोग द्वारा उत्पन्न असत्य वस्तु के चित्र का समावेश काव्य में उचित नहीं समझते। पहले तो असत्य वस्तुओं के संगठन से किसी प्रकार का चित्र बन ही नहीं सकता, और यदि बना भी तो उससे केवल चमत्कार ही उत्पन्न हो सकता है, अन्य कुछ नहीं। इसलिये आवश्यक है कि कवि वास्तविक जगत् के वस्तु-सत्य से अपना संबंध-विच्छेद भी न करे। शुक्ल जी ने बताया है कि "सच्चे कवि वस्तु-व्यापार का चित्रण बहुत बढ़ा-चढ़ा चटकीला कर सकते हैं, भावों की व्यंजना अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँचा सकते हैं, पर वास्तविकता का आधार नहीं छोड़ते।"[५]

---

१. 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य', चिं०, भाग २, पृ० १।
२. चिं०, भाग १, पृ० १४६।
३. वही, पृ० १७७।
४. वही, पृ० १७६।
५. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ६७।

व्यंजित वस्तु की ग्रहण करने की प्रक्रिया में अनुमान और अभिधा को ही एक मात्र साधन मानकर आचार्य शुक्ल ने महिम भट्ट का समर्थन किया है। वस्तु के स्वरूप तक पहुँचना यानी उसका बोध प्राप्त करना किसी अन्य शब्द-शक्ति की अपेक्षा नहीं रखता। उन्होंने कहा है "विचार करने पर वस्तु-व्यंजना के सम्बन्ध में भट्ट जी का पक्ष ठीक ठहरता है। व्यंग्य वस्तु या तथ्य तक हम वास्तव में अनुमान द्वारा ही पहुँचते हैं।"[1] यदि व्यंग्य-वस्तु कोई पदार्थ या वस्तु ही है तो उनकी बात युक्ति-संगत लगती है। महिम भट्ट के विरोधियों ने वस्तु-व्यंजना के प्रसंग में भी उनके 'अनुमान-सिद्धान्त' को नहीं माना यह बात डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त के विवेचन से स्पष्ट है।[2] यदि शुक्ल जी की मान्यता ठीक है तो वह एक ओर महिम भट्ट जैसे आचार्य के सिद्धान्त का संशोधन करती है और दूसरी ओर व्यंजनावादियों की वस्तु-ध्वनि के बोध-स्वरूप होने का प्रमाण प्रस्तुत करती है।

'वस्तु' और 'भाव' का निकट सम्बन्ध दिखाकर हम यह नहीं कह सकते कि काव्य-वस्तु भी व्यंग्य होती है और उसमें अनुमान की आवश्यकता नहीं। वस्तु और भाव का सम्बन्ध कैसा ही क्यों न हो, यह धारणा खण्डित नहीं हो सकती कि वस्तु भाव को जगाने वाले साधन के रूप में ही है और जब तक वह साधन रूप है तब तक ही शुक्ल जी उसे अनुमान-गम्य मानते हैं। जब वस्तु भाव-रूप हो जाती है यानी आलंबन तथा आश्रय में तादात्म्य हो जाता है तब तो स्थिति ही बदल जाती है, उस अवस्था में तो शुक्ल जी भी व्यंजनासिद्ध रसानुभूति मानते हैं। इसलिए शिवनाथ[3] जी ने शुक्ल जी के पक्ष के विपरीत, वस्तु को भाव-रूप मानने पर जो बल दिया वह उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

इस प्रकरण में एक बात और है। आनन्दवर्द्धन ने जब वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि और रस-ध्वनि वाला वर्गीकरण किया तब उनका मन्तव्य चाहे जो रहा हो किन्तु आगे चल कर अभिनवगुप्तपादाचार्य ने सब का समाहार रस-ध्वनि के अन्तर्गत कर दिया।

डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने लिखा है—

"अभिनव ने यह भी कहा है कि रस ही काव्य की आत्मा है। वस्तु और अलंकार-ध्वनि अंततोगत्वा रस में ही पर्यवसित होती हैं। इसीलिए उनको वाच्यार्थ

---

१. चिं०, भाग २, पृ० १७९।

२. "महिम भट्ट के विरुद्ध प्रधान वक्तव्य यह है कि यद्यपि उन्होंने अविनाभाव-सम्बन्ध-स्मरण को अनुमान का प्रधान कारण माना तथापि यह दिखाने की चेष्टा नहीं की कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति के समय भी कोई वैसा स्मरण होता है। ऐसा नहीं कह सकते कि अविनाभावित्व होने या अविनागत रूप में प्रकाशित होने से ही अनुमान हो जाता है। पुष्प रूप का प्रकाश ही पुष्प का प्रकाश है। यहाँ पुष्प रूप के ज्ञान के साथ अविनाभूत रूप में जो पुष्प का ज्ञान होता है, उसे अनुमान नहीं कह सकते।"—'काव्य-विचार', पृ० २०२-२०३।

३. 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल', तृ० सं०, पृ० ११३।

से उत्कृष्ट कहा गया और ध्वनि को ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया।"[१]

इसी तथ्य को श्री ए० बी० कीथ महोदय ने और स्पष्ट शब्दों में कहा है—

"...Abhinavagupta went much further and declared that in reality all suggestions must be of sentiment holding that in the long run suggestion of subject and figure reduced themselves to this."[२]

शुक्ल जी ने अपनी वस्तु-व्यंजना वाले सिद्धान्त में इसी तथ्य का प्रकारान्तर से प्रतिपादन किया है। काव्य में केवल वस्तु-रूप का चित्रण और बोध कराना मात्र कवि का लक्ष्य नहीं हो सकता, वह भाव को जाग्रत करके रसानुभूति कराने का भी प्रयास करता है। उनका तर्क है कि यदि व्यंग्य अर्थ कोई अर्थ होगा तो इसी रूप में उसका बोध होगा कि 'अमुक प्रेम कर रहा है, अमुक क्रोध कर रहा है।' परन्तु केवल इस बात का ज्ञान करना कि 'अमुक क्रोध या प्रेम कर रहा है' स्वयं क्रोध या रति-भाव का रसात्मक अनुभव करना नहीं है।"[३] जब तक वस्तु का बोध रसात्मक अनुभूति नहीं उत्पन्न करता, यानी वस्तु-व्यंजना रस-व्यंजना में पर्यवसित नहीं होती तब तक काव्य का लक्ष्य पूरा नहीं होता। इसीलिए शुक्ल जी ने अन्यत्र कहा है कि 'विभाव व्यंग्य नहीं हुआ करता।' इसे देखकर डॉ० देवराज को भ्रम हुआ और उन्होंने लिखा—"यह मान्यता ध्वनिवाद की विरोधिनी है"।[४] वास्तव में शुक्ल जी यह सुझाव देना चाहते हैं कि जिस अर्थ को लेकर हम यह कहते हैं कि 'रस व्यंग्य है' उसी अर्थ को लेकर ऐसा नहीं कह सकते कि 'विभाव व्यंग्य है।' ध्वनि-शास्त्र के व्याख्याता अभिनवगुप्त जब वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि का रस-ध्वनि में पर्यवसान स्वीकार कर लेते हैं तो वे भी प्रकारांतर से यही बात कहते हैं।

(च) काव्य में प्रकृति-चित्रण

प्रकृति-प्रेम :

'विभाव' के अन्तर्गत प्राकृतिक-दृश्य मुख्य है, प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र से ही भावों को उद्बुद्ध करने वाले विषय चुने जाते हैं। इसलिए विभाव की मुख्यता को काव्य में स्थापित कर लेने के बाद शुक्ल जी का प्राकृतिक दृश्यों को उचित महत्त्व देना अनिवार्य था। एक दूसरा कारण यह भी था कि उनकी अंतःप्रकृति बाह्य प्राकृतिक दृश्यों में बहुत रमती थी, उनके जीवनी सम्बन्धी उल्लेखों में यह बात दिखाई गई है कि प्रकृति

---

१. 'काव्य-विचार', पृ० १८६।

२. *A History of Sanskrit Literature.* page 388.

३. चिं०, भाग २, पृ० १६३।

४. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, एक मूल्यांकन, पृ० १४५।

प्रेम उनमें संस्कार-गत था। जिस प्रकार उनकी वृत्ति प्रत्यक्ष प्राकृतिक दृश्यों में रमती थी उसी प्रकार काव्य में वर्णित प्राकृतिक रूपों और व्यापारों का भी वे बड़ी सूक्ष्मता के साथ अवलोकन करते थे। प्रकृति-वर्णन की जो परम्परा उन्हें वाल्मीकि और कालिदास में दिखाई पड़ी, हिन्दी में उसका सर्वथा लोप देखकर उन्हें दुःख होता था, और द्विवेदी युग में तो उसका नितान्त अभाव देख कर वे चिन्तित रहा करते थे। यह बात उनकी एक कविता से प्रकट होती है जो रवीन्द्रनाथ को संबोधित करके लिखी गई है :[1]

नग, निर्झर, तरु, पशु विहंग के संग
मिला हुआ था कभी रंग में रंग
प्रेम-सूत्र वह हाय! रहा है टूट
अपनों से हम आज रहे हैं छूट
कवे! करुणा करो
बहे जाते धरो।

यह कविता पाँच अप्रैल, सन् १९१९, को पढ़ी गई थी। तत्कालीन हिन्दी कविता को प्रकृति से दूर समझ कर ही उक्त बात कही गई। लगभग चार वर्ष बाद जुलाई, सन् १९२३, में शुक्ल जी का 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' नामक विस्तृत निबन्ध 'माधुरी' में प्रकाशित हुआ। प्रकृति-चित्रण का काव्य में शुक्ल जी क्या स्वरूप और महत्त्व समझते हैं, यह इसी से प्रकट हुआ।

प्रकृति-चित्रण के दो रूप :

उनके विचार से प्राकृतिक दृश्य दो रूपों में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं—(१) आलम्बन रूप में तथा (२) उद्दीपन रूप में। उनका आलम्बन रूप ही काव्य में चित्ताकर्षक बनता है। शुक्ल जी का तर्क है—

"जिन प्राकृतिक दृश्यों के बीच हमारे आदिम पूर्वज रहे और अब भी मनुष्य जाति का अधिकांश (जो नगरों में नहीं आ गया है) अपनी आयु व्यतीत करता है, उनके प्रति प्रेम-भाव पूर्ण साहचर्य के प्रभाव से संस्कार या वासना के रूप में हमारे अंतःकरण में निहित है। उनके दर्शन में हमारी भीतरी प्रकृति का जो अनुरंजन होता है वह अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। इस अनुरंजन को केवल किसी दूसरे भाव का आश्रित या उत्तेजक कहना अपनी जड़ता का ढिंढोरा पीटना है।"[2]

---

१. किसी उत्सव के अवसर पर 'ठाकुर' सभा में पधारे थे—उसी अवसर पर शुक्ल जी ने उनके अभिनन्दन के लिये यह कविता पढ़ी थी।—नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका १९१९, सं० १०, पृ० २३०।

२. चिं०, भाग २, पृ० ४।

इस से दो तथ्य प्रकट होते हैं—

(१) परंपरागत चिर-साहचर्य के कारण प्रकृति-प्रेम हमारे भीतर संस्कार रूप में निवास करता है।

(२) इसलिए प्रकृति सम्बन्धी अनुरंजन को केवल किसी भाव का आश्रित बनाना, या किसी दूसरे भाव का उत्तेजक मानना अनुचित है।

इन्हीं दोनों स्थापनाओं को लेकर शुक्ल जी अपने मंतव्य को स्पष्ट करते हैं। दूसरी स्थापना में 'केवल' शब्द के ऊपर ध्यान जाना स्वाभाविक है। वे कौन से विचारक या कवि थे जो प्रकृति के स्वतन्त्र रूप के अस्तित्व से इन्कार करते थे और उसे केवल अपने भावों से ही रंग कर देखा करते थे? क्या छायावादी कवि? परन्तु उन्होंने तो ऐसा कहीं नहीं कहा, उनकी कविताओं में अवश्य प्रकृति के ऊपर मानव भावनाओं का आरोपण अधिक हुआ। उन्होंने प्रकृति के साथ अपने परंपरागत चिर-साहचर्य को भावनाओं के आरोपण द्वारा अधिक प्रतिबिम्बित किया किन्तु वे यह कह कर सामने नहीं आये थे कि वर्णन की और कोई पद्धति नहीं हो सकती।

विचारणीय बात यह है कि चिर-साहचर्य द्वारा उत्पन्न प्रेम भावों के आरोपण का अवकाश देता है अथवा नहीं। शुक्ल जी ने इस प्रेम के रूप का उद्घाटन करते हुए कहा है, "जो (प्रेम) केवल साहचर्य के प्रभाव से अंकुरित और पल्लवित होता है वह एक प्रकार से हेतु-ज्ञान शून्य होता है।"[1] और इस प्रेम को उन्होंने रूप सौंदर्य गत प्रेम से श्रेष्ठ बताया है। उनके इस निष्कर्ष से असहमत होने का कोई कारण नहीं, लेकिन इस पर से यह नहीं कहा जा सकता कि भाव के उत्कर्ष-प्राप्त क्षणों में इसी साहचर्य के कारण मनुष्य प्रकृति के उपकरणों में अपने सुख या दुःख की छाया न देखता हो या न देख सकता हो। यह तो बहुत स्वाभाविक लगता है कि प्रकृति को अपने सुख-दुःख की संगिनी के रूप में मनुष्य देखे। उसी प्रकृति के अन्तराल से मानव का विकास हुआ और उसी के संस्कार आदिकाल से ही उसके मन में जमते चले आये। फिर उसके साथ एकान्त भावुक क्षणों में यदि मनुष्य अपने भावों का आदान-प्रदान कर लेता है तो उसमें आपत्ति क्या है? एक दूसरी बात यह भी है कि वाल्मीकि और कालिदास जैसा साहचर्य आज के मनुष्य को उपलब्ध नहीं, जितनी सहजता और सरलता के साथ प्राकृतिक दृश्य, अपने मूल रूप में, उनके लिए संवेद्य थे उतनी सरलता के साथ आज के कवि के लिए नहीं। अतः आज का कवि आरोपण द्वारा ही प्रकृति के सहज रूप की संवेदना अधिक उत्पन्न कर सकता है। यहाँ प्रश्न होगा कि जब मनुष्य का प्रकृति के प्रति संस्कार-गत भाव प्रेम ही है तब क्या अन्य भावों के आरोपण द्वारा उस मूल भाव का रूप विकृत नहीं होगा। इसका उत्तर है कि नहीं। भावों का जो निरूपण शुक्ल जी ने अन्यत्र किया है उसी के आधार पर हम इस स्थिति का

---

१. चिं०, भाग २, पृ० ६।

औचित्य सिद्ध कर सकते हैं। प्रकृति के प्रति हमारा जो संस्कार-गत प्रेम है वह तो है मूल प्रवर्त्तक भाव (जो शुक्ल जी के अनुसार भाव की स्थायी दशा में होगा) और बीच-बीच में जो हर्ष, विषाद आदि का उदय होगा वह सब उसी प्रेम द्वारा प्रवर्त्तित होगा और ये सारे भाव भाव-दशा को प्राप्त रहेंगे। शुक्ल जी की भाव सम्बन्धी धारणा इस प्रकरण में इतनी सटीक बैठती है कि हमें आश्चर्य होता है कि इसकी ओर उनका ध्यान क्यों नहीं गया।

देश-प्रेम :

यह बात ध्यान देने की है कि उन्होंने प्रकृति-प्रेम को एकान्तिक और अहेतुक मानते हुए भी उसे जीवन से विच्छिन्न नहीं होने दिया। वे प्रकृति-प्रेम को भी देश-प्रेम का ही अधिक स्वच्छ, परिष्कृत और अन्तरीण रूप मानते हैं। उन्होंने अत्यन्त आवेगपूर्ण शब्दों में कहा है—"देश-प्रेम यदि वास्तव में अन्तःकरण का कोई भाव है तो यही हो सकता है। यदि यह नहीं है तो वह कोरी बकवाद या किसी और भाव के संकेत के लिये गढ़ा हुआ शब्द है।"[1]

उद्दीपन रूप की मर्यादा :

प्रकृति-वर्णन में मनुष्य की क्रियाओं और भावनाओं आदि का आरोप एक निश्चित मर्यादा के भीतर ही हो सकता है, ऐसा शुक्ल जी मानते हैं। उनका कहना है कि—

"गिरिशिखर से स्पृष्ट झुकी हुई मेघमाला के दृश्य में पृथ्वी और आकाश का उमंग-भरा, शीतल, सरस और छायावृत आलिंगन देखें, तो प्रकृति की अभिव्यक्ति की सीमा के भीतर ही रहेंगे।"[2]

और इससे आगे बढ़कर कहते हैं कि "इसी प्रकार अभिव्यक्ति की प्रकृत प्रतीति के भीतर, प्रकृति की सच्ची व्यंजना के आधार पर, जो भाव, तथ्य या उपदेश निकाले जायेंगे वे भी सच्चे काव्य होंगे।"[3]

उन्होंने सिद्धान्त रूप में यह भी स्वीकार किया है कि दोनों प्रकार के वर्णनों का काव्य में बराबर महत्त्व है और कहा है कि—

"प्रकृति के किसी खण्ड के ब्योरों में वृत्ति रमाना इसी अनुराग की बात है। प्रकृति की व्यंजना द्वारा गृहीत तथ्यों, उपदेशों आदि में कवि की दृष्टि मनुष्य जीवन पर रहती है। इस भेद को अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिये। दोनों विधानों का महत्त्व बराबर है।"

---

१. चिं०, भाग २, पृ० ४५।
२. वही, भाग २, पृ० ६७।
३. वही, भाग २, पृ० ६७।

बात अगर प्राकृतिक दृश्य की न होकर किसी और प्रकरण की होती तो शुक्ल जी उस पद्धति को अवश्य ही अधिक महत्त्व देते जिसमें कवि की दृष्टि मनुष्य-जीवन पर रहती।

यह सब उन्होंने स्वीकार अवश्य किया किन्तु इसके दृढ़ प्रतिपादन की बात तो दूर, इसका विवेचन भी उन्होंने नहीं किया। इससे प्रकट है कि इस प्रकार के वर्णन को वे कवि-कर्म का अत्यन्त साधारण अंग मानते थे।

जैसा 'वस्तु-व्यंजना' वाले प्रकरण में दिखाया गया, शुक्ल जी ने 'वस्तु' के संश्लिष्ट चित्रण या बिम्ब-ग्रहण के सिद्धान्त पर बहुत अधिक बल दिया। इसलिये स्वाभाविक था कि वे प्राकृतिक दृश्यों के संश्लिष्ट-चित्रण पर भी बल देते। ऐसा चित्रण भी, कवि के अनुराग की व्यंजना करता हुआ, हमारी वृत्तियों को रमा लेता है। अतः यदि केवल उसी चित्र को प्रस्तुत कर दिया जाय तो श्रेष्ठ काव्य का निर्माण हो सकता है जैसा कि वर्ड्सवर्थ, शैले, कालिदास और भवभूति आदि ने किया है।[1]

देखना चाहिए कि बिम्ब ग्रहण या संश्लिष्ट चित्रण प्रकृति-चित्रण की दोनों शैलियों में सम्भव है, अथवा केवल आलम्बन वाली शैली ही में। विचार करने से स्पष्ट है कि उसकी सम्भावना दोनों में समान है, अन्तर केवल इतना है कि आलम्बन रूप में चित्रण करते समय कवि का सम्पूर्ण ध्यान संश्लिष्ट-विधान की ओर ही रहेगा और उद्दीपन रूप में चित्रण करते समय भाव की प्रेरणा ही प्रबल रहेगी। अतः संश्लिष्ट चित्र भी भाव से रंग कर ही सामने आयेगा, विशुद्ध रूप में नहीं। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि मानव भाव या व्यापार का आरोपण करने वाले कवियों ने अन्य कवियों से कम मार्मिक या कम सजीव चित्र निर्मित किये हैं। संस्कृत कवियों में भी दोनों प्रकार की प्रणालियाँ बराबर पाई जाती रही हैं।

अर्थ ग्रहण :

अगर कोई कवि प्रकृति का संश्लिष्ट चित्र न प्रस्तुत करके केवल पेड़ों-फूलों की विस्तृत नामावली तैयार करे तो शुक्ल जी उसे अत्यन्त नीचा स्थान देते हैं। उससे कवियों की विस्तृत जानकारी का पता भले ही लग जाय किन्तु कवि-कर्म का मुख्य अंग—वस्तु का मार्मिक या यथा-तथ्य चित्रण—संघटित नहीं होता। इसलिए ऐसे प्रयास को उपहासास्पद समझ कर वे व्यंग करते हुए कहते हैं—

"कवि और सयाने जब एक ही समझे जाने लगे तब मनुष्य के व्यवसाय-विशेष की जानकारी का खजाना भी काव्यों में खुलने लगा।"[2] इसका परिणाम यह हुआ कि वस्तु-चित्रण का अधिकांश भाग केवल सूचियों तक सीमित हो गया। वस्तु-चित्रण के इस स्वरूप को शुक्ल जी ने अर्थ-बोध कराना मात्र कहा।

---

१. चिं०, भाग २, पृ० ७०।

२. वही, भाग २, पृ० ३१।

कल्पना का प्रयोग:

जब कल्पना का उपयोग 'प्रस्तुत' के क्षेत्र से 'अप्रस्तुत' के क्षेत्र में चला गया तब प्रकृति-वर्णन में अलंकार या चमत्कार की मात्रा ही प्रबल हो गई। कवियों का ध्यान रमणीय रूप-विधान या भाव-संवेदना से हट कर उपमा, उत्प्रेक्षादि अलंकारों की ओर गया। इस समय "राजसभाओं में ललकार कर टेढ़ी-मेढ़ी विकट समस्यायें दी जाने लगीं और कवि लोग उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की अद्‌भुत-अद्‌भुत उक्तियों द्वारा उनकी पूर्त्ति करने लगे। ये उक्तियाँ जितनी ही बेसिर-पैर की होतीं उतनी ही वाह-वाह मिलती।"[1]

यह मानी हुई बात है कि ऐसे कवि वस्तु का सच्चा चित्र नहीं उपस्थित कर सकते और न उनकी कविता को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो सकता है।

रस :

प्रश्न यह होगा कि विशुद्ध या आलम्बन रूप में किये गये प्रकृति-वर्णन में कौन रस होगा। शुक्ल जी के अनुसार शृंगार रस मानना ही ठीक है क्योंकि "प्राकृतिक दृश्य हमारे राग या रति-भाव के स्वतन्त्र आलम्बन हैं.....।"[2]

प्रकृति-प्रेम पर इतना बल देते हुए शुक्ल जी को भी आभास हुआ कि सम्भवतः यह उनकी वैयक्तिक रुचि का ही परिणाम है। यदि किसी कवि में या पाठक में इस एकान्त प्रकृति-प्रेम की कमी हो तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह कवि, कवि नहीं और वह पाठक, पाठक नहीं। उक्त बात की ध्वनि निम्नांकित कथन से मिलती है— "हमारे राम भी मंदाकिनी या गोदावरी के किनारे बैठे जितने अच्छे लगते हैं, उतने अयोध्या की राज-सभा में नहीं। अपनी-अपनी रुचि है।"[3]

---

१. चिं०, भाग २, पृ० २२।
२. वही, भाग २, पृ० ३६।
३. वही, भाग २, पृ० ६६।

तीसरा अध्याय

परिपार्श्विक मान्यतायें

इस अध्याय में शुक्ल जी की उन मान्यताओं पर विचार किया जा रहा है जो उनकी आलोचना के समाजशास्त्रीय या ऐतिहासिक आधार को स्पष्ट करती हैं। प्रारम्भ में यह कह रखना आवश्यक है कि किसी बाहरी सिद्धान्त को लेकर वे काव्य-समीक्षा के मैदान में नहीं उतरे। "भाव-योग" वाला मूल सिद्धान्त ही उन्हें जीवन से सम्बन्ध रखने वाली समस्याओं की ओर ले गया। दूसरी बात यह है कि अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में ही वे प्रसंगवश ऐसी चिन्तना में लीन होते हैं—किसी समाज-सिद्धान्त का स्वतन्त्र विश्लेषण करना उनका लक्ष्य नहीं था। इसीलिये उनकी परिपार्श्विक मान्यताएँ गोस्वामी तुलसीदास की समीक्षा में ही मुख्यतः व्यक्त हुईं। "विश्व-प्रपंच" की भूमिका से उनके दार्शनिक विश्वास का कुछ स्पष्टीकरण हो जाता है। कुछ अन्य स्थलों पर भी प्रासंगिक रूप से उनके ऐसे विचारों की अभिव्यक्ति हुई है। उक्त सभी प्रसंगों को ध्यान से देखने पर विदित होता है कि ये मान्यताएँ शुक्ल जी की साहित्य-समालोचना के परिपार्श्व का निर्माण करने के साथ-साथ उससे अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई भी हैं। दूसरी बात यह है कि इन पर आधुनिक युग का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में है, यद्यपि प्राचीन मान्यताओं के विपरीत जाने की प्रवृत्ति इनमें कहीं लक्षित नहीं होती। पाश्चात्य दर्शन का विश्लेषण करते हुए भी शुक्ल जी ने अपनी आस्था भारतीय दर्शन के एक विशिष्ट अंग पर ही रखी यह बात "विश्व-प्रपंच" की भूमिका से स्पष्ट है।

लोकधर्म :

ऐसी मान्यताओं में सबसे महत्त्वपूर्ण है लोकधर्म। यह उनके समाजशास्त्रीय चिन्तन की एकमात्र अभिधा है। इसके भीतर गृहधर्म, समाजधर्म, और विश्वधर्म भी सन्निविष्ट हैं।

हम अन्यत्र कह आये हैं कि "भावयोग" वाले सिद्धान्त का प्रयोग शुक्ल जी अपनी साहित्यिक ही नहीं साहित्येतर मान्यताओं में भी करते चले गये हैं। साहित्यिक समीक्षा की सीमा में जहाँ तक गुंजाइश थी वहाँ तक वे समाज-व्याख्या में तत्पर रहे। लेकिन साहित्य में "लोक-भावना" की अभिव्यक्ति पर वे सदैव बल देते रहे। इसीलिये पंडित नन्द दुलारे बाजपेयी का यह पूछना सर्वथा उचित है कि वह "लोकधर्म क्या है जिस पर शुक्ल जी इतना अधिक बल देते हैं। उसकी सीमा रेखायें और उसका स्वरूप क्या है ?" बाजपेयी जी आगे कहते हैं—

"काव्यालोचना के लिये यह आवश्यक न भी हो किन्तु शुक्ल जी कोरे काव्यालोचक नहीं हैं। उन्होंने लोक-धर्मवादी दार्शनिक का महत्त्वपूर्ण पद भी अधिकृत किया है। अतः उनसे इन विषयों के विवेचन की आशा की जा सकती है।"[1]

हमारी समझ से शुक्ल जी को वह स्थान देना ही नहीं चाहिए जो समाज-शास्त्र के एक मौलिक चिंतक (जैसे मार्क्स आदि) को मिलता है। वे केवल काव्यालोचक हैं। और आलोचना की निश्चित सीमा में ही जीवन के अन्य प्रश्नों पर विचार कर लेते हैं। बाजपेयी जी का यह कथन सत्य है कि "लोकधर्म का दार्शनिक विवेचक उन्हें बहुत स्थूल अर्थ में कहा जा सकता है।"[2]

लोकधर्म तक पहुँचने के लिये शुक्ल जी ने जो तर्क अपनाया होगा उसे संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

जीवन में भावों या मनोवेगों का महत्त्व बहुत अधिक है। एक ओर वे प्राणियों को कर्म में प्रवृत्त करते हैं और दूसरी ओर उनके शील या आचरण के मूल संस्थापक बनते हैं। कविता इन्हीं भावों या मनोवेगों को उद्‌बुद्ध करती है, अतः एक ओर तो उससे कर्म में प्रवृत्त होने की प्रेरणा मिलती है और दूसरी ओर शील अथवा आचरण के संस्कार की शक्ति। इसलिये कविता के साथ नैतिकता का सम्बन्ध सहज ही जुट जाता है। भाव को उद्‌बुद्ध करने के लिये विभाव का आयोजन अनिवार्य है और जब आचरण के परिष्कार में सहयोग देने वाले भावों को ही जगाना है तब विभाव की भी निश्चित मर्यादा बँध जाती है। अतः काव्य का विभाव-पक्ष सत्यानुप्राणित, मर्यादापूर्ण और लोकपक्षीय होना चाहिए। तभी उसमें प्रेषणीयता होगी और तभी साधारणीकरण द्वारा रसानुभूति। इसलिये काव्य में लोक का चित्रण होना चाहिये। वह 'लोक' जिस से 'शिव' अविच्छिन्न रूप से संलग्न हो। विभिन्न युगों की आवश्यकताओं को देखते हुए लोक-पक्ष का स्वरूप बदलता जायेगा किन्तु 'हित' या 'शिव' की भावना उसमें सदैव रहेगी।

इस तर्क के लिये सामाजिक और मानसिक भूमिका कैसे प्राप्त हुई यह देखने के पूर्व हमें यह जान लेना चाहिए कि उनके द्वारा स्वीकृत लोकधर्म का स्वरूप क्या है? सबसे पहली बात यह है कि शुक्ल जी धर्म का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से जोड़ते हैं। उनका कहना है—"धर्म है ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त-प्रवृत्ति जिसकी असीमता का आभास अखिल विश्व स्थिति में मिलता है।"[3]

इसलिये धर्म का अनिवार्य संबंध लोक या समाज से सहज ही जुट जाता है। दूसरे शब्दों में, वह लोक धर्म का ही पर्याय बन जाता है। लोकधर्म का स्वरूप-

---

१. 'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल' में बाजपेयी जी का निबन्ध, पृ० ७१।

२. वही, पृ० ७१।

३. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १७६।

निरूपण करते हुए शुक्ल जी ने कहा—

"संसार जैसा है, वैसा मानकर उसके बीच से एक-एक कोने को स्पर्श करता हुआ, जो धर्म निकलेगा वही लोक धर्म होगा।"[१]

इस वाक्य से यह स्पष्ट है कि लोकधर्म का निर्वाह या उपस्थापन तब तक नहीं हो सकता जब तक जगत् को माया या मिथ्या कह कर टालने का प्रयास किया जाता रहेगा। अतः वह दर्शन जो दृश्यमान् जगत की सत्यता में आस्था उत्पन्न करता है और मनुष्य को संसार की जटिल कर्म-परम्परा में प्रवृत्त होने के लिए प्रोत्साहित करता है, वास्तव में, महत्त्वपूर्ण है। परन्तु जो दर्शन इन्द्रियातीत ज्ञा। और प्रमाण आदि का आश्रय लेकर सम्पूर्ण इन्द्रियार्थों का तिरस्कार करता है और मानवजाति को सांसारिक कर्मों से पराङ्मुख कर वैराग्य की दिशा में उद्भ्रान्त करता है, वह कभी लोकधर्मानुरूप या लोकोपयोगी नहीं हो सकता। इस पर से 'शुक्ल' जी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास ने, ज्ञान के क्षेत्र में जगत् की अनित्यता और असत्यता का प्रतिपादन करते हुए भी, व्यवहार क्षेत्र में, लोक-हृदय और लोकधर्म के सच्चे स्वरूप पर दृष्टि रख कर, संसार की सत्यता और नित्यता का ही संकेत किया और इसीलिए हिन्दी कवियों के बीच में वे मूर्द्धन्य स्थान के अधिकारी हुए। परन्तु शुक्ल जी द्वारा निरूपित लोकधर्म के स्वरूप पर विचार करते समय ऐसे अनेक प्रश्न खड़े होते हैं जिनका उत्तर दिये बिना हम उनके वक्तव्य के मर्म तक नहीं पहुँच सकते।

उन्होंने दूसरे प्रसंग में आगे चल कर लिखा—

"लोकधर्म वह है जिसके आचरण से पहले तो किसी को दुःख न पहुँचे, यदि पहुँचे भी तो विरुद्ध आचरण करने से जितने लोगों को पहुँचता है, उससे कम लोगों को।"[२]

इस वाक्य में निर्धारित 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' वाला प्राचीन सिद्धान्त लोकधर्म की पहचान के लिए सबसे सरल साधन है, परन्तु वास्तविक जीवन की जटिलताएँ ऐसे सरल सूत्रों के निश्शंक प्रयोग के लिए बहुत कम अवकाश छोड़ती हैं। किसी भी समाज में पारस्परिक सम्बन्धों की सरलता या स्पष्टता इतनी नहीं रहती कि कर्मोद्यत मनुष्य ठीक-ठीक निर्णय कर सके कि उसकी क्रिया का परिणाम कितनों के लिए उपयोगी और कितनों के लिए हानिकर होगा। और हानि-लाभ का विचार करते समय केवल संख्या का विचार ही पर्याप्त नहीं माना जा सकता, मात्रा और स्वरूप का विचार भी आवश्यक होगा। उपर्युक्त सूत्र देखने और विचार करने में जितना सरल और स्पष्ट हो सकता है उसका शतांश भी व्यवहार में नहीं होता। कर्म करने और उसका स्वरूप निर्धारित करने के पहले उसके परिणाम के स्वरूप की

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० २४।

२. वही, पृ० १२८।

बात को तो अलग छोड़िए, कर्म-संपादन के उपरांत भी यह निर्णय करना अत्यन्त दुष्कर रहता है कि वह लोकधर्म का अंग बना अथवा नहीं। अतः अपनी लोकधर्म सम्बन्धी मान्यता को व्यावहारिक स्तर पर स्पष्ट करने का प्रयास करते हुए गोस्वामी जी के 'लोकवाद' के विषय में शुक्ल जी ने कहा कि—

"उनका लोकवाद वह लोकवाद नहीं है, जिसका अकाण्ड ताण्डव रूस में हो रहा है। वे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हरण नहीं चाहते जिसमें व्यक्ति इच्छानुसार हाथ-पैर भी न हिला सके, अपने श्रम, शक्ति और गुण का अपने लिए कोई फल ही न देख सके।"[1] वर्णाश्रम-व्यवस्था की उपयोगिता पर विचार करते समय, एक अन्य स्थल पर रूस में घटित होने वाली अक्टूबर क्रान्ति के विषय में उन्होंने फिर लिखा—"ऊँची श्रेणियों के कर्त्तव्य की पुष्ट व्यवस्था न होने से ही योरुप में नीची श्रेणियों में ईर्ष्या, द्वेष और अहंकार का प्राबल्य हुआ जिससे लाभ उठा कर लेनिन अपने समय में महात्मा बना रहा।"[2] इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि शुक्ल जी जिस लोकवाद की प्रतिष्ठा चाहते थे वह आधुनिक समाजवादी या साम्यवादी लोकवादियों के आदर्श से भिन्न है। उन्होंने स्वयं गहरे उतर कर लोकधर्म के स्वरूप से सम्बद्ध सम्भावित प्रश्नों पर विचार नहीं किया और न ही व्यावहारिक प्रमाणों का आधार लेकर उसे स्पष्ट करने का प्रयास किया। इसका सबसे प्रबल कारण यही जान पड़ता है कि इस दिशा में उनकी कोई नवीन सैद्धान्तिक उपलब्धि नहीं थी, किसी दूसरे गम्भीर दर्शन की सुचिन्तित परम्परा में रखकर इस प्रश्न के ऊपर विचार करना भी उन्होंने उचित नहीं समझा। यदि वे ऐसा कर पाते तो अपुष्ट प्रमाणों के आधार पर उनके लोकवाद का स्वरूप समझाने की जरूरत नहीं पड़ती। उन्होंने अपने लोकधर्म की परिभाषा देते हुए भी व्यावहारिक तथ्यों को ही ध्यान में रखा और अपने समीक्षण में उस परिभाषा का प्रयोग करते समय भी उच्च कोटि के दार्शनिक चिंतन से अपने-आप को बचाये रखा। 'रामचरितमानस' के पात्रों के शील तथा चरित्र आदि का विचार करते समय उन्हें ऐसे प्रश्नों के सामने आकर रुकना पड़ा है जो सर्वसाधारण के मन में शंका के रूप में उपस्थित होते रहते थे। विभीषण के चरित्र निर्माण में गोस्वामी तुलसीदास ने जो दृष्टिकोण रखा होगा उसका विवेचन करते हुए शुक्ल जी ने कहा कि—

"हरी हुई सीता को लौटाने के बदले रावण का राम से लड़ने के लिए तैयार होना असाधुता की चरम सीमा थी, जिसे विभीषण की साधुता न सह सकी, गोस्वामी जी का पक्ष यह है।"[3] यहाँ तक तो उनकी परिभाषा के अनुसार विचार करने में कोई अड़चन नहीं पड़ती, रावण के दुर्व्यवहार के प्रति क्रुद्ध होकर छोटे भाई

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ४८।
२. वही, पृ० ४४।
३. वही, पृ० १३०।

का राम से आकर मिल जाना समाज-कल्याण की दृष्टि से उपयोगी ही नहीं अनिवार्य भी माना जा सकता है, परन्तु कालान्तर में जब विभीषण को राज्य देने का अवसर आता है तब उनकी साधुता की पृष्ठभूमि में किसी अन्तर्निहित स्वार्थ की दुर्गन्ध प्रतीत होने लगती है। ऐसी स्थिति में ऊपर विभीषण की जिस साधुता को श्लाघ्य ठहराया गया उसका अस्तित्व ही चिन्त्य हो उठता है। यह अनुभव शुक्ल जी को भी है। अतः आगे उन्हें कहना पड़ा कि—

"विभीषण की साधुता औसत दर्जे की थी, वह इतनी बढ़ी-चढ़ी नहीं थी कि राम द्वारा दिए हुए भाई के राज्य की ओर से वे उदासीनता प्रकट करते।"[1]

लोकधर्म का सच्चा स्वरूप तो तभी प्रकट होता जब विभीषण उस राज्य को ठुकरा कर लोक-कल्याण के उच्च और व्यापक मार्ग पर अग्रसर होते, वे अपने त्याग और उत्सर्ग का परिचय देते, राम के द्वारा प्रदत्त अन्य सारी सम्पदाओं को वे स्वीकार कर लेते परन्तु लंका का राज्य न लेते। जो हो, इस प्रसंग में शुक्ल जी की अपनी उलझन स्पष्ट हो गई है।

ठीक इसी प्रकार बालिवध के ऊपर अपनी सम्मति देते हुए उन्होंने लिखा है कि "वाल्मीकि और तुलसीदास जी दोनों ने इस धब्बे पर कुछ सफेद रंग पोतने का प्रयत्न किया है। पर हमारे देखने में तो यह धब्बा ही सम्पूर्ण रामचरित को एक उच्च आदर्श के अनुरूप एक कल्पना मात्र समझे जाने से बचाता है।"[2]

इस वाक्य को यदि शुक्ल जी के किसी लोक-धर्म विषयक सूत्र के समक्ष रख दिया जाय तो उनकी उलझन स्पष्ट हो जायेगी। यदि बालि का आचरण लोक-धर्म के विपरीत था और उसका वध होना ही संसार-कल्याण के लिए आवश्यक था तो वह वध अनैतिक उपायों से होने पर भी पाप-मूलक नहीं बन सकता। कारण यह है कि शुक्ल जी के मतानुसार लोक-धर्म में सबसे प्रमुख बात बहुसंख्यक हित की ही है और यदि एक बालि का संहार जगत् के किसी भाग में सुव्यवस्था के लिए अनिवार्य है तो राम के चरित में दूषण कहाँ दीख गया? फिर इस घटना को चरित्र के धब्बे के रूप में क्यों देखा जाय? शुक्ल जी ने तो अन्यत्र स्पष्ट ही कहा है कि "जहाँ लोक-धर्म और व्यक्ति-धर्म का विरोध हो वहाँ कर्ममार्गी गृहस्थों के लिए लोक-धर्म का ही अवलम्बन श्रेष्ठ है।"[3] राम ने व्यक्ति-धर्म के मूल्य पर लोक-धर्म की ही रक्षा की थी— फिर यह कठिनाई क्यों?

ऊपर दिए हुए विवरण से प्रकट है कि शुक्ल जी के लोकादर्शवाद का सम्बन्ध न तो किसी आधुनिक समाजवादी या साम्यवादी जीवन-दर्शन से है और न किसी

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १३०।

२. वही, पृ० १३०।

३. वही, पृ० ३३।

प्राचीन भारतीय दर्शन की परम्परा से। साहित्य या काव्य के मूल्यांकन में लोक-कल्याण के प्रश्न को उठाते समय वे किन-किन प्रेरक तत्त्वों के सम्पर्क में थे इस पर हम अलग विचार करेंगे, परन्तु यहाँ इतना अवश्य कहा जाएगा कि उनके मस्तिष्क में लोक-धर्म की समस्या व्यावहारिक रूप में हो उठी थी। इस सम्बन्ध में कोई नवीन दार्शनिक उपलब्धि न देकर वे केवल इस बात के ऊपर बल देना चाहते थे कि काव्य में लोक-मंगल की भावना ही प्रधान होनी चाहिए। उनकी तुलसी-समीक्षा में लोक-धर्म के जो परस्पर-विरोधी सूत्र और प्रमाण दिखाई पड़ते हैं, उन्हें इसी व्यावहारिक दृष्टि से देखना चाहिए। साहित्य या काव्य का एक प्रमुख उद्देश्य लोकहित है, इस बात पर किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। तुलसी की आलोचना करते समय आचार्य शुक्ल को इस सिद्धान्त को एक कसौटी के रूप में सिद्ध करने का अवसर प्राप्त हुआ और यही उनकी सम्पूर्ण समीक्षात्मक विचारणा का सहायक बना रहा।

पहले जिस प्रश्न को हम छोड़ आये थे उस पर यहाँ विचार कर लेना प्रासंगिक और उपयोगी होगा। प्रश्न यह था कि साहित्यिक मूल्यांकन में लोक-कल्याण का विचार इतना आवश्यक बताने की प्रेरणा शुक्ल जी को कहाँ से मिली। क्या यह भारतीय साहित्य-शास्त्र की अपनी चिंतनोपलब्धि थी जो उन्हें उत्तराधिकार रूप में प्राप्त हुई थी, या यह उनका वैयक्तिक संस्कार था जो अपने पूर्वजों से प्राप्त हुआ था, या यह उनके युग का सहज प्रभाव था जो अनेक भारतीय-अभारतीय चिंतन प्रणालियों और सामाजिक सम्बन्धों के अन्तराल से उद्भासित हुआ था ? उस मूल प्रभावशालिनी प्रेरक शक्ति के स्रोत के सम्बन्ध में यही तीन विकल्प हो सकते हैं।

भारत के प्राचीन साहित्य-शास्त्र में जो प्रश्न उठाये गये हैं, उनका सम्बन्ध विषय-वस्तु से बहुत कम रहा। वहाँ अधिकतर भाव की अभिव्यक्ति या वस्तु-व्यंजना की प्रणाली पर विचार होता रहा—साहित्य के अन्तिम उद्देश्य के सम्बन्ध में विशेष मतभेद नहीं रहा। लोकचित्त को लोकोत्तर आनन्द से परिपूर्ण कर देना ही उसका लक्ष्य माना गया। इस पर से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्र में भी लोक-कल्याण का उद्देश्य किसी-न-किसी रूप में स्वीकृत था। परन्तु शुक्ल जी के विवेचन से इतना स्पष्ट है कि उन्होंने लोक-हित को लोकोत्तरानन्द के रूप में नहीं समझा। वे काव्य को ऐसी प्रेरक शक्ति के रूप में स्वीकार करते थे जो एक ओर मनुष्य के हृदय की कुत्सित वृत्तियों को सुसंस्कृत करके उदात्त भावनाओं के रूप में परिणत करे और दूसरी ओर उसे सांसारिक कर्मक्षेत्र में प्रवृत्त करके समाज की कुरूपता को दूर करने के लिये उत्साहित करती चले।

यदि यह माना जाय कि शुक्ल जी के प्राक्तन संस्कार ही लोकादर्शवाद की भावनाओं से निर्मित हुए थे तो प्रश्न का सरल समाधान हो सकता है परन्तु किसी निश्चित प्रमाण के अभाव में इसे आंशिक रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है।

तीसरा विकल्प तत्कालीन सामाजिक सम्बन्धों और विचारणाओं का है जो अधिकांशतया योरोपीय सम्पर्क से भारतीय जीवन और मस्तिष्क में उत्पन्न हुई थीं। शुक्ल जी की व्यक्तिगत जीवनी से इतना ज्ञात होता है कि वे किशोरावस्था में ही हर्बर्ट स्पेंसर और स्टुअर्ट मिल के समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का रुचिपूर्वक अध्ययन मनन किया करते थे। ये दोनों ही विचारक उपयोगितावाद के समर्थक थे और साहित्य तथा कला के क्षेत्र में लोकोपयोगिता की कसौटी पर कृतियों का मूल्यांकन करने के पक्षपाती थे। द्विवेदीकालीन हिन्दी भाषा-भाषी समुदाय का मानसिक-गठन उक्त दोनों विचारकों से प्रभावित था। केवल योरुप में ही नहीं प्रत्युत संसार के सभी सभ्य, अर्द्धसभ्य देशों में उन दिनों 'मिल' के उपयोगितावाद की धूम मची हुई थी। बहुत सम्भव है कि शुक्ल जी के अपने परम्परागत संस्कार जो इस सिद्धान्त के निकट पड़ते थे, और भारतीय साहित्य-शास्त्र की वह परम्परा जिसका इस सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं था—दोनों ने द्विवेदीयुगीन विचार-धारा का सम्पर्क प्राप्त करके उनके व्यक्तित्व में सुनिश्चित आलोचनात्मक मानदण्ड का रूप धारण कर लिया हो। इस प्रकार, उक्त तीनों विकल्पों के समन्वय से ही लोकादर्शवाद के दृढ़ आधार को समझा जा सकता है।

वर्णाश्रम व्यवस्था:

इस व्यवस्था के आधारभूत तत्त्वों के पीछे निहित उद्देश्य और प्रेरणा का स्पष्टीकरण करते हुए शुक्ल जी ने लिखा, "पर सरस्वती और दृशद्वती के तटों पर पल्लवित आर्य सभ्यता के अन्तर्गत जिस धर्म का प्रकाश हुआ, विशेष धर्मों की विस्तृत व्यवस्था उसका लक्षण हुआ और वह वर्णाश्रम धर्म कहलाया। उसमें लोक-संचालन के लिए ज्ञान-बल, बाहुबल, धनबल और सेवाबल का सामंजस्य घटित हुआ जिसके अनुसार केवल कर्मों की ही नहीं, वाणी और भाव की भी व्यवस्था की गई—वचन-व्यवस्था और भाव-व्यवस्था के बिना कर्म-व्यवस्था निष्फल होती।"[१]

हमें प्राचीन आर्यों के बीच प्रचलित समाज-व्यवस्था और उसके जटिल ऐतिहासिक विकास के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं, केवल इतना जान लेना ही पर्याप्त होगा कि उन्होंने अपने बाह्य प्राकृतिक वातावरण, सामाजिक परिवेश और आन्तरिक विचारों तथा भावों की क्रिया-प्रक्रिया से, इतिहास के दीर्घकालव्यापी विस्तार में अनेक जटिल नियमों और उप-नियमों की सृष्टि की और इस दिशा में उनकी सर्वश्रेष्ठ तथा नूतन उपलब्धि वर्णाश्रम व्यवस्था ही थी। उसके चिरकालिक स्थायित्व के लिये अनेक प्रौढ़ दार्शनिक मतवादों, बौद्धिक विचारणाओं और कभी-कभी रूढ़िमूलक अंध-विश्वासों की भी सृष्टि की गई। कुछ अपनी आन्तरिक विशेषताओं, और कुछ इन मतवादों और विश्वासों का आधार पाकर यह समाज-व्यवस्था भारतवर्ष में दीर्घकाल तक प्रचलित रही है—इसके विरोध में अनेक स्तरों पर अनेक प्रकार के आन्दोलन उठे परन्तु इसका पूर्ण उच्छेद आज तक भी नहीं किया जा

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ३६।

सका। आज इस बात को तर्क देकर सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय समाज अनेक युगों तक इस व्यवस्था से लाभान्वित हुआ और कालान्तर में इसके भयंकर दुष्परिणामों का शिकार भी; प्रस्तुत प्रश्न तो यह है कि ऐसी समाज-व्यवस्था मध्यकालीन (तुलसीकालीन) भारतीय समाज के लिये उपयोगी थी या नहीं, तुलसीदास इस व्यवस्था के आधार पर मानव-कल्याण की सुखमय योजना प्रस्तुत करते हैं तो वह उचित है अथवा अनुचित। इस पर से यह प्रश्न स्वभावतः ही उठता है कि शुक्ल जी इस व्यवस्था का समर्थन एक शाश्वत सिद्धान्त के रूप में करते हैं अथवा मध्यकालीन समाज के लिये उपयोगी समझकर। मध्यकालीन भारतीय इतिहास पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाज में उक्त व्यवस्था के विन्यास के लिये बहुत कम अवकाश रह गया था। अपने आन्तरिक विरोधों की बहुलता के कारण वह जर्जर हो चली थी। पूर्वमध्यकालीन भारत में ही अंतर्विरोधों का रूप स्पष्ट होने लगा एवं सिद्धों, नाथों आदि की कविताओं में उसके एक पक्ष की अभिव्यक्ति भी प्रचुर मात्रा में हुई। परन्तु इस्लाम के आगमन से परिस्थिति बदल गई। हिन्दुत्व अपने अंतर्विरोधों को दबाकर पुनर्गठित होने लगा। इस्लामी संस्कृति की तुलना में अपने प्राचीन गौरव को पुनरुज्जीवित करना हिन्दुओं के लिये आवश्यक हो गया। संस्कृति के इतिहास का अध्ययन करने वाले मात्र जानते हैं कि संक्रान्ति के ऐसे युगों में प्रत्येक समाज उन विगलित सांस्कृतिक मानों की भी पुनर्प्रतिष्ठा करने लगता है जिनकी उपादेयता किसी प्राचीन युग में भले ही रही हो परन्तु तत्काल नहीं होती। ऐसे सांस्कृतिक मानों, सिद्धान्तों और आदर्शों की उद्धरणी से ही उस देश या जाति में आत्मगौरव की भावना जगने लगती है। और यदि वह देश किसी विदेशी धर्म, संस्कृति या राजसत्ता से आक्रान्त है, तो अपनी हीनता-ग्रन्थि से मुक्ति प्राप्त करने के लिये, प्राचीन संस्कृति की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियों का गुणगान अवश्य करने लगेगा। मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के ऊपर इस्लाम के अनेकमुखी आक्रमण की सब से बड़ी सांस्कृतिक प्रतिक्रिया यही हुई कि हिन्दू जनता अतीतकालीन वैभव को नूतन कल्पनाओं से अतिरंजित कर सजाने लगी। तुलसीदास में प्राचीन मर्यादाओं का जो इतना कठोर आग्रह मिलता है उसका मुख्य कारण उपर्युक्त युगीन प्रवाह था—उन्होंने वर्णाश्रम-व्यवस्था का समर्थन भी इसी रूप में किया। तुलसी साहित्य में जहाँ कहीं भी यह प्रसंग आता है वहाँ ऐसा लगता है जैसे तुलसीदास यह कामना कर रहे हों कि "काश ! कि ऐसा हो पाता।" इस्लाम के आघात से विचलित हिन्दू समाज को अपनी प्राचीन उच्चता और सम्पन्नता का ज्ञान कराकर "रामचरितमानस" ने महत्त्वपूर्ण धर्म-ग्रन्थ का स्थान प्राप्त किया। उसमें प्रतिपादित कठोर सामाजिक मर्यादायें और उनका पालन करने वाले असम साहसी पात्र किसी भी देश और समाज के लिये आचरणीय और अनुकरणीय हो सकते हैं और हिन्दी-भाषी समाज के लिये भी आदर्श रूप में ही प्रतिष्ठित रहे हैं परन्तु उनके निर्माण की मूल प्रेरणा तत्कालीन पददलित जातीय संस्कृति से ही सम्बद्ध थी। तुलसीदास द्वारा समर्थित

वर्णाश्रम-व्यवस्था, उनके युग में लागू नहीं हो सकती थी परन्तु अपने प्राचीन गौरव का स्मरण दिलाने में उसका विशेष योग था।

पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने सैद्धान्तिक रूप से इस व्यवस्था का बड़ा दृढ़ समर्थन किया परन्तु व्यावहारिक स्तर पर इसकी दुर्बलताएँ उनके सामने स्पष्ट होने लगीं। सिद्धान्त रूप में इतनी प्रिय और मधुर होते हुए व्यवहार रूप में यह व्यवस्था किस प्रकार हानिकर बन जाती है इसका उदाहरण-सा देते हुए उन्होंने लिखा है, "ऊँची श्रेणियों के अधिकार प्रयोग में ही प्रवृत्त होने से नीची श्रेणियों को क्रमशः जीवन-निर्वाह में कठिनता दिखाई देगी। वर्ण-व्यवस्था की छोटाई-बड़ाई का यह अभिप्राय नहीं था कि छोटी श्रेणी के लोग दुःख ही में समय काटें और जीवन के सारे सुभीते बड़ी श्रेणी के लोगों को ही रहें।"[१] इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी श्रेणियों के कर्त्तव्य और अधिकार के समुचित संतुलन में ही लोक-कल्याण की संभावना देखते थे। लेकिन समाज में ऐसा संतुलन सहजलभ्य नहीं। साधारण परिस्थितियों में कोई भी समाज ऐसे कठोर संयम और उदाराशयता का उदाहरण नहीं प्रस्तुत करता। यदि स्वयं शुक्ल जी के ही शब्द लें तो कह सकते हैं कि, "ईसाई, बौद्ध, जैन इत्यादि वैराग्य-प्रधान मतों में साधना के जो धर्मोपदेश दिये गये, उनका पालन अलग-अलग कुछ व्यक्तियों ने चाहे किया हो, पर सारे समाज ने नहीं किया। किसी ईसाई साम्राज्य ने अन्यायपूर्वक अग्रसर होने वाले दूसरे साम्राज्य से मार खाकर अपना दूसरा गाल नहीं फेरा।"[२]

यदि इस संसार के और किसी धर्म या संस्कृति के इतिहास में उच्च-कोटि के त्यागमूलक सदाचारों का पालन लोकधर्म के स्तर पर व्यापक रूप से नहीं मिलता तो भारतवर्ष में ही उसका पालन कैसे होने लगा—एक पूरा समाज सामूहिक रूप से अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों के प्रति इतना आग्रह और त्याग का भाव कैसे रखने लगा? वस्तुतः बात यह थी कि वर्णाश्रम व्यवस्था सिद्धान्त रूप में जैसे समझाई गई थी, व्यवहार रूप में कभी भी उस रूप में प्रत्यक्ष नहीं हुई। उसका समाजाचरित रूप कुछ ऐसा था जिस में निचले वर्णों का क्षोभ रह रहकर हुँकार कर उठता था। उसी का शमन करने के लिये कर्म-फल के जटिल सिद्धान्त और अंधविश्वास की योजना की गई थी। शुक्ल जी ने अपने विवेचन में वर्णाश्रम के सिद्धान्तों की व्याख्या तो विस्तार से कर दी परन्तु उसकी व्यावहारिक कठिनाइयों के लिये कोई व्यावहारिक समाधान नहीं दिया। सिद्धान्तों के विवेचन में भी वे आदर्शोन्मुख अधिक हैं यथार्थोन्मुख कम। उदाहरण के लिये निम्न वर्णों में विद्रोह की भावना के न उत्पन्न होने का कारण उन्होंने यह बताया कि, "...उच्च वर्ग में अधिक मान या अधिक अधिकार के साथ अधिक कठिन कर्त्तव्यों की योजना और निम्न वर्गों में कम मान और

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ४३।
२. वही, पृ० २५।

कम सुख के साथ अधिक अवस्थाओं में आराम की योजना जीवन-निर्वाह की दृष्टि से स्थिति में सामंजस्य रखती थी।"[1] परन्तु सामंजस्य का मुख्य कारण जनता के उन सामान्य विश्वासों में ढूँढ़ा जा सकता है जो उच्च श्रेणियों ने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये उत्पन्न कर दिये थे। इसी प्रकार लोक मर्यादा को बनाये रखने के लिये वे यह आवश्यक ठहराते हैं कि, "निम्न वर्ग के लोगों का धर्म यही है कि उसपर (उच्च-वर्ग पर) श्रद्धा का भाव रखें, न रख सकें तो कम-से-कम प्रकट करते रहें।"[2] इसे वे तुलसीदास का "सोशल डिसिप्लिन" कहते हैं।

परन्तु अपनी समीक्षा में उन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थन करते हुए उसे शाश्वत सिद्धान्त के रूप में नहीं रखा। वस्तुतः वे समाजविज्ञान के कोई स्वतन्त्र चिंतक नहीं थे, केवल प्रसंग आने पर तुलसीदास के विचारों का स्पष्टीकरण करने के लिये उन्होंने समाजशास्त्र से संबद्ध सिद्धान्तों और मतवादों की प्रासंगिक चर्चा की है। लेकिन उनके आवेशपूर्ण विवेचन से इतना स्पष्ट है कि उनकी विचार-प्रणाली में वर्णाश्रम-व्यवस्था का लगभग वही स्थान है जो तुलसी में। उसे वे भारत का सामाजिक आदर्श मानते हैं और आत्मगौरव की भावना से प्रेरित होकर दूसरों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। सुधारवादियों ने अपनी बुद्धि, कार्यशीलता और आचरण से किसी श्रेष्ठतर सामाजिक व्यवस्था को सामने नहीं रखा। तत्कालीन सुधारवादियों की अनेक वैयक्तिक कुंठायें, सिद्धान्त और व्यवहार के अनेक उपहासास्पद भेद, खण्डन और ध्वंस का अकांड ताण्डव ही उनके समक्ष प्रमाण के रूप में आता रहा। वे अपने वैयक्तिक संस्कारों के कारण इस सम्पूर्ण उथल-पुथल को किसी विराट् सांस्कृतिक क्रान्ति के प्रारंभिक चरण के रूप में न देख सके। इसीलिये उन्होंने रूसी क्रांति को बुरा, और लेनिन को जनता की मूर्खता और अवसर से लाभ उठाने वाला नेता कहा। जैसा डा० रामविलास शर्मा ने कहा है, "रूस की निंदा करने का मुख्य कारण यह भी था कि साम्राज्यवादी प्रचारकों ने अपने ज़हरीले प्रचार से भारतीयों के मन में 'अक्टूबर क्रान्ति' के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न कर दिया था।"[3] साम्राज्यवादी प्रचार के अतिरिक्त शुक्ल जी की संस्कारगत धारणा भी उनके क्रान्ति-विरोधों का आधार बनी।

नारी की सामाजिक मर्यादा :

वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत नारी के स्थान का अलग से उल्लेख करना आवश्यक है। मध्यकाल में सिद्धों, नाथपंथियों और निर्गुणिए संतों ने ब्राह्मण-निर्मित वर्णाश्रम का जब विरोध किया था तो केवल जाति-भेद वाला प्रश्न ही उठाया गया था—समाज के गार्हस्थिक जीवन से उदासीन होने के कारण संत लोग नारी की सामा-

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ४३।
२. वही, पृ० ४६।
३. आचार्य शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० १०४।

जिक मुक्ति या स्वतन्त्रता का प्रश्न नहीं छेड़ सके। इस प्रश्न के न उठने का एक दूसरा कारण और भी था। संत लोग सामान्यतया, ऐसे साधनात्मक संप्रदायों से सम्बद्ध थे जो यम-नियमादि का पालन करके अथवा कभी-कभी इनका अत्यन्त उच्छृंखलतापूर्ण उल्लंघन करके, काम, क्रोध आदि पर विजय प्राप्त करने का उपदेश दिया करते थे। अतः नारी जाति के संपूर्ण तिरस्कार में ही अपनी साधना की सफलता देखना, इन संतों के लिए नितांत स्वाभाविक था। इनकी दृष्टि में नारी 'माया' की साकार प्रतिमा थी और इस रूप में उसकी जितनी भर्त्सना की जाय वह कम ही थी। विद्वानों का अनुमान है कि निर्गुणी संतों की यही नारी-निंदा वैष्णव संतों तक को भी प्रभावित कर गई और तुलसीदास की रचनाओं में यत्र-तत्र जो नारी-निंदात्मक विचार प्रकट हुए हैं उनका मुख्य कारण यही है कि साधना और भक्ति की निर्गुणी परंपरा बड़े आवेश के साथ नारी-जाति की भर्त्सना करती चली आ रही थी। पर केवल यह कह कर तुलसीदास जी को नारी-निन्दा के दोष से मुक्त नहीं किया जा सकता। उन्होंने अपनी स्वाभाविक व्यंग्यपूर्ण शैली में, निर्गुण भक्ति-मार्ग में प्रचलित कुरीतियों, कुसंस्कारों, कदाचारों और लोक-विरोधी विचारों का तीव्र विरोध किया था। निर्गुणी संतों की जो बात उन्हें अप्रिय लगती थी, उसका वे खुलकर विरोध करते थे। ऐसी स्थिति में यह सहसा नहीं स्वीकार किया जा सकता कि, अपने आंतरिक संस्कारगत विश्वासों के प्रतिकूल होने पर भी, तुलसीदास ने नारी-निन्दा केवल इसीलिये कर दी कि भक्तों में यह एक आम फैशन हो गया था। कम-से-कम 'रामचरितमानस' का प्रणेता ऐसे वैचारिक स्खलन का शिकार नहीं हो सकता।

तुलसीदास की लोक-नीति और मर्यादावाद पर विचार करते हुए जब आचार्य शुक्ल इस प्रश्न के सामने पहुँचे तब उनके मन का अंतर्विरोध स्पष्ट हो गया। वे उन के प्रति अपनी स्वाभाविक श्रद्धा बनाये रखकर उनका समर्थन करना चाहते थे परन्तु यह कह कर नहीं कि उन्होंने स्त्रियों की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह पूर्णतः सत्य और सिद्धान्त रूप में है बल्कि यह कह कर कि वह केवल अर्थवाद है।[1] लेकिन अर्थवाद के रूप में भी ऐसे कथन का औचित्य वे स्वीकार नहीं कर पाते अतः आगे चलकर लिख देते हैं:—

"पर उद्दिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के लिए इस युक्ति का अवलंबन गोस्वामी जी जैसे उदार और सरल प्रकृति के महात्मा के लिए सर्वथा उचित था, यह नहीं कहा जा सकता—क्योंकि स्त्रियाँ भी मनुष्य हैं निन्दा से उनका जी दुःख सकता है।"[2]

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि किसी भी तर्क से वे तुलसी के नारी सम्बन्धी विचारों का समर्थन नहीं कर पाते। उनकी उलझन और विवशता से यही स्पष्ट होता है, जैसे संरक्षा का कोई प्रकृत मार्ग न पाकर यह कह रहे हों कि काश! तुलसी

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० ११०।

२. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ५०।

ने नारी सम्बन्धी ये पंक्तियाँ न लिखी होतीं ! इसी प्रकार "ढोल गँवार शूद्र पशु नारी" वाली पंक्ति के सामने आ पड़ने पर वे कह बैठते हैं "स्त्री का समावेश भी सुरुचि विरुद्ध लगता है, पर वैरागी समझकर उनकी बात का बुरा न मानना चाहिए।" शुक्ल जी के इस कथन पर डा० रामविलास शर्मा ने उचित ही आपत्ति की है, कि यदि तुलसीदास को वैरागी कहकर ही नारी-निन्दा के दोष से मुक्त करना है तो उन्हें लोक-धर्म का व्याख्याता और समाज-व्यवस्था का आचार्य क्यों बताया गया।[1] निष्पक्ष आलोचना के लिए यह आवश्यक था कि सामाजिक सम्बन्धों के बीच रखकर इस पंक्ति को भी देखा जाता और तुलसीदास की महत्ता के आतंक से अविचलित रह कर इस विचार का खण्डन करते हुए इसके मूल स्रोत का अनुसंधान किया जाता। यदि इतने महान् साहित्यकार की लेखनी से ऐसी पंक्ति निकली, तो बुरा मानने या न मानने या चिढ़ने की बात उतनी नहीं है जितनी यह विचारने की कि वे कौन-सी परिस्थितियाँ थीं जिन्होंने ऐसी बात कहने की विवशता उत्पन्न की। इस पंक्ति को देखकर जो लोग चिढ़ते हैं उनमें तो इतिहास के प्रति आवश्यक अनासक्ति का अभाव है ही, परन्तु जो लोग उस चिढ़ को समाप्त करने का गलत उद्योग करते हैं वे भी इतिहास की व्याख्या अनासक्त बुद्धि से नहीं कर पाते। तुलसी की छुटाई-बड़ाई का प्रश्न ऐसा नहीं है जिसको यह पंक्ति या ऐसे विचार किंचिन्मात्र भी प्रभावित कर सकते हों, परन्तु शुक्ल जी तुलसीदास की महत्ता और गौरव के विचार से ही प्रेरित होकर इस पंक्ति का समर्थन करने लग जाते हैं। वास्तविक स्थिति तो यह थी कि सामन्ती समाज में दाम्पत्य-जीवन का जो आदर्श प्रतिष्ठित किया जाता था उसमें नारी का स्थान आदर्श रूप में भी अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं था। दाम्पत्य-जीवन का चरम संयोजक भाव प्रेम है, और प्रेम के क्षेत्र में सामन्ती व्यवस्था नारी की ओर से निःशेष आत्म-समर्पण की माँग करती थी, परन्तु पुरुष-पक्ष में ऐसा प्रतिबन्धक दायित्व न था। इसका सीधा परिणाम यही होता था कि अन्य सामाजिक कार्यों में भी उसी अनुपात से नारी का सहयोग और महत्त्व सीमित रहता था। संतों की निर्गुणवादी परंपरा में भी, जहाँ दलित मानवता के प्रति सहानुभूति तथा जाति व्यवस्था, अस्पृश्यता और जन्मना निर्धारित उच्चता-नीचता के प्रति इतना तीव्र विद्रोह दिखाई पड़ता है, वहाँ नारी की सामाजिक मुक्ति-कामना तथा गार्हस्थिक स्वातंत्र्य और महत्त्व का स्वर नहीं सुनाई पड़ता। सन्तों की मध्ययुगीन विचरा-परंपरा की यह युग-सीमा विशेष ध्यान देने योग्य है—इससे स्पष्ट हो जाता है कि सामन्ती समाज में प्रचलित सामाजिक नियम और प्रथाओं, धार्मिक और नैतिक विश्वासों, तथा जटिल गार्हस्थिक और सामाजिक व्यवस्था के स्तरों को चीर कर युग-सीमा से आगे, नारी के सामाजिक दायित्व और अधिकारों के संतुलन की माँग करना, परंपरा-विरोधी दुर्द्धर्ष विचारकों के लिये भी संभव नहीं था। इस तथ्य को दृष्टिपथ में रखकर ही हम गोस्वामी तुलसी-

---

१. आचार्य शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० ११२।

दास के नारी-सम्बन्धी विचारों का समुचित विश्लेषण कर सकते हैं। हमें यह कहने की आवश्यकता नहीं कि तुलसीदास वैरागी हैं और इसीलिये उनकी नारी-निन्दा को पुरुषों के लिये दिए हुए उपदेश का अतिरंजित रूप समझना चाहिए और न ही इस दलील की कोई उपयोगिता है कि उन्होंने सीता, अनुसूया और कौशल्या जैसे चरित्रों को आदर्श रूप में प्रतिष्ठित किया। अतः उनके नारी निन्दात्मक वाक्यों का विवेचन—किसी और प्रकरण में करना चाहिए। सीधी और स्पष्ट बात यह है कि मानव मात्र के प्रति प्रेम और सहानुभूति का भाव रखते हुए भी, राम-भक्ति की तीव्रता और ऊँचाई के अनुपात से ही, तुलसीदास ने अपने पात्रों को ऊँचा या नीचा स्थान दिया है और उनके नारी-निन्दा सम्बन्धी वाक्य तत्कालीन सामाजिक सम्बन्धों और नैतिक मान्यताओं के अंतर्विरोध को व्यक्त करने के साथ-साथ गोस्वामी जी जैसे महान् साहित्यकार के अंतर्विरोध को भी व्यक्त करते हैं। प्रत्येक सभ्यता और संस्कृति के गठन में अंतर्विरोधों का अस्तित्व रहा करता है और युग के प्रतिनिधि साहित्यकार की वाणी में उसकी अभिव्यक्ति हुआ करती है। परन्तु नारी की सामाजिक स्थिति और महत्ता के प्रति शुक्ल जी का क्या विचार है, यह तो इसी प्रकरण से स्पष्ट हो जाता है। वे तुलसी के एतत्संबंधी विचारों का समर्थन नहीं कर पाते प्रत्युत उनके वैरागीपन की आड़ लेकर उनकी उक्तियों में निहित असत्य को असत्य समझकर, टालने का प्रयास करने लग जाते हैं। इससे सिद्ध है कि नये औद्योगिक युग के वातावरण में पले होने के कारण उनकी दृष्टि इस प्रश्न पर अधिक उदार है और वे तुलसी की चौपाई में "स्त्री" शब्द का समावेश "सुरुचि-विरुद्ध" समझते हैं।

निर्गुण अथवा सगुण भक्ति :

एक अन्य महत्त्वपूर्ण मान्यता निर्गुण तथा सगुण भक्ति के भेद की है। उन्होंने तुलसी की भक्ति-पद्धति पर विचार करते हुए प्रारम्भ में ही लिखा है, "भक्तों के भी दो वर्ग थे—एक तो भक्ति के प्राचीन स्वरूप को लेकर चला था और दूसरा विदेशी परंपरा का अनुयायी, लोकधर्म से उदासीन तथा समाज-व्यवस्था और ज्ञान-विज्ञान का विरोधी था।"[१] इससे स्पष्ट है कि निर्गुण-भक्ति काव्य-धारा के कवियों को शुक्ल जी ने "विदेशी परम्परा का अनुयायी" "लोकधर्म से उदासीन" तथा "ज्ञान-विज्ञान का विरोधी" बताया है। उनका यह कथन गम्भीर विचार की अपेक्षा रखता है।

इतना सत्य है कि मध्यकालीन निर्गुण भक्ति भावना में विदेशी तत्त्व प्रचुर परिमाण में पाये गये हैं परन्तु केवल इतने से ही यह सिद्ध नहीं हो जाता कि निर्गुण भक्तों की परम्परा लोक-धर्म के विपरीत थी। वास्तव में निर्गुणी सन्तों की वाणियों में जिस धर्म के प्रति विद्रोह था वह शास्त्र-समर्थित परम्परागत, वर्णाश्रम-समन्वित, रूढ़ि-ग्रस्त हिन्दू धर्म था। शुक्ल जी के दृष्टिकोण से मध्यकालीन भारतीय समाज में

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १।

परम्परा से प्रतिष्ठित यही हिन्दू धर्म लोक-धर्म के रूप में गृहीत था। अतः उसको विकलांग करने वाले तथा उसके मूलभूत ग्रन्थों और सिद्धान्तों का खण्डन करने वाले मत या सम्प्रदाय लोक-धर्म या समाज-व्यवस्था के विरोधी प्रतीत हुए। आज जब समाज शास्त्र के नवीन अनुसंधानों और नृतत्त्व शास्त्र की नूतन उपलब्धियों ने पददलित, तिरस्कृत और शोषित मानवता के असंयत, उच्छृंखल विद्रोह को मानवीय इतिहास की प्रवहमान धारा की सबसे प्रबल तरंग के रूप में स्वीकृत कर लिया है, तब मध्य-कालीन संतों की वाणियों में अभिव्यक्त विद्रोह का स्वर भी विद्वन्मण्डली में समादृत हो गया है और शुक्ल जी की एतत्सम्बन्धी विचारणा और निष्कर्ष समयातिक्रान्त (आउट ऑफ़ डेट) से लगते हैं। परन्तु यदि उस विचारणा को द्विवेदीयुगीन कठोर नीतिमत्ता और आदर्शवादिता के मध्य रखकर देखा जाय तो हमें शुक्ल जी के तर्कों पर आश्चर्य नहीं होगा।

परन्तु निर्गुण काव्य-धारा के प्रति असहानुभूतिपूर्ण दृष्टि रखने के लिए शुक्ल जी के पास और भी ऐसे कारण थे जो अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर और तात्त्विक थे। उनका विचार यह था कि धर्म-व्यवस्था के अन्तर्गत गम्भीर शास्त्र-चिंतन की प्रणाली भी होनी चाहिए। किसी सुदृढ़ बौद्धिक विवेचन और तर्काधारित विश्वास के अभाव में धर्म केवल अंध-विश्वास हो जायेगा। भारतीय धर्म-व्यवस्था के अंतर्गत दर्शन और शास्त्र-चिंतन का बड़ा निर्मल और गम्भीर प्रवाह उन्हें दीख पड़ा परन्तु पैगम्बरी मतों में बौद्धिक प्रयास से अर्जित ज्ञान का महत्त्व उन्हें नहीं मिला। उन्होंने लिखा है:—

"बात यह है कि पैगम्बरी (यहूदी, इसाई, इस्लाम) मतों में धर्म-व्यवस्था के भीतर तत्त्व-चिंतन, या ज्ञान काण्ड के लिए स्थान न होने के कारण आध्यात्मिक ज्ञानोपलब्धि रहस्यात्मक ढंग से (स्वप्न-संदेश, छायादर्शन, आदि के द्वारा) ही माननी पड़ती थी।"[1]

भारतीय और विदेशी (यहूदी, ईसाई, इस्लाम) धर्म-व्यवस्था में का यह मौलिक भेद निरूपित करके शुक्ल जी अपनी सारी समीक्षाओं में काव्य सम्बन्धी निष्कर्ष निकालते रहे। आगे चलकर जब उन्हें कविता के अन्तर्गत रहस्यवाद के प्रबल आन्दोलन का विरोध करना पड़ा तब भी उन्होंने इसी मौलिक भेद का आश्रय लिया। तुलसी, सूर, जायसी और कबीर आदि भक्त कवियों की समीक्षा देशीय और विदेशीय धर्म-व्यवस्था के इसी मौलिक भेद को ध्यान में रख कर उन्होंने की थी। भारतीय दर्शन के अन्तर्गत भी निर्गुण या निराकार ब्रह्म का विवेचन प्रभूत मात्रा में हुआ था। यहाँ तक कि सगुण भक्ति धारा के अन्तर्गत भी ऐसा कोई मतवाद नहीं बचा जो मूल रूप में निर्गुण या निराकार ईश्वर की सत्ता न स्वीकार करता हो। परन्तु विशेषता यह रही कि भारतीय भक्ति मार्ग के प्राचीन रूप में निराकार ब्रह्म को प्रेम या भक्ति का आलम्बन नहीं माना गया। शुक्ल जी की यह स्थापना ठीक है कि

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ६।

"हमारे यहाँ ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग और योग मार्ग तीनों अलग-अलग रहे हैं।"[१] इसका परिणाम यह हुआ कि एक को दूसरे की सीमा में प्रवेश करने का साहस नहीं होता था। इसीलिए प्राचीन भारतीय भक्तों के सम्बन्ध में ऐसी धारणा लोगों के मन में नहीं उत्पन्न हुई कि वे योग की समाधि अवस्था तक पहुँच चुके थे या उन्होंने ज्ञान के सर्वोच्च तत्त्व को आत्मसात् कर लिया है। भारतीय भक्तों की प्रशंसा ज्ञान और योग की उपलब्धियों के लिए नहीं होती थी। इसीलिए शुक्ल जी का यह मानना उचित है कि मध्यकालीन भारत में प्रचलित निर्गुण भक्ति-भावना में भारतीय अद्वैतवाद या अन्य किसी दर्शन की झलक भले ही मिलती हो परन्तु उसमें पैगम्बरी मतों में प्रचलित भक्ति पद्धति का प्रचुर मात्रा में प्रवेश हो गया था। विदेश से गृहीत बुद्धिनिरपेक्ष ज्ञानोपलब्धि की पद्धति शुक्ल जी को अरुचिकर लगी। इसीलिए जहाँ कहीं भी वे एकांत वैयक्तिक साधना का विरोध करते हैं वहाँ आध्यात्मिक सिद्धि और रहस्यमयी ज्ञानोपलब्धि का ही विचार प्रधान रहता है। इस प्रकार भक्ति के क्षेत्र में, भारतीय परम्परा के अनुयायी बन करके एक ओर वे निराकार या निर्गुण ईश्वर के प्रति भक्ति के भाव का अस्तित्व नहीं स्वीकार कर पाते थे और दूसरी ओर भगवान के लोक-रक्षक रूप पर उनका इतना अटूट विश्वास था कि वे भक्ति की एकान्त वैयक्तिक साधना को सामाजिक दृष्टि से अनुपयोगी और कभी-कभी अहितकर भी समझ लेते थे। और, संतों में जो कुछ सामाजिक तत्त्व विद्रोह या ध्वंस-कामना के रूप में प्रकट हुआ वह उनकी वर्णाश्रयी सगुण मनोवृत्ति के विपरीत पड़ गया। अतः इन दिशाओं में काव्यधारा का समर्थन वे नहीं कर सके। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि निर्गुणी संतों ने सामाजिक विषमता को हटाकर समत्वबुद्धि के विकसित करने का जो आन्दोलन उठाया, उसका भी शुक्ल जी ने विरोध ही किया। इन्होंने संतों के क्रान्तिकारी आन्दोलन के महत्त्व को पहचानते हुए लिखा कि उन्होंने पददलित समाज में आत्म-गौरव की भावना जगाकर उसे अपने अधिकारों के प्रति सजग तथा क्रियाशील बनाया।[२] जायसी आदि प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा के कवियों में उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के सबसे महत्त्वपूर्ण प्रारम्भिक प्रयास देखे।[३]

प्रवृत्ति-निवृत्ति :

यद्यपि, शुक्ल जी ने भारतीय और विदेशी भक्ति-भावना के आधार पर ही, प्रधानतया, निर्गुण और सगुण भक्त कवियों का विवेचन किया तथापि उनके मस्तिष्क में, भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग का भेद सदैव बना रहा। निवृत्तिमार्गीय साधक को समाज-कल्याण की दृष्टि से वे ऊँचा स्थान नहीं

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ४।

२. हि० सा० इ०, पृ० ६५।

३. जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० २।

देते थे और व्यावहारिक दृष्टि से तो दोनों में स्पष्ट भेद देखते थे। उन्होंने कहीं भी दार्शनिक स्तर पर भारत के प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग का भेद नहीं निरूपित किया। इसके विपरीत दोनों के स्वाभाविक समन्वय पर अपना विश्वास प्रकट किया—

"मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति और निवृत्ति की दिशा लिए हुए धर्म की जो लीक निकलती है, लोगों के चलते-चलते चौड़ी होकर वही सीधा राजमार्ग हो सकती है।"[1] ऐसी स्थिति में आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी का यह कथन बहुत उचित नहीं जान पड़ता कि, "उन्होंने (शुक्ल जी ने) भारतीय लोक-धर्म की त्याग-मूलक भित्ति का यथेष्ट विवरण हमारे सामने नहीं रखा। वे एक प्रकार से इसकी उपेक्षा भी कर गये हैं जिसके कारण भारतीय प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग की एक ही भूमि पर खड़ी हुई दार्शनिक शाखाएँ शुक्ल जी द्वारा परस्पर विरोधिनी बना दी गई हैं।"[2]

उद्धृत वाक्य में बताया गया है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गों की आधार-भूमि एक ही है—और वह आधार-भूमि है त्याग और अनासक्ति की प्रेरणा। यह सत्य है कि त्यागमूलक चेतना और अनासक्ति की महिमा भारतीय धर्म-व्यवस्था में बहुत ऊँची ठहराई गई परन्तु लोक-व्यवहार में उसका प्रत्यक्ष रूप नहीं दिखाई पड़ा। शुक्ल जी की दृष्टि लोकाचरित प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गों पर थी—यानी इस प्रसंग में वे व्यवहार को वाणी विलास से अधिक महत्त्व देना चाहते थे। उन्होंने निवृत्ति मार्ग की अपेक्षा प्रवृत्ति मार्ग को इसीलिए श्रेष्ठ ठहराया कि निवृत्ति के मूल में अनासक्ति का जो भाव विद्यमान रहता है वह अधिकतर लोक-धर्म के लिए अनुपयोगी और कभी-कभी हानिकारक भी हो जाता है। वे निवृत्ति मार्ग के उसी पक्ष के विरोधी थे जो लोक-कल्याण के प्रति भी अनासक्ति का भाव जगाता है।

बाजपेयी जी ने आगे चलकर फिर लिखा है, "शुक्ल जी ने आधार के इस ऐक्य की ओर ध्यान न देकर निवृत्ति और प्रवृत्ति, ज्ञान और कर्म, व्यक्तिगत साधना और लोक-धर्म दोनों को एक दूसरे का विरोधी बना दिया है।"[3]

परन्तु शुक्ल जी की आलोचना में उक्त युग्मों के बीच ऐसा पारस्परिक विरोध लक्षित नहीं होता—उन्होंने विशिष्ट परिस्थितियों में ही इनके विरोधी स्वरूप की चर्चा की है। उन्होंने यह अवश्य बताया कि जहाँ इनका परस्पर विरोध सामने आ पड़े, वहाँ निवृत्ति के स्थान पर प्रवृत्ति, ज्ञान के स्थान पर कर्म, और व्यक्तिगत साधना के स्थान पर लोक-धर्म का ही आश्रय लेना चाहिए। दोनों के आधारभूत भेद पर दृष्टि रखकर ही उन्होंने लिखा है "यह साधना (व्यक्तिगत) मनुष्य की वृत्ति को ऊँचे-से-ऊँचे ले जा सकती है, जहाँ वह लोक-धर्म से परे हो जाती है, पर

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ३५।

२. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, (संपादित), पृ० ६७।

३. वही, पृ० ६७।

ारा समाज इसका अधिकारी नहीं।"[१]

ऐसे वाक्यों के रहते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि शुक्ल जी ने व्यक्ति-ात साधना को लोकधर्म के विरोध में रखा है। वे केवल इस तथ्य का प्रतिपादन करना चाहते हैं कि शुद्ध अनासक्तिमूलक व्यक्तिगत साधना लोक-धर्म की सहायता नहीं कर सकती। जहाँ तक "ज्ञान और कर्म" के युग्म का प्रश्न है, उन्होंने इनको कहीं पारस्परिक विरोधात्मक स्थिति में नहीं रखा। उनकी समीक्षा में इसका कहीं त्यक्ष उल्लेख तो मिलता ही नहीं, परोक्ष रूप में भी यह धारणा उनके 'लेखन' में नहीं दीखती। यदि ज्ञान के मूल में दार्शनिक विचारणा या तत्त्वपूर्ण चिंतन का ुदृढ़ आधार है तो उनकी दृष्टि में वह कदापि हेय नहीं, परन्तु, यदि ज्ञान का अर्थ हस्योपलब्धि (इलहाम) है तो इसे वे अस्वीकार कर देते हैं, जो उचित ही है। और दि कभी उन्हें ज्ञान और कर्म के बीच ऊँचाई-नीचाई का भेद स्थापित ही करना पड़े ो वे शुद्ध ज्ञान की अपेक्षा क्रियान्वित ज्ञान को उच्चतर समझेंगे। गोस्वामी तुलसीदास ी समीक्षा करते समय शुक्ल जी ने उनकी प्रशंसा इन आधारों पर नहीं की कि वे ाद्भुत ज्ञानी, विलक्षण योगी या साधक और अनासक्त तपस्वी महापुरुष थे, यद्यपि ुलसी की प्रशंसा इन आधारों पर भी हो सकती थी। कारण यह है कि कोई भी यक्ति यह नहीं सिद्ध कर सकता कि उनकी व्यक्तिगत साधना, ज्ञानोपलब्धि और नासक्ति-भावना किसी भी मध्यकालीन संत से कम है। इससे यह सिद्ध है कि ुक्ल जी की दृष्टि में सारी विद्वत्ता और साधना की सार्थकता तभी है जब वह ापक रूप से मानव-कल्याण के लिए नियोजित हो।

ार्शनिक विचार :

शुक्ल जी आस्तिक व्यक्ति थे। ईश्वर के अस्तित्व को उन्होंने कभी विवाद ा विषय नहीं बनाया। ब्रह्म की या 'चैतन्य' की स्थिति तो वे मानकर चले। ईश्वर ाकार है अथवा निराकार, इस विवाद को भी विज्ञान के आलोक में, वे उपहासा-ाद समझते हैं—

"ईश्वर साकार है कि निराकार, लम्बी दाढ़ी वाला है कि चार हाथ वाला, रबी बोलता है कि संस्कृत, मूर्त्ति पूजने वालों से दोस्ती रखता है कि आसमान की ार हाथ उठाने वालों से, इन बातों पर विवाद उठाने वाले अब केवल उपहास के त्र होंगे।"[२]

वे ऐसे सगुणतावादी आस्तिकों से भी बहुत दूर हैं जो पुराणों की सृष्टि-र्माण और विनाश सम्बन्धी सारी कल्पनाओं को सत्य मान बैठते हैं। वे इन लोगों ो ललकार कर कहते हैं—

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० २५।

२. "विश्व-प्रपंच" की भूमिका, पृ० १४७।

"अब जिन्हें मैदान में जाना हो वे नाना विज्ञानों से तथ्य-संग्रह करके सीधे उस सीमा पर जायें जहाँ दो पक्ष अड़े हुए हैं—एक ओर आत्मवादी, दूसरी ओर अनात्मवादी····· ।"[१]

विज्ञान के अनुसन्धान से नित्य नये-नये तथ्यों पर प्रकाश पड़ता जा रहा है, जिन वस्तुओं की मनुष्य पहले कल्पना भी नहीं कर सकता था, वे उसके नेत्रों के समक्ष साकार होती जा रही हैं। विज्ञान के इस सम्पूर्ण विकास-क्रम में शुक्ल जी को सब से महत्त्वपूर्ण बात यह दिखाई पड़ी कि जगत् के नाना रूपों और भेदों के बीच में 'अभेद' की स्थापना होती जा रही है। इसीलिए उनका निष्कर्ष है कि "नाना भेदों में अभेद-दृष्टि ही सच्ची तत्त्व-दृष्टि है।"[२]

इस जगत् को वे ब्रह्म के सत्स्वरूप की ही अभिव्यक्ति मानते हैं। इसलिए इसकी सत्यता में उनका दृढ़ विश्वास है। लेकिन जगत् की गतिशीलता को ही वे शाश्वत और नित्य मानते हैं, 'स्थिति' में सौन्दर्य का आभास, उनके विचार से, नहीं मिल सकता। नीचे के वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—

"ब्रह्म की व्यक्त सत्ता सतत क्रियमाण है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर (Static) सौन्दर्य और स्थिर मंगल कहीं नहीं, गत्यात्मक (Dynamic) सौन्दर्य और गत्यात्मक मंगल ही है—।"[३]

अर्थात् इस जगत् में स्थिर सौन्दर्य और स्थिर मंगल कहीं नहीं है। दोनों का स्वरूप बदलता रहता है और दोनों का विधान करने वाले रचनात्मक उपादान भी बदलते रहते हैं। आज जो सुन्दर और मंगलमय है वह शाश्वत या नित्यरूप से वैसा ही नहीं रह सकता। शुक्ल जी का यह विश्वास उनके जीवन और काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों को समझने में हमारी बड़ी सहायता करता है। जो लोग शुक्ल जी को 'स्थितिवादी' मानते हैं उन्हें इस महत्त्वपूर्ण धारणा पर अवश्य विचार करना चाहिए। जैनेन्द्र जी के निम्नांकित वाक्य में कुछ ऐसा ही संकेत है जो न तो शुक्ल जी के दार्शनिक विश्वास के साथ ठीक बैठता है और न उनकी काव्य-समीक्षा के साथ:—

"वह स्थिति के प्रतिनिधि और गति के विपक्ष में स्थिति के पक्ष के योद्धा के रूप में खड़े हुए और जूझे।"[४]

प्राचीन जीवन और साहित्य के सम्बन्ध में उन्होंने जो आस्था प्रकट की उसे 'स्थिति' का परिचायक मान लेना, हमारी समझ से, बड़ी भारी भूल है। वस्तुतः वे 'व्यवस्थावादी' हैं—गतिशील व्यवस्था ही उनका प्रतिपाद्य जीवन-दर्शन है।

---

१. "विश्व-प्रपंच" की भूमिका, पृ० १४८।
२. वही, पृ० १४८।
३. चिंतामणि, भाग २, पृ० ५३।
४. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५४।

चौथा अध्याय

व्यावहारिक आलोचना

शुक्ल जी की व्यावहारिक आलोचना में उनकी साहित्यिक मान्यताओं का अत्यन्त सफल विनियोग दिखाई पड़ता है। वास्तव में सिद्धान्त-मीमांसा और व्यावहारिक समीक्षा को उन्होंने इतना घुला-मिला दिया है, कि दोनों को अलग-अलग करना प्रायः असम्भव है। सिद्धान्त और प्रयोग का यह सामंजस्य ही उनके आलोचक व्यक्तित्व की वास्तविक महत्ता प्रकट करता है।

समीक्षा के निरूपित आदर्श, और पद्धति को लेकर वे आलोचना में प्रवृत्त होते हैं। कवियों के गुण दोषों की उद्भावना करना ही उनका लक्ष्य नहीं रहता। 'जायसी', 'तुलसी' आदि कवियों की आलोचना करते समय उन्होंने, युगीन प्रभाव, साहित्यिक परम्परा और कवियों की अन्तर्वर्ती प्रेरणाओं को भी ध्यान में रखा है। काव्य के बाह्यांग को सुसज्जित करने वाले उपकरणों का विवेचन भी वे यथावसर करते चले गये हैं। इन सभी तत्त्वों को एक साथ समन्वित कर देने के कारण उनकी आलोचना में पूर्णता और समृद्धि आ गई है।

लेकिन इन तत्त्वों का समन्वयमात्र ही आलोचना को मूल्यवान् नहीं बना सकता। आचार्य के पास एक ऐसी रस-दृष्टि भी है जो कार्य-कारण-शृंखला की अपेक्षा नहीं रखती और सहज भाव से रचना के मूल सौन्दर्य तक जा पहुँचती है। तर्कों की योजना तो बाद में होती है और उसमें विवाद के लिए गुंजाइश भी रहती है. किन्तु उक्त प्रकार की रस-दृष्टि तो अक्सर विवादातीत होती है। जहाँ तक उस रस-दृष्टि का प्रश्न है आचार्य शुक्ल की तुलना में हिन्दी का कोई अन्य आलोचक नहीं ठहर सकता। इसी दृष्टि के कारण, उनकी आलोचना के सबसे मूल्यवान् और मार्मिक प्रसंग वे हैं जहाँ वे कवियों की भाव-संपत्ति का मूल्यांकन करते हैं। इस दृष्टि की संपन्नता के लिए मनोविज्ञान का कितना अधिक आश्रय उन्होंने लिया था यह हम पहले ही दिखा चुके हैं। कवियों के भावजगत् में प्रवेश करके अमूल्य रत्नों को चुन लाना और पाठकों के समक्ष सहज भाव से प्रस्तुत कर देना उनके बायें हाथ का खेल है।

'अलंकार' और 'भाषा' आदि का अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण विवेचन भी उनके द्वारा हुआ है और इस दिशा में भी कम ही लोग उनकी बराबरी कर सकते हैं।

उनकी सारी व्यावहारिक आलोचनाओं को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—पहले वर्ग में वे समीक्षायें आती हैं जो 'तुलसी', 'जायसी' आदि के ऊपर लिखी गई हैं और दूसरे वर्ग में वे जो काव्य-धाराओं—छायावाद, अभिव्यंजनावाद

आदि की मीमांसा में लिखी गई हैं। उक्त वादों की आलोचना में भी शुक्ल जी की साहित्यिक मान्यताओं का विनियोग ही दिखाई पड़ता है, सिद्धान्त-स्थापन उन्होंने प्रायः नहीं किया। इसलिए वे भी व्यावहारिक आलोचनाओं के अन्तर्गत आ सकती हैं। यहाँ पहले विशिष्ट कवियों की समीक्षाओं पर विचार करके फिर काव्य-धाराओं की आलोचना पर विचार किया गया है।

'तुलसी' की आलोचना

'नागरी प्रचारिणी' सभा की ओर से प्रकाशित 'तुलसी-ग्रन्थावली' के तीसरे खण्ड में 'प्रस्तावना' शीर्षक से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने एक बड़ा आलोचनात्मक प्रबंध लिखा जिसमें तुलसी साहित्य के धार्मिक और साहित्यिक तत्त्वों का विस्तार से निरूपण किया गया था। कालान्तर में यही प्रबन्ध परिवर्द्धित होकर 'गोस्वामी तुलसीदास' नाम से पुस्तकाकार में प्रकाशित हुआ। शुक्ल जी की इस पुस्तक में व्यक्त विचार बहुत दिनों से विवाद-ग्रस्त रहे हैं और अनेक विद्वानों के मतानुसार लेखक की वैयक्तिक रुचि के प्रतिफल मात्र हैं, तटस्थ आलोचनात्मक बुद्धि के सुचिन्तित परिणाम नहीं। इतना सभी जानते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास ही शुक्ल जी के आदर्श प्रिय कवि थे और 'रामचरितमानस' की मूल प्रेरणा तथा रचना में अंतर्निहित साहित्यिक मान्यतायें ही उनकी वैयक्तिक रुचि का रूप धारण करती हुई, उनके सभी आलोचनात्मक निबंधों में व्यक्त होने लगीं। शुक्ल जी की व्यक्तिगत रुचि और संस्कार आदि का 'मानस' के उक्त मानदण्ड से इतना स्थायी तादात्म्य कैसे और क्यों हो गया, यह "साहित्यिक मान्यताएँ" वाले प्रकरण से स्पष्ट है।

तुलसी-साहित्य के अध्ययन की भूमिका :

तुलसीदास की साहित्य-सृष्टि यद्यपि सत्रहवीं शती के प्रथम चरण में ही सम्पन्न हो चुकी थी तथापि शुद्ध काव्य की दृष्टि से उनकी लोकप्रियता और महत्ता आधुनिक काल से पहले नहीं रही। भक्तों तथा सामान्य भक्ति-प्रेमी जनता के बीच 'मानस' तथा 'विनय-पत्रिका' के प्रति श्रद्धा भाव मध्यकाल से ही मिलता है, परन्तु इन्हें भक्ति-ग्रन्थ के रूप में ही स्वीकार किया जाता रहा। सर्वसाधारण में ऐसी भावना अनेक जटिल परिस्थितियों और कारणों से उत्पन्न हुई परन्तु उन सबका विवेचन करने बैठना अप्रासंगिक होगा। केवल एक प्रमुख कारण की ओर संकेत कर देना पर्याप्त होगा। भक्तिकाल के उपरांत निरन्तर पतनशील सामंती जीवन में विचारों की जो संकीर्णता उत्पन्न हुई उसने व्यापक काव्य-दृष्टि को भी संकुचित कर दिया। इस नूतन संकीर्ण दृष्टि के अनुसार काव्य को उस कारीगरी के रूप में स्वीकार किया जाने लगा जो भाषा की काट-छाँट, अलंकरण-प्रक्रिया और बाह्य शोभाकारी धर्मों के समावेश में परिलक्षित होती है। यदि जीवन की विस्तृत वनस्थली की ओर दृष्टि भी गई तो लोगों ने केवल शृंगार के कंटक-रहित मार्ग को ही और विस्तृत तथा प्रशस्त करने

का प्रयास किया, दुर्गम पथ पर अग्रसर होने के लिये कोई उद्यत न था। सीमित अर्थ में सुख-भोग ही जीवन का चरम लक्ष्य था। ऐसी स्थिति में काव्य की सीमा के भीतर केवल उन्हीं ग्रन्थों का प्रवेश हो सका जो उक्त दृष्टि वाले काव्य-रसिकों का मनोरंजन कर सके। कहने की आवश्यकता नहीं कि सभी प्रकार की अंतर्बाह्य कलात्मकता का निर्वाह और श्रेष्ठ साहित्यिक मानों को स्वीकार करते हुए भी तुलसी-साहित्य, काव्य-रसिकों के अपने बनाये दायरे में प्रवेश नहीं कर सका। इस प्रकार रीतिकाल के दो सौ वर्षों के बीच तुलसी की प्रतिष्ठा कवि के रूप में नहीं प्रत्युत पहुँचे हुए भक्त के रूप में रही और 'रामचरितमानस' धार्मिकता या नीतिवादिता का प्रामाणिक आकर ग्रन्थ माना जाता रहा। ऐसी स्थिति में तुलसी-काव्य के विशुद्ध साहित्यिक मूल्यांकन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

भारतीय नवोत्थान युग में जब साहित्य में भी विषय-वस्तु की यथार्थवादिता और उसके नियोजित करने के दृष्टिकोण की सामाजिक उपयोगिता का विचार प्रारम्भ हुआ तो काव्य-शास्त्र की संकीर्ण सीमायें स्वतः ही टूट गई। अब अनेक ऐसे लेखक और कवि भी साहित्य-सीमा में प्रवेश पाने लगे जो पहले भक्त या समाज-सुधारक कह कर छोड़ दिए जाते थे। 'तुलसी' और 'सूर' के अतिरिक्त कबीर और जायसी भी आलोचना की नयी कसौटी पर खरे उतरने लगे। नवोत्थानकालीन साहित्यशास्त्र की यह सबसे बड़ी उपलब्धि थी जिसने सामंती काव्य की मर्यादा को सर्वदा के लिए ध्वस्त कर दिया। काव्य-कृतियों के मूल प्रेरक तत्त्वों के अनुसंधान के लिए नयी आलोचना ने कवि के व्यक्तित्व के अन्तर्बाह्य पहलुओं का सम्यक् उद्घाटन भी अनिवार्य ठहराया। परिणामतः कवियों के व्यक्तिगत जीवन की भी शोध प्रारम्भ हुई।

तुलसी साहित्य के इस आधुनिक अध्ययन का सूत्रपात वस्तुतः विदेशी विद्वान् श्री एच० एच० विल्सन महोदय ने, "ए स्केच ऑफ़ द रेलिजस सेक्ट्स ऑफ़ द हिन्दूज़" नामक निबन्ध लिखकर सन् १८३१ में किया। इस लेख में, तुलसी के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं का कुछ जनश्रुतियों तथा पुस्तकों के आधार पर संकलन करके कवि की कृतियों का धार्मिक महत्त्व निरूपित किया गया था।

तदनन्तर सन् १८३९ ई० में गार्सां द तासी महोदय ने अपने इतिहास, "इस्त्वार द ला लितरे त्योर इंदुई ए हिन्दुस्तानी" में तुलसीदास की कृतियों का विवेचन कुछ नयी सामग्री के आधार पर किया—सन् १८७०-७१ ई० में जब इस इतिहास का परिवर्द्धित संस्करण निकला तब उसमें कुछ नवीन उपलब्ध सामग्री का भी उपयोग कर लिया गया।

सन् १८७६ ई० में श्री ग्राउज़ महोदय ने 'मानस' के सम्बन्ध में विचारपूर्ण लेख लिखा और पूरे ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद 'एशियाटिक सोसाइटी' बंगाल के

जर्नल के कई अंकों में प्रकाशित कराया। इससे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि तुलसी-साहित्य का अध्ययन अंग्रेजी भाषी समुदाय के लिए भी सुलभ हो गया, दूसरी ओर मानस के धर्म तथा भक्ति-पक्ष का पाश्चात्य दृष्टि से कुछ अधिक विवेचन भी हो गया। 'मानस' के शैली-शिल्प या कला-पक्ष पर योरोपीय प्रतिक्रिया का स्वरूप भी प्रकट हुआ।

परन्तु तुलसी-साहित्य के अध्ययन को अधिक व्यापक बनाने और विकसित करने का श्रेय वास्तव में डॉ० ग्रियर्सन महोदय को देना चाहिए, जिन्होंने सन् १८८६ से लेकर सन् १९२१ तक, तुलसी के जीवन तथा साहित्य से सम्बद्ध नवीन तथ्यों को समय-समय पर उद्घाटित किया और कवि की आध्यात्मिक उपलब्धि तथा साहित्यिक कृतित्व का भी समुचित मूल्यांकन किया। वस्तुतः श्री एच० एच० विल्सन महोदय ने अध्ययन की जिस नयी परिपाटी का सूत्रपात किया था वह डॉक्टर ग्रियर्सन के हाथों में पड़कर अधिक व्यापक और साहित्यिक बन गई। इन विदेशी अध्येताओं के समक्ष अपने देशों तथा साहित्य का समृद्ध और पुष्ट आलोचनात्मक मानदण्ड था और कला-कृतियों को परखने की अपनी योरोपीय कसौटी थी जो सैकड़ों वर्षों की चिंतन-परम्परा की परिणति के रूप में प्रकट हुई थी। परन्तु फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ये विद्वान् साहित्य-समालोचक नहीं थे, इनके अध्ययन का दृष्टिकोण भी अधिकांश धार्मिक या भाषा वैज्ञानिक था।[1] प्राचीन विस्मृत या अर्द्ध-विस्मृत साहित्यिक कृतियों को प्रकाश में ले आना भी इनका उद्देश्य था। परन्तु कवि की कृतियों का समुचित साहित्यिक दृष्टि से मूल्यांकन करना तथा भावविचार और कला-पक्ष के सभी तत्त्वों का विवेचन करना इनके अध्ययन का लक्ष्य नहीं था। फिर भी डॉ० ग्रियर्सन ने समय-समय पर प्रकाशित होने वाले अपने निबन्धों और ग्रन्थों में तुलसी-साहित्य की कई विशेषताओं का अच्छा उद्घाटन किया।[2] और उनकी कुछ स्थापनायें तो हिन्दी आलोचना में आगे चलकर व्यापक सत्य के रूप में प्रतिष्ठित हो गईं।

---

१. तुलसी-साहित्य के अध्ययन का यह संक्षिप्त विवरण डॉ० माताप्रसाद गुप्त के एक लेख के आधार पर दिया गया है जो 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका में छपा था और बाद में डॉक्टर साहब की थीसिस में जोड़ दिया गया।

२. For sustained and varied dramatic interests I suppose that 'Ramayan' is his best work, but there are fine passages in his other poems. What can be more charming than the description of Ram's boyhood in the commencement of the 'Gitavali' or the dainty touches of colour given to the conversation of the village women as they watch Ram. We can hear the cracking of the flames and the crash of the falling houses, the turmoil and confusion amongst the men, and the cries of the helpless women as they shriek for water.

(*Indian Antiquary 1912.* Page 273 onwards and 1913 from the first page)

डॉ० ग्रियर्सन के प्रारम्भिक प्रयासों के उपरान्त इण्डियन प्रेस से प्रकाशित 'मानस' (१९०२) की भूमिका में तुलसीदास की कृतियों का मूल्यांकन मिलता है परन्तु इसमें अधिकतर ग्रियर्सन के विचारों का ही विस्तार है। सन् १९१० में मिश्र-बन्धुओं ने अपना प्रसिद्ध आलोचनात्मक ग्रन्थ, 'हिन्दी नवरत्न' प्रकाशित किया जिसमें पहली बार भारतीय दृष्टि से तुलसी साहित्य के सभी पक्षों पर विचार किया गया और अपने मत की पुष्टि में चुनी हुई पंक्तियों का प्रमाण भी दिया गया। आज की दृष्टि से मिश्रबन्धुओं का यह प्रयास बहुत प्रारम्भिक लगता है परन्तु तत्कालीन अध्ययन-प्रणाली और विवेचन-पद्धतियों को देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि कवि की मूल आन्तरिक प्रेरणा, भावोत्कर्ष तथा रस-निष्पत्ति की शक्ति और भाव के साथ शैली और भाषा के वास्तविक तादात्म्य का उद्घाटन न कर पाने पर भी उनकी पुस्तक ने तुलसी सम्बन्धी अध्ययन को बहुत आगे बढ़ाया।

'हिन्दी नवरत्न' के प्रकाशन के लगभग एक वर्ष बाद ही इटालियन विद्वान् श्री एल० पी० टैसीटोरी का एक लेख तुलसी और वाल्मीकि के तुलनात्मक अध्ययन को लेकर निकला जिसका अंग्रेजी अनुवाद इंडियन ऐण्टीक्वेरी में सन् १९१२ और १९१३ ई० में प्रकाशित हुआ। इस लेख में पहली बार 'मानस' के मूल प्रेरणा-स्रोतों के उद्घाटन का प्रयास दिखाई पड़ा। यद्यपि इस लेखक ने अध्यात्म रामायण से तुलना करके 'मानस' के कथानक तथा पात्र-योजनादि का परीक्षण नहीं किया, तथापि ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन की सम्भावनायें उसके द्वारा अवश्य उत्पन्न कर दी गई। आगे के आलोचक अब तुलसी के कृतित्व का मूल्यांकन करते समय इस बात के ऊपर भी विचार करने लगे कि रामकथा और उससे सम्बद्ध पात्रों का पूर्ववर्ती स्वरूप, और उसके प्रति जनता का भाव क्या था। वे यह भी ढूँढ़ने का प्रयास करने लगे कि जब तुलसी ने उस कथा को अपने काव्य का उपजीव्य बनाया तब वह विकास अथवा ह्रास के किस स्तर पर थी और तब यह स्पष्ट करना भी सरल हो गया कि पूर्व-प्रचलित कथा की विभिन्न परम्पराओं में से तुलसी ने किसी विशिष्ट परम्परा को क्यों अपनाया और दूसरी की उपेक्षा क्यों की। इस प्रकार वाल्मीकि रामायण से लेकर 'रामचरितमानस' तक के कथागत, पात्रगत और दृष्टि-गत रूपांतर का अध्ययन रामकथा सम्बन्धी अनेक काव्यों, नाटकों आदि के तुलनात्मक विवेचन के आधार पर होने लगा।

श्री शिवनन्दन सहाय का "गोस्वामी तुलसीदास" सम्बन्धी ग्रन्थ सन् १९१६ ई० में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में तुलसीदास की जीवनी से सम्बद्ध सम्पूर्ण पूर्व-प्राप्त सामग्री का संकलन और विवेचन करके प्रत्येक ग्रन्थ के काव्य-सौन्दर्य का क्रम से निरूपण किया गया। इस पुस्तक की सबसे बड़ी त्रुटि तो यह रही कि पूर्ववर्त्ती आलोचकों द्वारा निर्दिष्ट तुलसी की काव्य सम्बन्धी दुर्बलताओं का अनुचित ढंग से निराकरण करके उन्हें संसार के सर्वोच्च कवि के आसन पर बिठाने का प्रयास

किया गया और पुस्तक की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह रही कि इसमें तुलसी के कथानक सम्बन्धी मूल प्रेरणा-स्रोतों की छान-बीन विस्तार के साथ हुई।

सन् १९१८ में प्रकाशित पादरी जे० एन० कारपेन्टर की "थियोलोजी ऑफ तुलसीदास' में ईसाई दृष्टिबिन्दु से तुलसी के दार्शनिक मत का निरूपण केवल 'मानस' के आधार पर किया गया था, ऐसी स्थिति में तटस्थ वैज्ञानिक विवेचन और निष्कर्ष का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

इस प्रकार तुलसी-साहित्य के अध्ययन का जो सूत्रपात श्री एम० एच० विल्सन महोदय ने किया था, वह सन् १९१८ तक पहुँचते-पहुँचते अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं में विकसित हुआ। जीवन-सम्बन्धी खोज, अनेक विवादों के रहते हुए भी, अधिक महत्त्वपूर्ण थी। नव-जागरणकालीन सुधारवादी दृष्टिकोण में तुलसी के "मर्यादावाद" का विस्तृत विवेचन भी हुआ, परन्तु किसी सुनियोजित मर्मग्राहिणी परिपक्व दृष्टि के अभाव में लेखकों का यह सम्पूर्ण प्रयास बिखरा-बिखरा सा लगता रहा। ऐसा प्रतीत होता था कि उस समूची साहित्यिक और भक्ति-सम्बन्धी परम्परा का, जिसके अनुक्रम में तुलसी साहित्य की सृष्टि हुई थी, तथा तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों का सम्यक् निरूपण किए बिना गोस्वामी तुलसीदास की वास्तविक समालोचना नहीं हो सकती। शुक्ल जी के आलोचनात्मक प्रबन्ध के प्रकाशित होने के पूर्व हिन्दी आलोचना की एतत्सम्बन्धी उपलब्धियाँ ऊपर दिए हुए विवरण से स्पष्ट हैं। शुक्ल जी को परम्परा रूप में अध्ययन की एक निश्चित रूप-रेखा मिली और उसी के अनुरूप नैतिक, धार्मिक दृष्टिकोण भी प्राप्त हुआ। दूसरी ओर उनका मानसिक-गठन भी प्रधानतया उन्हीं परिस्थितियों से प्रभावित था जो नवजागरणकालीन भारतीय मस्तिष्क को आंदोलित कर रही थीं। संस्कार-रूप से उन्हें भारत का वही सगुणतामूलक मर्यादावाद मिला था जो तुलसी को और द्विवेदीकालीन कठोर नैतिक मर्यादाएँ एवं तत्कालीन पाश्चात्य मनोविज्ञान उसे अधिक पुष्ट करते रहे।

शुक्ल जी की आलोचना

शुक्ल जी ने तुलसीदास की अपनी समीक्षा में काव्य के अंतरंग और बहिरंग का सम्यक् विश्लेषण करने के लिए प्रारम्भ के आठ शीर्षकों में, तुलसी की भक्ति-पद्धति, प्रकृति और स्वभाव, लोक-धर्म, धर्म और जातीयता का समन्वय, मंगलाशा, लोक-नीति और मर्यादावाद, शील, साधना और भक्ति, का विवेचन किया और बाद के सात अध्यायों—तुलसी की काव्य-पद्धति, उक्ति-वैचित्र्य और भाषा पर अधिकार आदि—में तुलसी के कला-पक्ष का उद्‌घाटन किया। दोनों पक्षों के अलग-अलग निरूपित हो जाने से तुलसी की यह आलोचना सर्वांगपूर्ण हो गई है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, शुक्ल जी की परिपार्श्विक मान्यताएँ भी अधिकतर इसी पुस्तक में स्पष्ट हुई हैं। उन्होंने तुलसीदास को ही लोकधर्म का सच्चा व्याख्याता माना है। तुलसी की कृतियों की

आंतरिक परीक्षा करके ही लोक-धर्म का स्वरूप शुक्ल जी ने निरूपित किया है, उस सिद्धान्त को अपनी ओर से आरोपित नहीं किया। यह अवश्य था कि भारतीय साहित्य-शास्त्र और पाश्चात्य मनोविज्ञान की समन्वित पीठिका पर जिस नैतिकता की प्रतिष्ठा वे कर चुके थे, उसका उत्कृष्ट प्रमाण तुलसी-साहित्य में मिला। इसीलिए तुलसी में लोकवाद की इतनी व्यापक प्रतिष्ठा उनके द्वारा हुई। हिन्दी की पहले से चली आती हुई आलोचना भी (जिसका विवरण ऊपर दिया जा चुका है) इसके लिये मार्ग प्रशस्त कर चुकी थी। पूर्ववर्त्ती आलोचकों में उस लोकवाद की चर्चा बराबर रही, यह दूसरी बात है कि सब लोग उसका समर्थन नहीं कर रहे थे।

कुछ विद्वानों ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि पाश्चात्य समीक्षकों ने अपने पवित्रतावादी दृष्टिकोण से तुलसी के सुधारवाद की जो सराहना की थी, उसी से प्रभावित और आतंकित होकर शुक्ल जी को भी उनके लोकवाद, मर्यादावाद आदि की सराहना करनी पड़ी।[1]

किन्तु जैसा हम अन्यत्र कह आये हैं, शुक्ल जी के निष्कर्ष अपनी उन मान्यताओं के अनुकूल हैं जो मनोविज्ञान आदि के अध्ययन से पहले ही पुष्ट हो चुकी थीं। हम यह भी कह चुके हैं कि उन्हीं मान्यताओं के आधार पर वे पूर्व या पश्चिम के सिद्धांतों का खण्डन-मण्डन करते चले जाते हैं। ऐसी दशा में यह विश्वास करना कठिन है कि अंग्रेज समीक्षकों के निष्कर्षों का खण्डन करने में वे आनाकानी कर सकते थे या उन्हें बिल्कुल आँख मूँदकर स्वीकार कर लेते। यह आकस्मिक बात थी कि वे निष्कर्ष शुक्ल जी की मान्यताओं के अनुरूप बैठे। सूरदास की अपेक्षा तुलसी को लोकवादी और महान् कहने के पीछे भी उनकी अपनी विचारणा ही काम कर रही है, ग्रियर्सन महोदय का यह कथन नहीं कि योरोपीय आलोचकों की दृष्टि में तुलसी को ही कवि-शिरोमणि कहा जा सकता है, सूर का स्थान उनसे निम्नतर श्रेणी में होगा।[2] शुक्ल जी की व्याख्या ने तुलसी साहित्य में निहित सामाजिकता को आचार-शास्त्र, मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र का पुष्ट आधार दिया। कई लेखकों और विचारकों ने इस बात पर आपत्ति प्रकट की है। उनका मत है कि यह सम्पूर्ण आयोजन शुक्ल जी का ही है तुलसी का नहीं :—[3]

---

१. संपादकीय, आलोचना, वर्ष ३, अंक ४, जुलाई, १९५४।

२. "The latter (Surdas) is considered by his fellow countrymen to share with Tulsidas the throne of absolute perfection in the art of poesy, but European critics will be inclined to award the latter poet alone the Supreme crown and to relegate the blind bard of Agra to a lower, though still an honourable, place."

—*The Modern Vernacular Literature of Hindustan.*
—G. A. Grierson—1889. Int. P. XIX.

३. 'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल' में जैनेन्द्र जी का लेख, पृ० ५०।

"तुलसी को, जो भीतर तक भीगे निपट भक्त थे, शुक्ल जी ने नाना बनाव में देख दिखा डाला है। उनको विद्वान माना, नीतिदाता माना, समाज-सुधारक, लोक-संग्राहक, लोक-नेता माना। मैं कहना चाहता हूँ कि यह कृपा आलोचक की अकृपा है·····और मैं मानता हूँ कि शुक्ल जी ने जिस रूप में तुलसीदास को ग्रहण किया—वह तुलसीदास का आन्तरिक स्वरूप नहीं आरोपित स्वरूप ही है।"

इस कथन का सम्बन्ध केवल तुलसी की आलोचना से ही नहीं शुक्ल जी के तमाम आलोचनात्मक साहित्य से है। हम देख चुके हैं कि काव्य में नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा वे किस आधार पर करते हैं। यदि हम फिर स्मरण करें तो उनके चिंतन का यह सूत्र सामने आ जायेगा कि भावों की स्थायी दशा ही आचरण और नैतिकता की प्रतिष्ठा करती है। इसलिए काव्य का मूल्यांकन करते समय समाज-सम्बन्धी प्रश्नों का उठना स्वाभाविक ही है, क्योंकि आचरण और नैतिकता का उससे गहरा सम्बन्ध है। इसलिए यह मानना बड़ा कठिन है कि शुक्ल जी की आलोचना में तुलसी का आरोपित स्वरूप उभरा है। और यह कहना कि हम भक्त कवियों के निश्शेष आत्मसमर्पण, या उनकी आत्यन्तिक निरीहिता को ही देखें, काव्य के जीवन-व्यापी प्रभाव को कुछ कम करके दिखाना है। लेकिन तुलसीदास ने लोक या समाज के विषय में जो कुछ कहा, वह सब का सब मान्य और स्वीकरणीय नहीं हो सकता। जैसा एकाध उदाहरणों से हम पहले दिखा आये हैं कि शुक्ल जी की दुविधा उन स्थलों पर सहज स्पष्ट हो गई है जहाँ तुलसी की किसी उक्ति का वे समर्थन नहीं कर पाते। ऐसे अवसरों पर यह भी प्रकट होता है जैसे वे तुलसी का पक्ष-समर्थन करने के लिए कोई युक्ति ढूंढ़ रहे हों किन्तु वह न मिल पाती हो। ये अवसर उनकी आलोचना के कमजोर अंश हैं, यहाँ वे श्रद्धालु हैं, उच्च अर्थों में आलोचक नहीं। ऐसे अवसरों पर वे केवल तुलसी के विचारों की ही रक्षा करने में तत्पर नहीं होते अपितु उनकी शैली सम्बन्धी त्रुटियों का दोष भी अन्य कवियों या परम्पराओं के मत्थे मढ़ देते हैं। आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण न करने का दोष उन्होंने तुलसी को न देकर परम्परा को दिया है :—

"अब यहाँ प्रश्न यह होता है कि गोस्वामी जी ने सारा वर्णन इसी पद्धति से क्यों नहीं किया। गोस्वामी जी हिन्दी-कवियों की परम्परा से लाचार थे।"[1] शुक्ल जी का यह तर्क उनके व्यक्तित्व के अनुकूल नहीं। यदि तुलसीदास अपने काव्य की सामग्री संस्कृत काव्य-ग्रन्थों से ले सकते थे तो प्रकृति-वर्णन की आदर्श परम्परा लेने में उन्हें क्या कठिनाई थी ?

जैसा पहले कहा गया है शुक्ल जी की आलोचना का सबसे मूल्यवान् अंश उनका भाव-निरूपण ही है। प्रस्तुत पुस्तक में भी "तुलसी की भावुकता" का अलग से विवेचन किया गया है। इस विवेचन की प्रत्येक पंक्ति बहुमूल्य है। जो प्रसंग चित्त

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १३६।

को द्रवित करने वाले हैं, उनका विवेचन उन्होंने पूर्ण भावुकता और तन्मयता से किया है। जहाँ काव्य के मार्मिक प्रभाव को विवेचना का विषय बनाने में वे असफल हुए वहाँ प्रभाववादी समीक्षक की भाँति केवल इतना ही कह सके कि :—

"इस सफाई के सामने हजारों वकीलों की सफाई कुछ नहीं है, इन कसमों के सामने लाखों कसमें कुछ नहीं हैं। यहाँ वह हृदय खोलकर रख दिया गया है जिसकी पवित्रता को देख जो चाहे अपना हृदय निर्मल कर ले।"[1]

पाठक देख सकते हैं कि ऊपर की पंक्तियों में विश्लेषण बिल्कुल नहीं है, केवल स्तवन का आवेग है। लेकिन ऐसी पंक्तियों की संख्या बहुत अधिक नहीं। निरूपण के लिए शुक्ल जी ने प्रेम, शोक, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास आदि स्थायी भावों और ग्लानि, अमर्ष, श्रम, आदि संचारी भावों को लिया है। 'आश्चर्य' से कुछ हल्का 'चकपकाहट' नाम का भाव भी उन्हें एक स्थान पर मिला और उसका बड़ा मार्मिक विवेचन उन्होंने किया। हम पहले दिखा आये हैं कि इस भाव का अत्यन्त विस्तृत विवेचन शैंड ने अपनी पुस्तक 'फाउण्डेशन्स ऑफ़ कैरेक्टर' में किया था और शुक्ल जी को इस संचारी का सूत्र वहीं से मिल गया।

भावों के लिए उत्कृष्ट उदाहरण चुनने में जितनी सावधानी आचार्य शुक्ल ने रखी है उतनी अन्यत्र विरल है। उद्धृत पद्यों और व्याख्याओं में अत्यन्त गूढ़ सामंजस्य का विधान उनके द्वारा हुआ है जिसके फलस्वरूप विवेचन संतुलित और संपन्न हो गया है।

शान्त रस का निरूपण शुक्ल जी अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं में भी नहीं करते। सिद्धान्त-विवेचन में इस रस का छूट जाना खटकता नहीं किन्तु तुलसी-सूर-जायसी जैसे भक्त कवियों की आलोचना में भी यदि इस रस का विवेचन न हो तो और कहाँ होगा। 'तुलसी की भावुकता' में न तो कहीं निर्वेद का नाम है और न शान्त-रस का। 'मानस' से शान्त-रस का उदाहरण दिया ही नहीं गया। सूर और जायसी की आलोचनाओं में भी इसका उल्लेख नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य और जीवन की रागमूलकता को स्वीकार करने के कारण उन्होंने संस्कृत के कुछ प्राचीन आचार्यों की भाँति, शान्त को रस रूप में ग्रहण नहीं किया। काव्य को मनोमय कोश तक मानने का भी यह परिणाम हो सकता था, क्योंकि उसमें, आलम्बन के प्रति भाव का वेग या गति ही प्रधान रहती है। वेगहीन प्रवृत्तियाँ तो निष्क्रियता ही उत्पन्न कर सकती हैं। किन्तु शान्त-रस को जिन लोगों ने काव्य और नाटक में प्रतिष्ठा दी उनका दृष्टिकोण इससे भिन्न है—उन्होंने तपस्वी या साधक के व्यक्तित्व

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ९८।

के अंकन को भी शान्त-रस का उद्‌बोधक माना।[1] धर्म-ग्रन्थों की परम्परा में होने के कारण 'मानस' में ऐसे प्रसंग अनेक थे किन्तु शुक्ल जी का विश्वास उनकी रसात्मकता में कदाचित् कम ही था।

चरित्रों का निरूपण विशुद्ध नैतिकता अथवा प्राचीन साहित्य-शास्त्रीय मर्यादाओं के अनुसार नहीं किया गया। भाव की स्थायी दशा और शील-दशा का ध्यान रखते हुए शुक्ल जी ने 'मानस' के चरित्रों का विकास मनोवैज्ञानिक पद्धति पर निरूपित किया है। भाव या राग तत्त्व की ओर, बीच-बीच में, संकेत करते चलने के कारण, भरत, परशुराम, मंथरा आदि चरित्रों की मीमांसा बहुत पूर्ण हो गई है। पूर्ववर्त्ती आलोचक 'मानस' के पात्रों का गुणगान ही कर सके थे, काव्य-सीमा के भीतर उनके व्यक्तित्व का विकास निरूपित नहीं कर सके।

अलंकारों के निरूपण की शास्त्रीय पद्धति भी 'गोस्वामी तुलसीदास' में रखी गई है। किन्तु जैसी शुक्ल जी की धारणा थी उन्होंने अलंकारों को भावोद्‌बोधक साधन के रूप में ही दिखाया है। तुलसी के पुराने आलोचकों की भाँति उनका निरूपण केवल बाह्य अंग तक ही सीमित नहीं, अपितु काव्य की सार-सत्ता के साथ उसे एकाकार कर दिया गया है।

तुलसी-साहित्य की कुछ खटकने वाली बातों का अलग से उल्लेख किया गया है जिससे आलोचना के एकपक्षीय होने का कुछ परिहार हो जाता है। किन्तु पाठकों के मन में यह इच्छा अवश्य उत्पन्न होती है कि इन बातों का केवल संकेत न देकर विस्तृत मीमांसा देनी चाहिए थी।

सूरदास की आलोचना

'सूर' की आलोचना में ध्यान देने की यह बात है कि वह 'भ्रमर-गीत-सार' की भूमिका के रूप में लिखी गई थी। दुर्भाग्य से सूर साहित्य की सम्यक् और सर्वांगपूर्ण समीक्षा का अवसर आचार्य शुक्ल को नहीं मिला। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है कि वे सम्पूर्ण 'सूर सागर' की वैसी ही आलोचना लिखना चाहते थे जैसी जायसी के काव्य की[2] और इसके लिए 'सूर सागर' के अनेक पदों पर विचार-विमर्श के लिए टिप्पणियाँ भी जोड़ दी थीं (ये टिप्पणियाँ आज उपलब्ध नहीं)[2] परन्तु वे अपने जीवन में उसे व्यवस्थित रूप न दे सके। लेकिन इस पर से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि यदि वे सम्पूर्ण सूर सागर की समीक्षा करते

---

१. The acceptance of Shanta does not mean the attempt to present the impossible cessation of action but means only the portrayal of an ardent spirit in search of truth and tranquility. The manifold efforts of the Yataman, his trials, his victories over passions—these can be portrayed with great interest.

—*The Number of Rasas*—Dr. V. Raghavan, 1940.

२. 'सूरदास' (चतुर्थ संस्करण) वक्तव्य, पृ० ३।

तो उनके निष्कर्षों में कोई विशेष अंतर पड़ता। अपनी संक्षिप्त आलोचना में भी वे सूरदास की सभी प्रमुख साहित्यिक विशेषताओं का उद्घाटन कर गए हैं। लोक-मंगल की जिस साधनावस्था का अभाव उन्हें सूर में दिखाई पड़ा है उसका कारण यह नहीं कि वे केवल भ्रमरगीत को ही दृष्टि में रखकर चल रहे थे, बल्कि इसलिए कि अनेक अनिवार्य कारणों से, जिनकी व्याख्या शुक्ल जी ने ही कर दी है, 'सूरसागर' में उस साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष का सौन्दर्य उभर ही नहीं सका। 'भ्रमरगीत' की भूमिका के रूप में प्रस्तुत होने का उस आलोचना के ऊपर इतना ही प्रभाव पड़ा है कि उसमें प्रधानतया सूर के संयोग' और 'वियोग' वर्णन के मार्मिक सौन्दर्य को ही उद्घाटित किया गया है और उदाहरण भी उन्हीं प्रसंगों से चुने गये हैं।

'सूर-साहित्य' को शुक्ल जी ने लोकमंगल की सिद्धावस्था का निरूपक बतलाया है, इसीलिए उसका मूल प्रेरक भाव करुणा न होकर प्रेम है। आनन्द की सिद्धावस्था को लेकर चलने वाले काव्यों में उनके अनुसार "नगाड़े की धमक, गर्जन तर्जन और हुंकार नहीं, विप्लव, ध्वंस और हाहाकार नहीं, वेग और तेज की तिग्मिता नहीं" बल्कि "दीप्ति, माधुर्य और कोमलता की स्निग्ध भूमि है, लहलहाते सरस प्रसार और परिमल घटित पुष्पहास का कलकंठ कूजित क्षेत्र है, मद और उल्लास की मृदुल तरंगमयी संगीतधारा का मानसलोक है।"[1]

'सूर' का काव्य-जगत् इसी दीप्ति, माधुर्य और कोमलता के आलोक से उद्भासित है। "काव्य में लोकमंगल" पर अन्यत्र[2] विचार करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है कि आनन्द की साधनावस्था को लेकर चलने वाले कवियों का करुणा को ही बीज भाव बनाना उचित है, और सिद्धावस्था को लेकर चलने वाले काव्यों में प्रेम ही बीज-भाव के रूप में होगा। यह स्पष्ट है कि सूर सागर में मूल प्रेरक भाव प्रेम है जो भगवान् के अलौकिक रूप और लीला की ओर उन्मुख है। प्रेम की नाना अन्तर्दशाओं का चित्रण ही सूरदास का लक्ष्य है। तब उनके साहित्य-विचार में करुणा और लोक-रक्षा से सम्बद्ध प्रश्नों को क्यों उठाया जाय, यह सवाल स्वतः ही उठता है। अपनी आलोचना के प्रारम्भ में सूर और तुलसी पर कुछ तुलनात्मक विचार प्रकट करके शुक्ल जी ने लोक-मंगल की भावना का अभाव सूर के पदों में निरूपित किया है और उनकी विशिष्ट काव्यगत दृष्टिभंगी के कारणों का भी संक्षेप में उल्लेख किया है। वे मानते हैं कि "लोक-संघर्ष से उत्पन्न विविध व्यापारों की योजना सूर का उद्देश्य नहीं है।"[3] और इसीलिए जीवन की विकट और गम्भीर समस्याओं का लेखा-जोखा सूरसाहित्य में नहीं है। उनकी भक्ति में शील और शक्ति की उपासना नहीं है, केवल सौन्दर्य के प्रति पूर्ण अनुराग और निःशेष आत्म-

---

१. सूरदास, पृ० १३५।
२. वही, पृ० १५४।
३. वही, पृ० १३२।

समर्पण की लालसा है। लोक-रक्षा या लोक-कल्याण की दृष्टि से सूर साहित्य का यह संकोच स्पष्ट दिखाई पड़ता है। कोई यह सिद्ध करने का प्रयास नहीं करेगा कि लोक-रक्षा का विधान और अत्याचार के सम्पूर्ण विनाश का कर्म-पक्ष भी 'सूरसागर' में उद्घाटित हुआ है। यह लिखकर भी कि सिद्धावस्था के कवियों का प्रेम को ही बीज-भाव मानना तथा सौन्दर्य और माधुर्य के प्रति पूर्णतया आकर्षित होना सर्वथा उचित है, जब शुक्ल जी लोक-रक्षा और जीवन-संघर्ष का अभाव 'सूर-सागर' में निरूपित करने लगते हैं तब उसका यही अर्थ हो सकता है कि वह सूरदास के साहित्य की एक उचित सीमा निर्धारित करके उसके अन्तर्गत ही आलोचना के सूत्रों का उपयोग करना चाहते हैं। हाँ, इस बीच में एकाध प्रसंगों पर उनके तर्क विचित्र से लगते हैं, जैसे यह कहना कि राम के प्रत्येक कर्म पर देवता जो पुष्पवर्षा करते हैं उसका मुख्य कारण यह है कि सम्पूर्ण लोक की मंगलकामना राम के सुकर्मों के साथ है परन्तु कृष्ण के गोचारण और रासलीला आदि का दर्शन करने के लिए जो देव-गण एकत्र होते हैं वे केवल तमाशबीन की तरह।[1] ध्यान देने की बात है कि दोनों ही स्थानों पर देवताओं का एकत्र होना एक सा ही है, पहले में लोक-मंगल का उत्सव देखने के लिए (और कभी-कभी अपने स्वार्थों से प्रेरित होकर भी) और दूसरे में भगवान् के अपरूप-लावण्य का साक्षात्कार करने के लिए। यह 'सूर' और 'तुलसी' का दृष्टिभेद ही है जो देवताओं को दो भिन्न रूपों में प्रस्तुत करता है। जिस भावना से प्रेरित होकर सूर भगवान् के लोकरंजनकारी रूप का वर्णन करते हैं उसी भावना से प्रेरित होकर उनके रूपमुग्ध देवता भी लीला-दर्शन के लिए आ जाते हैं और यह निश्चित है कि सूर ने भगवान् का साक्षात्कार एक तमाशबीन की तरह नहीं किया। यह बात स्वयं शुक्ल जी की आगे लिखी हुई आलोचना से ही स्पष्ट हो गयी।

अपनी आलोचना के प्रारम्भ में यह निर्धारित करके कि सूर का काव्य-क्षेत्र कितना सीमित है और साथ ही यह भी स्थापित करके कि "सूरदास जी को मुख्यतः[2] शृंगार और वात्सल्य का ही कवि समझना चाहिए" शुक्ल जी सूर के पदों में निहित सौन्दर्य को उद्घाटित करने की ओर प्रवृत्त हुए।

आनन्द की सिद्धावस्था का जैसा मधुर विलास-मय पक्ष वे काव्य में देखना चाहते थे वैसा ही उन्हें सूर के शताधिक पदों में उपलब्ध हुआ। इसीलिए उन्होंने प्रारम्भ में ही यह घोषित कर दिया है कि "वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया उतना किसी और कवि ने नहीं।"[3] और आगे लिखा है कि उक्त दोनों रसों के प्रवर्त्तक रतिभाव के भीतर जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके उतनी

---

१. सूरदास, पृ० १५७।

२. वही, पृ० १५७।

३. वही, पृ० १५०।

का और कोई नहीं।"[१] और सूर द्वारा प्रत्यक्षीकृत इन वृत्तियों और अन्तर्दशाओं का जितना सरस और भावुकतापूर्ण पर संगत विवेचन आचार्य शुक्ल ने किया उतना हिन्दी का कोई अन्य आलोचक नहीं कर सका। इस विश्लेषण में शुक्ल जी का हृदय-पक्ष बुद्धि-पक्ष से कहीं बलवत्तर दिखाई पड़ता है। सरस सुन्दर प्रसंगों में रमने के साथ-साथ बुद्धि का अंकुश वे सदैव सजग रखते थे। अतएव किसी कवि अथवा लेखक को अपनी सहानुभूति देते हुए भी सराहना या साधुवाद प्रायः अल्पमात्रा ही में दे पाते थे। 'सूर' उन विरल कवियों में से हैं, जिन्होंने अपने द्रावकतापूर्ण काव्योपचार से उनके तर्क को कुंठित तथा दुर्बल और उनके भाव को उद्बुद्ध तथा प्रबल बना दिया। वे सूर के काव्य-माधुर्य में जैसे डूब करके कहते हैं :—

"'सूर' का संयोगपक्ष-वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है। प्रेम संगीतमय जीवन की एक गहरी चलती धारा है जिसमें अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं दिखाई पड़ता।"[२]

उस माधुर्यपूर्ण 'सूरसागर' में गहरे डूबकर ही शुक्ल जी कुछ मूल्यवान् रत्नों को बाहर निकाल सके और अपनी आलोचना में पिरो सके। 'नंद ब्रज लीजे ठोंकि बजाय' वाले पद के 'ठोंकि बजाय' की निहित व्यंजना पर वे ऐसे लुब्ध हुए कि बिल्कुल 'महफिली तर्ज' पर साधुवाद देते हुए लिख चले "ठोंकि बजाय' में कितनी व्यंजना है। .....एक-एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखाई दे रहा है।"[३] 'संदेसो देवकी सों कहियो' वाले पद की और कोई व्याख्या न पाकर केवल इतना ही कहते हैं कि "रसमग्न हृदय ही ऐसी दशाओं का अनुभव कर सकता है।"[४] इसी प्रकार सूर के वियोग-वर्णन में आने वाली प्रेम की नाना अन्तर्दशाओं के असीम विस्तार को नापने में जैसे असमर्थ होते हुए कहते हैं—"आगे चलकर गोपियों की वियोग-दशा का जो धारा-प्रवाह वर्णन है उसका तो कहना ही क्या है। न जाने कितनी मानसिक दशाओं का संचार उसके भीतर है। कौन गिना सकता है ?"[५] 'पिया बिनु साँपिनि कारी रात' के लिए लिखा है "इस पद पर न जाने कितने लोग लट्टू हैं !" और आगे चलकर सम्पूर्ण 'भ्रमर-गीत' की महत्ता स्वीकार करते हुए कहा है—"शृंगार रस का ऐसा सुन्दर उपालम्भ-काव्य दूसरा नहीं है।"[६] अन्त में 'निर्गुण कौन देस को बासी ?' वाले पद की भावपूर्ण टीका करते हुए लिखा है—"स्त्रियों के कैसे स्वाभाविक हाव भाव भरे ये वचन हैं—'कसम है हम ठीक ठीक पूछती हैं, हँसी नहीं, कि तुम्हारा निर्गुन

---

१. सूरदास, पृ० १५०।
२. वही, पृ० १६३।
३. वही, पृ० १६९।
४. वही, पृ० १७०।
५. वही, पृ० १७०।
६. वही, पृ० १९५।

कहाँ का रहने वाला है?' कुछ विनोद, कुछ चपलता, कुछ भोलापन, कुछ घनिष्ठता—कितनी बातें इस छोटे से वाक्य से टपकती हैं।"[1] ऐसी तरल भावकुता और आर्द्र-रसिकता को देख कर इस मत से सहमत होना कठिन है कि शुक्ल जी में "घनत्व है, द्रवणता या तरलता नहीं, निष्पत्ति है, परिणति नहीं, मनीषा है अनुभूति नहीं, राग है रस नहीं।"[2] "भ्रमरगीत-सार की भूमिका को देखकर कोई भी व्यक्ति यह कह सकता है कि शांतिप्रियजी के उक्त कथन में स्पष्ट व्यतिक्रम है। इन युग्मों की ठीक उलटी परि-स्थिति सूर की आलोचना में व्यक्त हुई है। उसमें घनत्व के स्थान पर तरलता, निष्पत्ति के स्थान पर परिणति, मनीषा के स्थान पर अनुभूति और अन्त में राग के स्थान पर रस का प्राधान्य है। द्विवेदी जी की उक्त स्थापना का यदि कोई अर्थ है तो वह छायावाद-सम्बन्धी आलोचना में ही लागू हो सकता है और उसके लिए अन्य कारण हैं। स्वयं उनकी आन्तरिक प्रवृत्ति में तरलता, अनुभूति, परिणति और रस का अभाव है, ऐसा नहीं माना जा सकता। छायावादी काव्य के भावुक प्रशंसक और हिन्दी में प्रभाववादी समीक्षा के प्रबल समर्थक होने के नाते ही सम्भवत: द्विवेदी जी ऐसा लिख गए हैं।

वस्तुत: उत्तम प्रसंगों से ही यह विदित होता है कि प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा के उग्र विरोधी शुक्ल जी अवसर आ पड़ने पर वैसी ही समीक्षा लिखने लग जायेंगे। इन वाक्यों से कवि-कृत भाव-व्यंजना का निरूपण नहीं होता बल्कि आलोचक के ऊपर पड़े हुए प्रभाव की ही अभिव्यक्ति होती है। काव्य का यही वह सौन्दर्य है जो अधिकतर अनिर्वचनीय रहता है। भावों का बार-बार विश्लेषण करने वाले शुक्ल जी ऐसे अव-सरों पर स्वयं भावमय हो उठते हैं।

सूरदास के प्रेमपक्ष का जो विवेचन आचार्य शुक्ल ने किया है, उसे लेकर भी आलोचकों में अनेक विवाद हुए हैं जिन पर विचार करना उपयोगी होगा। आनन्द की सिद्धावस्था का उपस्थापन और गायन करने वाले कवियों में सूर को आचार्य शुक्ल ने विशेष महत्त्व दिया है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि सिद्धावस्था वाले काव्य के लिए जिन उपकरणों का होना वे अनिवार्य ठहराते हैं वे सभी 'सूर-सागर' में उपलब्ध हैं। यह सैद्धान्तिक वाक्य लिखते समय कि, ऐसे काव्यों में "विभाव-पक्ष में असामान्य शोभा, दीप्ति-प्राचुर्य, प्रफुल्लता, कोमलता, सौकुमार्य, इत्यादि द्वारा अद्‌भुत या अलौकिक रंजन की योजना की जाती है।"[3] उन्हें 'सूर-सागर' की विषय सामग्री और उसके नियोजन ने अवश्य प्रेरणा दी होगी। आगे वे अनेक बार स्वीकार करते हैं कि उपभोग पक्ष का दर्शन करने वाली काव्यभूमि दीप्ति, माधुर्य आदि की भूमि है जिसमें मूल प्रवर्त्तक या बीज भाव प्रेम है। 'सूरसागर' के मूल

१. सूरदास, पृ० २१७।
२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २२०।
३. सूरदास, पृ० १४३।

में भी इसी प्रेम भाव की प्रेरणा है। इस प्रेम-भाव के अन्तर्गत दुःखात्मक भाव या परिस्थितियाँ बेधड़क प्रवेश नहीं पा सकतीं। प्रविष्ट होने के पहले उन्हें प्रेम-राज्य का पूर्ण अनुशासन स्वीकार करना पड़ता है। शुक्ल जी की इस धारणा से यह स्पष्ट है कि प्रेम को बीज भाव मानकर चलने वाला कवि, जगत् और प्रकृति के भीषण और कुरूप प्रसंगों का वर्णन तो करेगा परन्तु उस भीषणता तथा कुरूपता के ऊपर प्रेम के सर्वजयी व्यक्तित्व का निवास होने के कारण उन प्रसंगों में ही कवि के उद्देश्य की चरम परिणति नहीं दीखेगी। वे प्रसंग आनुषंगिक या तुच्छ साधन रूप होंगे। स्थूल उदाहरण के लिए 'सूरसागर' में आए हुए राक्षसों के संहार को ले सकते हैं जिनका यथावत् वर्णन सूर ने किया है परन्तु जिनमें निहित लोक-कल्याण मूलक सोद्देश्यता का किंचिन्मात्र भी आभास कहीं नहीं मिलता। यदि आभास मिलता है तो केवल इस बात का कि प्रेममय भगवान् की लीला का प्रदर्शन और आनन्दोपभोग ही इन सब कुरूप घटनाओं का भी लक्ष्य था। सूर ने इन घटनाओं को जिस दृष्टि-भंगी से प्रस्तुत किया वह उचित है या अनुचित, शिव है अथवा अशिव, ये प्रश्न अवान्तर हैं और विवाद-ग्रस्त भी, परन्तु किन कारणों से उन्होंने यह दृष्टि अपनाई और इस दृष्टि का सच्चा स्वरूप क्या था—ऐसे प्रश्नों का जो समाधान शुक्ल जी ने दिया उससे असहमत होने की विशेष गुंजाइश नहीं। प्रायः सभी आलोचकों ने कुछ तर्कों के हेर-फेर के साथ उन कारणों को स्वीकार कर लिया है। शुक्ल जी ने सूर की प्रेम सम्बन्धिनी दृष्टिभंगी पर विचार करते हुए लिखा है कि "सब सम्प्रदायों के कृष्ण-भक्त कवि 'भागवत' में वर्णित कृष्ण की व्रज लीला को ही लेकर चले क्योंकि उन्होंने अपने प्रेम लक्षणा भक्ति के लिए कृष्ण का मधुर रूप पर्याप्त समझा।"[1] 'सूरसागर' में जीवन-व्यापिनी वस्तुओं के विस्तार का अभाव क्यों है, इसके लिए शुक्ल जी दो और अवांतर कारण देते हैं—पहला तो यह कि गीत काव्य होने के कारण उक्त ग्रंथ में मधुर ध्वनि प्रवाह के बीच कुछ चुने हुए पदार्थों और व्यापारों की झलक काफी है।[2] दूसरा कारण यह है कि सूर ने जीवन की दो ही वृत्तियाँ वर्णन के लिए चुनी हैं—बालवृत्ति और यौवनवृत्ति अतः प्रेम को एकांत वैयक्तिक और अहेतुक उल्लास के क्षेत्र से हटाकर सामाजिक जीवन और घटनाओं के बीच कार्य-कारणरूप से नियोजित करने में वे सदैव असमर्थ रहे, यानी वे प्रेम की कारणता लोक-कल्याण में सिद्ध न कर सके।

यहाँ यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि लोक-जीवन को आनन्दपूर्ण और मधुर बनाने वाले प्रेम का चित्रण एक बात है और प्रेम-परिणाम के रूप में लोक-कल्याण-मूलक घटनाओं और वस्तुओं का विन्यास बिल्कुल दूसरी बात है। शुक्ल जी ने प्रेम के लोक-जीवन में व्याप्त होने और कर्मप्रेरक होने का जो प्रसंग उठाया था वह दूसरे प्रकार के चित्रण में। हम ऊपर कह आये हैं कि 'सूर' का उद्देश्य

---

१. सूरदास, पृ० १०१।
२. वही, पृ० १५३।

दूसरे प्रकार के चित्रण से सिद्ध नहीं होता। परन्तु लीलामय भगवान् के प्रेममय स्वरूप को व्रज के लोक-जीवन की सहज स्वाभाविक परिस्थितियों में रख कर उसके अलौकिक रूप का जो लौकिक साक्षात्कार 'सूर' ने कराया है उसे उठाकर व्यावहारिक जीवन से अलग नहीं फेंका जा सकता। मध्यकालीन व्रज-मण्डल के ग्रामीण जीवन की जितनी विविधतापूर्ण, स्वाभाविक और मनोरम झाँकी 'सूरसागर' में मिलती है उतनी अन्यत्र कहाँ मिल सकती है ? गोचारण का व्यापार मध्यकालीन व्रज-संस्कृति और सभ्यता का मुख्य प्रतीक था। बाल और यौवन वृत्तियों के विस्तार के लिए जितना स्वस्थ और व्यापक वातावरण इस क्षेत्र में उपलब्ध हो सकता था उतना और कहीं नहीं। 'सूर' ने इस व्यापार की विभिन्न स्थितियों का इतना मार्मिक और सच्चा चित्रण किया है कि सारे प्रसंग को भगवान् की अलौकिक लीला का चित्रण कह कर नहीं टाला जा सकता। बीच-बीच में ऐसे प्रसंग अवश्य आए हैं जिनमें लीला सामाजिक मर्यादा और जागतिक सम्बन्धों से ऊपर उठी हुई दिखती है, लेकिन ऐसे प्रसंगों की संख्या अत्यन्त अल्प है। 'सूर' को व्रजभूमि से अत्यन्त अनुराग था। उन्होंने अपने आपको कृष्ण और राधा पर ही न्यौछावर नहीं किया, मुरली और रास के प्रति ही आत्म-समर्पण नहीं किया अपितु व्रजभूमि पर भी अपनी काव्य-प्रतिभा का मस्तक झुका दिया। यमुना के कछार और करीलकुंज तथा उनमें चरने वाली गायें और उनमें क्रीड़ा करते हुए गोप-ग्वाले 'सूर' के अनेक पदों में बार-बार सजीव हो उठे हैं। जो कवि अपने देश के भूभाग के प्रति इतना अनुराग और श्रद्धा प्रकट करता है वह अगर सच्चा देशप्रेमी नहीं तो और क्या है ? यह तथ्य स्वयं शुक्ल जी के दिये हुए प्रमाण से सिद्ध हो जाता है। 'मेघदूत' के प्रसंग में वे कह चुके हैं कि उसमें भारत के सबसे सरस हृदय कवि का देश-प्रेम ही व्यक्त हुआ है। ऐसा व्यक्ति अपने देश-प्रेम को प्रदर्शित करने के लिए इधर-उधर सभा-समितियों का संगठन करे अथवा नहीं, उनके लिए चन्दा इकट्ठा करता फिरे या नहीं, देश के निवासियों की आमदनी और खर्च का औसत निकाले अथवा नहीं, शुक्ल जी की दृष्टि में सच्चा देश प्रेमी है।[1] क्या इसी कसौटी पर 'सूर' का व्रज-प्रेम देश-प्रेम नहीं बनता, और क्या वे इस प्रकार अत्यन्त सरस हृदय लोकोन्मुख कवि के रूप में नहीं देखे जा सकते। वस्तुतः सिद्धावस्था को लेकर चलने वाले काव्यों में लोकप्रेम और देश-प्रेम की अभिव्यक्ति अधिक कलात्मक और गहरे स्तर पर ही हो सकती है जैसे 'मेघदूत' और 'सूरसागर' में, उसमें 'चन्दा इकट्ठा करने वाली' गोचर प्रत्यक्षता और स्थूलता तो आ ही नहीं सकती और न आनी चाहिए। शुक्ल जी अगर 'मेघदूत' वाली दृष्टिभंगी से ही 'सूर' के प्रेम के इस पक्ष का उद्घाटन करते तो उसके लोकपक्ष का सही चित्र हमारे सामने आ जाता। उन्होंने 'सूर' द्वारा वर्णित अनेक ऐसे मार्मिक छन्दों को अर्थगर्भित टिप्पणियों के साथ अपनी आलोचना में उद्धृत किया है जिनमें

---

१. रस-मीमांसा, पृ० १२।

लोक-जीवन का वैचित्र्यपूर्ण चित्र है, परन्तु उसके पीछे निहित इस सिद्धान्त का विवेचन वे नहीं कर सके।

'सूर' के प्रेमवर्णन को लेकर एक और विचारणीय प्रश्न खड़ा किया गया है। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने इस ओर संकेत किया है कि सूरसाहित्य को भक्ति-मूलक मानना तथा बिहारी आदि रीतिकालीन कवियों के प्रेम-वर्णन को केवल शृंगार-मूलक कहना उचित और प्रामाणिक नहीं। उनकी दृष्टि में यदि 'सूर' आदि कवि कृष्ण और राधा के वर्णन में मर्यादा की सीमा का उल्लंघन करते हैं और रीतिकालीन शृंगारिक कवियों के अत्यन्त निकट जा पहुँचते हैं तो दोनों का मूल प्रेरक भाव एक ही होना चाहिए—चाहे उसे लौकिक प्रेम कहें या अलौकिक और इसीलिए दोनों प्रकार के कवियों के लिए अलग-अलग कोटियाँ निर्धारित नहीं हो सकतीं। इसके अतिरिक्त बाजपेयी जी ने यह भी कहा है कि " 'सूर-सागर' की पुरानी प्रतियों में नायिका भेद के शीर्षक देकर पद लिखे हुए हैं, अतः 'सूर' को नायिका-भेद की पद्धति पर चलने वाला कवि ही मानना चाहिए।"[1] अन्य आलोचकों की भाँति आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी भक्त और रीतिकालीन शृंगारी कवियों की अलग-अलग कोटियाँ निर्धारित की हैं। इसका उचित समाधान हिन्दी के प्रसिद्ध प्रगतिशील आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा ने यह कहकर किया है कि शुक्ल जी ने दोनों प्रकार के कवियों का भेद मूलतः लोक-संस्कृति और दरबारी संस्कृति के आधार पर किया है।[2] इसके अतिरिक्त शुक्ल जी ने एक विभेदक कारण और दिया है जिसका स्पष्ट उल्लेख 'सूर की आलोचना' में हुआ है। 'सूर' के शृंगार-वर्णन की प्रशंसा करते हुए वे लिखते हैं कि "उनकी उमड़ती हुई वाग्धारा उदाहरण रचने वाले कवियों के समान गिनाए हुए संचारियों से बंधकर चलने वाली नहीं थी।"[3] और आगे चलकर लिखा है कि "पीछे देव कवि ने एक 'अष्टयाम' रचकर प्रेमचर्य्या दिखाने का प्रयत्न किया, पर वह अधिकतर एक घर के भीतर के भोग-विलास की कृत्रिम दिनचर्य्या के रूप में है। उसमें न तो वह अनेकरूपता है, न प्राकृतिक जीवन की वह उमंग।"[4] बँधी हुई लीक पर चलने वाले और उदाहरण रचने वाले कवियों की शृंगार-मूलक रचनाएँ उक्त कारणों से ही सूरदास की परम्परा से अलग हैं। अतः यदि 'सूरसागर' की पुरानी प्रतियों में 'नायिका भेद' के शीर्षक से कुछ पद प्राप्त होते हैं तो उसका यही अर्थ नहीं लिया जा सकता कि उन पदों की रचना में रीतिकालीन दृष्टि का उपयोग किया गया है। कवि के विवक्षित भाव और उनका मर्ममधुर स्वाभाविक प्रवाह इस बात को सिद्ध करता है कि काव्य रचना के परिपक्व क्षणों में उसकी प्रतिभा के ऊपर किसी रूढ़ि का अंकुश

---

१. महाकवि सूरदास, पृ० १३८।
२. आचार्य शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० ८९।
३. सूरदास, पृ० १५०।
४. वही, पृ० १६४।

नहीं था। दूसरा प्रश्न है भक्त और अभक्त होने का। सूरदास प्रारम्भ से ही भक्तों की कोटि में रखे गये हैं। यह सभी जानते हैं कि कवि या साहित्यकार के रूप में मध्यकालीन जनता ने उन्हें स्वीकृति नहीं दी। लेकिन इस बात का प्रमाण क्या है कि बिहारी जैसे कवि भक्त नहीं थे। कवियों के व्यक्तिगत जीवन से इसका कुछ आभास मिल सकता है और इसका पूर्ण परिचय तो उनका साहित्य ही दे सकता है। परन्तु यह ध्यान में रखना है कि इस प्रश्न का व्यावहारिक समाधान ही दिया जा सकता है सैद्धांतिक नहीं। तात्त्विक या सैद्धांतिक रूप से प्रत्येक आस्तिक व्यक्ति में भक्तिमूलक चेतना हो सकती है और यदि वह सगुण ईश्वर में विश्वास रखता है तो उसके मुँह से अवतारी भगवान् के किसी न किसी रूप की प्रशंसा अवश्य निकल पड़ेगी, परन्तु केवल इसी आधार पर भक्ति-आन्दोलन के साथ उसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता।

रीतिकालीन कवियों में भक्ति के जो बिखरे छन्द दिखाई पड़ते हैं वे मात्रा में इतने कम हैं और उनमें आत्म-समर्पण-मूलक भावना एवं तन्मयता का इतना अभाव है कि 'सूर' आदि के पदों से उस कविता को अलग रखना ही तर्क-संगत है।

'सूर' की आलोचना में शुक्ल जी की प्रत्यालोचना का रूप भी दिखाई पड़ता है। वे आलोचकों के उन 'इल्जामों' का उल्लेख करते हैं जो तुलसी पर लगाये गये हैं किन्तु जिनसे सूरदास बरी किये गये हैं। एक इल्जाम मिश्रबन्धुओं का यह था कि तुलसी बार-बार राम के ईश्वरत्व की ओर संकेत करते रहते हैं। और "यह बात ऐसे भौंडे प्रकार से भी वे सैकड़ों बार स्मरण दिलाते हैं कि जी उकता उठता है और यह जान पड़ता है कि गोस्वामी जी पाठक को इतना बड़ा मूर्ख समझते हैं कि कितने ही बार याद दिलाने पर भी वह राम का ईश्वरत्व भुला देगा.....। यह बात सूरदास जी में नहीं है।"[1]

शुक्ल जी तुलसी के पक्ष को स्पष्ट करते हुए इसका उत्तर देते हैं कि 'मानस' में श्रोता-वक्ता का ध्यान आकर्षित करने के लिए, और कथा-प्रवाह में डूबे हुए पाठकों को भगवान् के 'अवतारत्व' का बोध कराने के लिये ही तुलसीदास राम के ईश्वरत्व का संकेत देते हैं, जो अत्यन्त स्वाभाविक एवं आवश्यक है। 'सूर' को याद दिलाने की आवश्यकता इसलिये नहीं पड़ती कि वे बराबर 'हरि' 'जनार्दन' आदि शब्दों का प्रयोग करते रहते हैं।

इस समाधान से हमारी परितृप्ति आज नहीं होती। वास्तव में इसकी आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती, क्योंकि इस आधार पर 'तुलसी' और 'सूर' के काव्य में किसी प्रकार का भेद स्थापित करना सर्वथा असंगत है। भगवान् की ओर संकेत दोनों महाकवियों में है और पर्याप्त मात्रा में है। उनके काव्य की मूल प्रेरणा ही भक्ति है, फिर यदि वे ईश्वर की ओर बार-बार संकेत करते हैं तो इसमें बुराई ही

---

१. 'सरस्वती', भाग ११, सं० ५, पृ० १९९।

क्या है ? इसलिए आक्षेप और उसका उत्तर—दोनों अनावश्यक प्रतीत होते हैं। उसी प्रकार यह कहना कि 'सूर' अपनी गोपियों से कृष्ण के लिये 'काले'-'कुटिल' आदि शब्दों का व्यवहार करा लेते हैं किन्तु तुलसी डर के कारण ऐसा नहीं करा पाते और इस पर से यह निष्कर्ष निकाल लेना कि 'सूर' निर्भीक हैं, और तुलसीदास चाटुकार, युक्ति-संगत नहीं माना जा सकता। मिश्रबन्धुओं ने इससे मिलती-जुलती बात कही थी।[1] उसका खंडन करने के लिए शुक्ल जी ने लक्षणा-व्यंजना वाले तर्क का आयोजन किया। आज यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि गोपियाँ यदि कृष्ण को 'काला' और 'कुटिल' कहती हैं तो उनका वास्तविक प्रयोजन क्या रहता है।

यह बहुधा कहा जाता है कि 'सूर' की आलोचना में शुक्ल जी को अधिक उदार होना चाहिए था। यह बात सत्य है। सूरदास को यथोचित सहानुभूति उनसे नहीं मिली। इसका एक कारण तो यह बताया जाता है कि प्रेम के जिस लोक-कल्याण-कारी स्वरूप और भगवान् के शील-शक्ति-सौंदर्य-समन्वित जिस लोक-रक्षकस्वरूप का आदर्श वे काव्य में प्राप्त करना चाहते थे वह 'तुलसी' में मिला किन्तु 'सूर' में नहीं। वास्तव में भाव-योग का संपूर्ण सिद्धान्त जिसकी व्याख्या अन्यत्र की जा चुकी है, 'सूरसागर' के ऊपर लागू होकर लगभग उन्हीं निर्णयों तक पहुँचा सकता है जो शुक्ल जी ने निकाले हैं। लोकवाद तो उसी सिद्धान्त का एक पूरक अंग है जिसका आधार लेकर उन्होंने सूर-साहित्य की सीमा का विवेचन किया है किन्तु 'सूर' के प्रति उनकी अनुदारता इससे व्यक्त नहीं होती। वास्तव में शुक्ल जी से पहले आलोचकों ने 'तुलसी' की निन्दा अथवा 'सूर' की प्रशंसा में जो कुछ कहा था उस का प्रभाव, उनके उक्त दृष्टिकोण में दिखाई पड़ता है। ऊपर हमने मिश्रबन्धुओं के दो आक्षेपों का उल्लेख किया है। ऐसे निष्कर्ष अन्य आलोचकों ने भी निकाले थे। शुक्ल जी इन आक्षेपों का निराकरण करने में ही अधिक कठोर हो गये हैं। तुलसी पर उनकी श्रद्धा थी, यह भी सिद्ध बात है—उनके पक्ष का समर्थन करने में ही प्रकारांतर से 'सूर' की कुछ विशेषताओं को आँखों से ओझल भी कर गये। आलोचकों का उत्तर देने के जोश में वे कवियों के महत्त्व को ही घटा गये। जहाँ-जहाँ उनकी आलोचना का यह 'लड़ाकू' रूप प्रकट हुआ है वहाँ-वहाँ यह बात साफ दिखाई पड़ती है।

यह पूछा जा सकता है कि एक युग-निर्माता समीक्षक के भीतर इतनी क्षुद्र संकीर्णता और खण्डन की इतनी आतुरता का होना क्या अनुचित नहीं है ? इसके उत्तर में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि राग-मुक्त समीक्षण सब समय संभव नहीं होता। यदि व्यक्ति अपने किसी सिद्धान्त के निर्माण और रक्षा में तत्पर है तो किसी-न-किसी के विचारों से उसका संघर्ष अवश्य होगा और तब उत्तेजना के लिये अवसर अवश्य निकल आयेगा, क्योंकि व्यक्ति अंततः व्यक्ति ही है।

---

२ सरस्वती, भाग ११, सं० ५, पृ० २०४।

जायसी की आलोचना

आचार्य शुक्ल द्वारा संपादित जायसी-ग्रन्थावली सन् १९२३ में प्रकाशित हुई। उसकी भूमिका के रूप में उन्होंने एक विस्तृत समीक्षात्मक प्रबन्ध भी जोड़ दिया जिस में जायसी के काव्य की सांगोपांग विवेचना की गई थी। यह सत्य है कि जितनी तन्मयता, लगन और निष्ठा के साथ शुक्ल जी ने जायसी की आलोचना लिखी उतनी तन्मयता से और कवियों की नहीं। जायसी का अध्ययन अनेक दिशाओं में आगे बढ़ता चला गया है और उनकी साधना पद्धति और सूफी भावना का पर्याप्त विश्लेषण हो चुका है। किन्तु शुक्ल जी की रसान्वेषिणी दृष्टि ने 'पदमावत' के वास्तविक सौंदर्य का जो निरूपण किया, वह अब तक सर्वमान्य है। जायसी के दर्शन और सिद्धान्त के सम्बन्ध में हमारी जानकारी आज बहुत बढ़ गई है किन्तु काव्य-रस का आस्वादन करने में हम लगभग उसी स्तर पर हैं जहाँ शुक्ल जी हम को छोड़ गये थे। उनके प्रभावशाली आलोचक व्यक्तित्व का यह प्रबल प्रमाण है।

जायसी-ग्रंथावली की भूमिका के प्रकाशित होने के पूर्व भी हिन्दी आलोचना में 'पदमावत' आदि ग्रन्थों की चर्चा होती रहती थी और जायसी के प्रति अपनी श्रद्धा प्रायः सभी आलोचक समर्पित किया करते थे, किन्तु उनकी समीक्षा में विवेचन की गहराई नहीं रहती थी। इसलिये पाठकों के समक्ष कृति का संपूर्ण गौरव प्रकट नहीं हो पाता था।

ग्रियर्सन महोदय ने अपने इतिहास में 'पदमावत' के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए एक ओर उसकी कठिनाइयों की ओर संकेत किया और दूसरी ओर उसके काव्य-सौंदर्य की ओर भी ध्यान दिलाया—

"I do not know a work more deserving of hard study than the Padmavat. It certainly requires it, for scarcely a line is intelligible to the ordinary scholar.....But it is well worth any amount of trouble both for its originality and for its poetical beauty."[१]

आगे चलकर 'पदमावत' के महत्त्व को पहचानते हुए मिश्रबन्धुओं ने भी लिखा—

"इतने भिन्न विषयों को समुचित प्रकार से सफलतापूर्वक कहना किसी साधारण कवि का काम नहीं है।.....सिवा स्वाभाविक कवियों के और किसी में यह गुण नहीं पाया जाता।.....जायसी ने रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा आदि अच्छी कही हैं और अपने ग्रन्थ में उचित स्थान पर सदुपदेश भी दिए हैं।"[२]

---

१. *The Modern Vernacular Literature of Hindustan.*
—G. A. Grierson, 1889, p.15.

२. मिश्रबन्धु-विनोद, भाग १, पृ० २८०-२८१।

किन्तु कवि के महत्त्व को पहचानना एक बात है और उसका उचित मूल्यांकन करना बिल्कुल दूसरी बात। जायसी का महत्त्व पुराने आलोचकों ने पहचाना अवश्य परन्तु उनकी वास्तविक व्याख्या वे न कर सके।

'पदमावत' की समीक्षा में शुक्ल जी ने प्रारम्भ से ही यह ध्यान रखा है कि वह एक प्रबन्ध काव्य है, और इसीलिए प्रबन्ध काव्य के मूल तत्त्वों के आधार पर उस के गुण दोषों की छानबीन की है। 'रामचरित मानस' के लिए भी ये सर्वत्र 'प्रबन्ध-काव्य' शब्द का ही प्रयोग करते हैं, 'महाकाव्य' का नहीं। अतएव डाक्टर शंभुनाथसिंह का यह कथन कि शुक्ल जी ने 'पदमावत' को कहीं महाकाव्य नहीं कहा, केवल प्रबन्ध-काव्य ही माना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। शुक्ल जी के इस कथन का यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि वे 'पदमावत' का महाकाव्यत्व अस्वीकार करते हैं, जैसा डाक्टर साहब ने निकालना चाहा है।[1] वास्तव में वे प्रबन्ध की व्यापकता में महा-काव्य को भी सम्मिलित कर लेते हैं।

'पदमावत' की कथा की संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत करने के उपरांत वे उसकी प्रेम-पद्धति का निरूपण करते हैं। काव्य-परंपरा में स्वीकृत प्रेम-वर्णन की प्रणालियों को वे चार वर्गों में बांट देते हैं, और 'पदमावत' की प्रेम-पद्धति को उस चौथे वर्ग में रखते हैं जिसमें गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन आदि से नायक के भीतर 'राग' का उदय दिखाया जाता है। प्रेम के इस रूप को शुक्ल जी स्वाभाविक नहीं समझते और इसे प्रारम्भ में लोभ-मात्र ही समझते हैं। 'रतनसेन' का प्रारम्भिक 'राग' केवल 'लोभ' ही है। उसी प्रकार पूर्वराग को भी वे बहुत ऊँचा स्थान नहीं देते। उनकी दृष्टि में केवल विवाह के उपरान्त विकसित होने वाला गार्हस्थिक लोकपक्षीय प्रेम ही आदर्श प्रेम है। बाल्मीकि रामायण में ही उन्हें इस प्रेम का परम समुज्ज्वल रूप दिखाई पड़ा था, कदाचित् इसीलिए उस ग्रन्थ को वे आर्य-काव्य का आदर्श मानते थे। शुक्ल जी का यह विचार जायसी की समीक्षा लिखने के लगभग २० वर्ष पूर्व प्रकट हो चुका था जब अपनी कहानी में गार्हस्थिक प्रेम की महत्ता बताते हुए उन्होंने कहा था कि "इस अदृष्ट प्रेम का धर्म और कर्तव्य से घनिष्ठ संबंध है। उसकी उत्पत्ति केवल सदाशय और निःस्वार्थ हृदय में ही हो सकती है। इसकी जड़ संसार के और प्रकार के प्रचलित प्रेमों से दृढ़तर और अधिक प्रशस्त है।"[2] उनके ये विचार काव्य-विवेचन में सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं। जायसी के 'पदमावत' में भी, यदि दाम्पत्य-प्रेम की मनोहर झलक न आ जाती और केवल सूफी-शैली पर ही उसका महत्त्व दिखलाने का प्रयास किया जाता तो शुक्ल जी उसकी सराहना नहीं कर पाते। 'पदमावत' की प्रेम-पद्धति से वे सर्वांश में सहमत नहीं हैं। कम-से-कम उसका प्रारंभिक रूप उन्हें अवश्य खटका है किंतु उस का एकांतिक न होना उन्हें रुचिकर लगा—

---

१. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास—डाक्टर शंभूनाथ सिंह, पृ० ३९७।

२. 'सरस्वती' भाग ४, पृ० ३१६।

"जायसी एकांतिक प्रेम की गूढ़ता और गंभीरता के बीच-बीच में जीवन के और अंगों के साथ भी उस प्रेम के संपर्क का स्वरूप कुछ दिखाते गए हैं इससे उन की प्रेम-गाथा पारिवारिक और सामाजिक जीवन से विच्छिन्न होने से बच गई है।"[1]

यदि, जायसी के स्थान पर कोई मुक्तककार सूफ़ी कवि शुक्ल जी के समक्ष आ जाय तो वे सचमुच उसकी क़द्र नहीं कर सकते। पं० नन्ददुलारे बाजपेयी का यह कहना ठीक ही है कि हाफ़िज़ रूमी या शेखसादी जैसे बड़े-बड़े कवि भी उन्हें अच्छे नहीं जचेंगे।[2] कारण यह है कि इन कवियों में प्रेम के उस लोकपक्षीय स्वरूप का चित्रण नहीं मिल सकता जो शुक्ल जी का प्रतिष्ठित आदर्श था। लेकिन फ़ारसी के मुक्तककार कवियों तक ही यह बात सीमित नहीं है। शुक्ल जी के विचार से तो "फ़ारसी की मसनवियों का प्रेम एकांतिक, लोक-बाह्य और आदर्शात्मक (आइडियलिस्टिक) होता है।"[3] इससे प्रतीत होता है कि उनके विरोध का कारण मुक्तक या प्रबन्ध की शैली मात्र नहीं है। वे प्रेम-पद्धति के मूल प्रश्न पर ही मतभेद रखते हैं। यदि जायसी ने मसनवियों की परम्परा का हू-ब-हू पालन किया होता तो कदाचित् शुक्ल जी की श्रद्धा उनके प्रति बहुत घट जाती।

प्रेम के लोक-पक्षीय स्वरूप का विवेचन करने में शुक्ल जी अत्यन्त आनन्द का अनुभव करते थे। चुने हुए मार्मिक उद्धरणों को लेकर उनका विस्तृत निदर्शन जितनी सफलता के साथ वे कर सकते थे, उतनी सफलता के साथ कम ही आलोचक कर पायेंगे। जायसी द्वारा चित्रित प्रेम के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग की बड़ी रमणीय व्याख्या उन्होंने की है। नागमती के वियोग-वर्णन को पढ़कर उनका चित्त द्रवित हो गया है। बहुत विचार करने के बाद भी उनके लिए इस बारहमासे के "सौन्दर्य का बहुत कुछ हेतु अनिर्वचनीय ही रह जाता है।"[4] लेकिन प्रेम, उत्साह, क्रोध आदि का जो कुछ निर्वचन शुक्ल जी ने किया वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और हिन्दी साहित्य के लिए अमूल्य उपहार है। सभी रसों तक जायसी की पहुँच नहीं है इसलिए शुक्ल जी की भाव-मीमांसा भी सीमित ही है।

भाव-तत्त्व के विश्लेषण के साथ-साथ काव्य के रचनात्मक उपादानों का भी इस प्रकरण में उन्होंने बड़ा विस्तृत निरूपण किया। तुलसी की आलोचना में भी इन प्रसंगों का इतना अधिक विस्तार नहीं दिखाई पड़ता। इसका कारण यह जान पड़ता है कि जायसी अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध कवि थे और उनकी रचना का वास्तविक सौन्दर्य अधिकांश पाठकों के लिए अगोचर ही था। इस विस्तृत मीमांसा में कोई

१. जायसी-ग्रंथावली, पृ० ३०।
२. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६६।
३. जायसी ग्रन्थावली, पृ० २९।
४. जायसी ग्रन्थावली, पृ० ४४।

चीज़ छूटने नहीं पाई। सिद्धान्त और दर्शन पर एक ओर और जायसी की भाषा पर दूसरी ओर, बड़े गम्भीर विचार प्रकट किये गये हैं। इस सर्वांगपूर्ण समीक्षा में काव्य के 'रूप' और 'वस्तु' पक्ष की इतनी बारीक छानबीन हुई है कि यह भूमिका हिन्दी आलोचना का उत्कृष्टतम प्रमाण बन गई है। शुक्ल जी की आलोचना का पूर्ण वैभव इस भूमिका में ही दिखाई पड़ता है।

'छायावाद' का विवेचन

विरोध या संशोधन ?

छायावादी काव्य-धारा को आचार्य शुक्ल ने अपनी सहानुभूति नहीं दी, ऐसा अनेक आलोचकों ने कहा है। वे उसके विरोधी थे, यह भी सिद्ध किया जाता है। लेकिन इस बात पर बल नहीं दिया जाता कि उसके कुछ तत्त्वों की उन्होंने पर्याप्त हिमायत की है। छायावादी कविता की कुछ चुनी हुई त्रुटियों का विरोध ही शुक्ल जी करते रहे, उसकी कुछ प्रवृत्तियों के प्रति वे असहिष्णु भी थे। आगे चलकर, जब नूतन काव्य-धारा का रूप निखर आया और उसने पाठकों के हृदय पर सिक्का जमा लिया, तब उन्होंने उसके साथ लगभग समझौता-सा कर लिया :—

"छायावाद का रूप-रंग बनाकर आजकल जो बहुत-सी कवितायें निकली हैं, उनमें कुछ तो बहुत ही सुन्दर, स्वाभाविक और सच्ची रहस्यभावना लेकर चली हैं, कुछ वाद-ग्रस्त और कृत्रिम हैं और अधिकांश कुछ भी नहीं है। शुद्ध काव्य-दृष्टि का प्रचार हो जाने पर पूर्ण आशा है कि कूड़े-करकट के ढेर में से सच्ची स्वाभाविक रहस्य-भावना अपना मार्ग अवश्य निकाल लेगी और हिन्दी काव्य-क्षेत्र की यह शाखा भी अपनी एक स्वतन्त्र भारतीय विभूति का प्रकाश करेगी।"[1]

आचार्य ने इस नई काव्यधारा के प्रति ऐसी आशा बाँधकर ही नये कवियों से अत्यन्त 'प्रेमपूर्वक' तीन बातों का अनुरोध किया।[2]

(१) "पहली बात तो यह कि 'वाद' का साम्प्रदायिक पथ छोड़कर, अपनी सब विशेषताओं के सहित, प्रकृत काव्य-भूमि पर आयें जिस पर संसार के बड़े-बड़े कवि रहे हैं और हैं।"

(२) "दूसरी बात यह कि अनुकरण के लिए वे बंगला, अंग्रेजी आदि दूसरी भाषाओं की ओर ताकना बिल्कुल छोड़ दें और अपनी भाषा की स्वाभाविक शक्ति से पूरा काम लें।"

(३) 'तीसरी बात है लाक्षणिक प्रयोगों में सावधानी।' ऊपर के उदाहरणों को देखने से विदित हो जाता है कि शुक्ल जी ने एक हितैषी आचार्य की भाँति नई पीढ़ी का पथ प्रदर्शन ही किया है। उनके सुझावों में ईमानदारी और सहानुभूति भी

---

१. चिं०, भाग २, पृ० १५२।
२. वही, पृ० १४८-१४९।

है। दूसरी ओर ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं जिनमें नये कवियों की कठोर आलोचना की गई हो और किसी एक त्रुटि को लक्ष्य करके उन पर क्रूर व्यंग्य किए गये हों। आचार्य के इन दोनों प्रकार के व्यवहारों को देखकर ऐसा लगता है जैसे एक सजग पिता अपने पुत्र का लालन-पालन तो करता हो किन्तु कोई गलती करने पर क्षमा करना न जानता हो। उसे जरूरत से ज्यादा दुलार भी न देता हो जिससे आगे चलकर लड़का बिगड़ जाय। उनके साथ छायावादी काव्य का सम्बन्ध बहुत कुछ इसी प्रकार का है।

आचार्य शुक्ल ने छायावादी कविता के शैशव और यौवन दोनों देखे। उसके विकास के समानान्तर ही उनका दृष्टिकोण भी बदलता चला गया, किन्तु छायावाद की जिन विशेषताओं को उन्होंने प्रारम्भ में ही लक्षित किया, उनका निरूपण अन्त तक करते रहे। उस कविता के भीतर वे विशेषतायें सचमुच थीं।

छायावादी कविता के विषय में शुक्ल जी के विचार सर्वप्रथम, 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तक में प्रकाशित हुए जो सन् १९२८ में छपी थी। तब तक 'पल्लव' प्रकाशित हो चुका था और उसकी भूमिका जो सचमुच छायावाद का घोषणा-पत्र कहला सकती है, सामने आ चुकी थी। उससे पहले नयी काव्यधारा का विश्लेषण एकाध निबन्धों में ही हुआ था। सबसे पहला निबन्ध श्री मुकुटधर पांडेय का माना जाता है जो सन् १९२० ई० में 'श्री शारदा' नाम की पत्रिका में प्रकाशित हुआ था।[1] मुकुटधर जी के निम्नांकित वाक्यों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन आलोचकों की छायावाद-सम्बन्धी धारणायें क्या थीं।[2]

"अंग्रेजी या किसी पाश्चात्य साहित्य अथवा बंग-साहित्य की वर्तमान स्थिति की कुछ भी जानकारी रखने वाले तो सुनते ही समझ जायेंगे कि यह शब्द 'मिस्टिसिज़्म' के लिए आया है।"

"प्राकृतिक दृश्य और घटनायें सांकेतिक रूप से अदृश्य तथा अव्यक्त के प्रकाशन में सहायता पहुँचाती हैं।"

"छायावाद की आवश्यकता हम इसीलिए समझते हैं कि उससे कवियों को भाव-प्रकाशन का एक नया मार्ग मिलेगा।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि उस समय तक नई कविता की रूप-रेखा उभर कर सामने नहीं आई थी—अधिकतर उसकी अस्पष्टता एवं दुरूहता की ही चर्चा हुआ करती थी। ऐसी अवस्था में पाण्डेय जी के उक्त निष्कर्ष बड़े महत्त्व के हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि इन निष्कर्षों के आधार पर शुक्ल जी ने छायावाद को समझा किन्तु इतना साफ दिखाई पड़ता है कि नयी काव्यधारा के सम्बन्ध में उनके लगभग

---

१. 'छायावाद' (श्री नामवर सिंह), पृ० ९।

२. वही, पृ० ९-१०।

वही विचार हैं जो पाण्डेय जी के। छायावादी कविता की विषय-वस्तु के रूप में ही उन्होंने रहस्य-भावना को देखा था, लेकिन रहस्यवाद का विश्लेषण करने के पूर्व 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' (१९२३) नामक निबन्ध वे 'माधुरी' में लिख चुके थे। उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्रकृति-चित्रण की एक विशिष्ट प्रणाली थी जिसकी अवहेलना नई काव्य-धारा में हो रही थी। इस लेख का ज़िक्र छायावाद के प्रकरण में होना आवश्यक है। यद्यपि इसमें नये आन्दोलन का नाम कहीं नहीं आया और न उसके अन्तर्गत होने वाले प्रकृति-चित्रण का ही कहीं स्पष्ट उल्लेख है तथापि इसके प्रकाशन काल को देखने ही से जान पड़ता है कि नई कविता के प्रकृति-चित्रण को देखकर ही शुक्ल जी को उद्दीपन रूप में किया गया पुराना चित्रण याद हो आया। उन्होंने जब आलम्बन रूप में किये गये चित्रण की सराहना की तब छायावादी कविता का ध्यान भी उन्हें अवश्य रहा होगा। उन्होंने नूतन काव्यधारा के भीतर स्वतन्त्र संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण का अभाव आगे चलकर भी देखा। यह असंभव है कि सन् १९२३ तक आते-आते वे इस अभाव को न भाँप चुके हों। निबन्ध के कुछ वाक्य इतने सांकेतिक हैं कि एक ओर तो वे उद्दीपन रूप में वर्णित प्राचीन प्राकृतिक दृश्यों की ओर इंगित करते हैं और दूसरी ओर नये कवियों को भी इस प्रकार की अलंकृति से बचते रहने की चेतावनी देते हैं। निम्नांकित वाक्य ऐसे ही हैं :—

"साधारण के बीच में यथास्थान असाधारण की योजना करना सहृदय और कला-कुशल कवि का ही काम है। साधारण-असाधारण अनेक वस्तुओं के मेल से एक विस्तृत और पूर्ण चित्र संघटित करने वाले ही कवि कहे जाने के अधिकारी हैं। साधारण के बीच में ही असाधारण की अभिव्यक्ति हो सकती है।"[१] उक्त वाक्यों में 'असाधारण' शब्द द्वारा छायावाद के रहस्यमय परोक्ष संकेतों की ओर भी इंगित किया गया है।

छायावादी कविता की वैयक्तिकता को भी आचार्य शुक्ल जी ने, कुछ अस्पष्ट रूप में ही सही, उसी समय लक्ष्य किया था। उसको उन्होंने अहंकार का ही एक रूप समझा जिसका विसर्जन सच्चे कवियों के लिए अनिवार्य है।

'जब तक इस अहंकार से पीछा न छूटेगा तब तक प्रकृति के सब रूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते। खेद है कि फारस की उस महफिली शायरी का कुसंस्कार भारतीयों के हृदय में भी इधर बहुत दिनों से जम रहा है।"[२]

ऊपर के उदाहरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि उन्होंने छायावाद की उभरती हुई काव्यधारा की एक प्रवृत्ति—उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण और उसके माध्यम से अज्ञात की ओर संकेत—का प्रारम्भ में ही विरोध किया था। आगे चल

---

१. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ६।

२. वही, पृ० ७।

कर जब वे आलम्बन-रूप में प्राकृतिक दृश्यों को देखने दिखाने का विशेष आग्रह करने लगे तब यही विरोध अधिक स्थूल और प्रत्यक्ष हो गया।

'काव्य में रहस्यवाद' नामक जिस निबन्ध का उल्लेख ऊपर किया है वह लगभग पाँच वर्ष बाद लिखा गया। तब तक केवल नयी कविता का रूप ही नहीं निखर चुका था अपितु उसके सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा-सुना भी जा चुका था। शुक्ल जी की दृष्टि में वह कहा-सुना' अधिकांश ऊटपटांग या 'बेसिर पैर' का था। उन्होंने अपने निबन्ध के लिखने का उद्देश्य ही यह बताया कि नई काव्य-धारा के सम्बन्ध में फैली हुई भ्रांत धारणाओं का खण्डन किया जाय।[1] आचार्य शुक्ल अपने उद्देश्य में सफल हुए अथवा नहीं, यह एक अलग प्रश्न है किन्तु छायावाद और रहस्यवाद की अनेक त्रुटियों का दिग्दर्शन उन्होंने अवश्य कराया। छायावाद की वास्तविक विषय-वस्तु से रहस्यवाद का क्या और कैसा सम्बन्ध था, यह विवेचन यहाँ प्रकरण-प्राप्त नहीं, केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि असीम और अज्ञात के प्रति बार-बार संकेत करते रहने की प्रवृत्ति तत्कालीन कवियों में बहुत थी। अज्ञात के प्रति प्रेम या लालसा की अभिलाषा एक प्रकार से तत्कालीन काव्य-धारा का 'फैशन' बन गई थी। शुक्ज जी के निबन्ध का अधिकांश भाग इस 'फैशन-परस्ती की निन्दा में ही लग गया है। लेकिन अनेक समर्थ कवि मार्मिक रहस्यमय संकेतों का उदाहरण भी प्रस्तुत कर रहे थे, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। शुक्ल जी भी किसी सीमा तक इस बात को स्वीकार करते हैं। वस्तुतः किसी नये प्रभावशाली आन्दोलन के प्रवाह में बहुत सारा कूड़ा-करकट बहकर चला ही आता है। उसे प्रवाह से अलग करना प्रत्येक विचारशील प्राणी का कर्त्तव्य है किन्तु उसके ही कारण समूची काव्य-धारा का विरोध करने लगना अनुचित माना जायेगा। शुक्ल जी पर ऐसे विरोध का दोष नहीं लगाया जा सकता। उन्होंने प्रवाह को स्वच्छ बनाने का ही प्रयास किया, उसे रोकने का नहीं। यह अवश्य देखा गया कि गंदगी को दूर करने के लिए उन्हें कभी-कभी धारा के बीच में भी आ कर खड़ा होना पड़ा जिससे सशक्त तरंगों को भी अपना मार्ग बनाने में कठिनाई का अनुभव हुआ।

सन् १९३० के आसपास छायावाद के भीतर से काव्य की वस्तून्मुखी धारा फूट पड़ी। लोक-जीवन की बहुत प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति उक्त कविता में दिखाई पड़ने लगी। तब शुक्ल जी का आक्रोश कुछ कम हुआ और नई कविता के भीतर उन्हें अच्छी सम्भावनायें दिखाई पड़ीं। इन्दौर वाले भाषण और हिन्दी साहित्य के इतिहास में उनका यही सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण मिलता है। वह दबी जबान से कवियों की सराहना भी कर गये हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उग्र विरोध से प्रारम्भ करके वे छायावाद की विवेचना में, मृदुल सहानुभूति तक आ पहुँचे थे। दूसरी ओर से देखते हुए यह बात

---

१. चि०, भाग २, पृ० ४६।

यों भी कही जा सकती है कि छायावादी कविता का स्वरूप निखरते-निखरते लगभग वैसा ही हो गया जैसा शुक्ल जी किसी उच्च कोटि के काव्य के लिए आवश्यक समझते थे। वस्तुस्थिति तो यही है कि किसी सीमा तक वे छायावाद की ओर झुके अवश्य, किन्तु छायावाद स्वयं भी उनकी मान्यताओं के निकट पहुँच आया। नयी कविता उनके सिद्धान्तों के साँचे में अपने आप बैठने योग्य बन गई। उसकी रहस्यमयता कम हुई और उसके भीतर गोचरता एवं लोकवादिता का विधान हुआ। हिन्दी आलोचना में अभी तक इस प्रश्न की उपेक्षा ही की गई है कि छायावाद के भीतर घटित होने वाले इस परिवर्तन में आचार्य शुक्ल का कितना योग है। उनके विरोध का असर कहाँ पड़ा, इसका अनुसन्धान होना ही चाहिए। आखिर एक समर्थ और मान्य आचार्य की बात नयी पीढ़ी को कहीं न कहीं तो अवश्य ही प्रभावित कर गई होगी।

रहस्य की प्रवृत्ति :

छायावाद के भीतर पलने वाली जिस प्रवृत्ति का विरोध उन्होंने सबसे अधिक किया, वह है रहस्यवाद। विभिन्न दृष्टियों से विचार करते हुए उन्होंने इस प्रवृत्ति के मूल स्रोतों का पता लगाने का प्रयास किया और इसकी फैली हुई शाखा-प्रशाखाओं का भी खण्डन कर डाला। आज यह कहने की आवश्यकता नहीं कि लोक-दृष्टि से देखने पर, छायावाद का सबसे कमजोर पहलू यही ठहरता है। उसके वास्तविक सौंदर्य का अस्तित्व 'अज्ञात' और 'अगोचर' के चित्रण में नहीं ढूँढ़ा जा सकता। ध्यान से देखने पर विदित हो जाता है कि छायावाद के अधिकांश कवियों में यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर घटती चली गई और पंत, निराला आदि की उत्तरकालीन कविताओं में तो इसका लगभग लोप ही हो गया। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में अगोचर संकेतों का सर्वथा अभाव है। जो कवि इस प्रवृत्ति का परित्याग करने में सफल नहीं हुए उन्होंने इसका समुचित परिष्कार-संस्कार कर डाला जैसे 'प्रसाद' और महादेवी वर्मा ने। इस प्रवृत्ति को घटाने या रूपांतरित करने में सामयिक परिस्थितियों का बड़ा भारी योग है, यह सबको स्वीकार करना पड़ेगा। लोक-जीवन के साथ काव्य को समंजित करने का ऐसा प्रबल आन्दोलन, बीसवीं शती के चौथे दशक में उठा कि अधिकांश कवि कोमल कल्पनाओं के सुखमय लोक और आकाशचारिता का परित्याग कर वास्तविक जीवन के क्षेत्र में उतरने लगे। इसी समय प्रगतिवादी साहित्य-चिन्तन का क्रम चल पड़ने के कारण, कवियों को सुविचारित भूमि भी मिल गई। केवल कविता ही नहीं, साहित्य और जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी इस लोकवादिता का आग्रह बढ़ गया। ऐसी दशा में रहस्यमयता और अगोचरता का सम्मान कौन करता ? उसका उपहास होना ही उस समय स्वाभाविक था। 'काव्य में रहस्यवाद' नामक निबन्ध में एक ओर तो शुक्ल जी ने कविता के भीतर उस अगोचरता का तिरस्कार किया और दूसरी ओर कवियों की ईमानदारी पर कठोर व्यंग्य। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके तिरस्कार और व्यंग्य के कारण भी अनेक लोग उस पंथ से विरत हो गये होंगे। समर्थ कवि-गण

भी इन चेतावनियों से अवश्य संभले। सारा श्रेय तत्कालीन और कवियों की आंतरिक प्रतिभा को ही नहीं दिया जा सकता, उसमें आचार्य का योग अवश्य मानना पड़ेगा। जीवन की नई परिस्थितियों के साथ आचार्य का दृष्टिकोण कुछ ऐसा मिला हुआ आया कि आज दोनों के प्रभावों को अलग-अलग करके दिखाना नितान्त असम्भव है किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी कविता को रहस्यमयता और तज्जन्य दुरूहता से मुक्त करने का श्रेय आचार्य शुक्ल को भी बहुत है। इस रूप में ये छायावादी काव्य-धारा के संशोधक माने जा सकते हैं। उनके इस योगदान को स्वीकार करते हुए आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने कहा है कि "नई काव्य-प्रगति को ब्लैंक चैक न देकर शुक्ल जी ने उसके परिष्कार के कार्य में और उसके बल-संचय में, प्रकारान्तर से सहायता ही पहुँचाई।"[1]

इस रहस्यवादी प्रवृत्ति का मूल उत्स ढूंढ़ने का प्रयास उन्होंने बहुत किया, किन्तु विदेशी या विजातीय तत्त्वों के प्रभाव में ही उसे पाने का प्रयास करते रहने के कारण अपने अनुसन्धान में वे सफल न हो सके। उन्होंने ईसाइयों की रहस्योपलब्धि का प्रभाव ब्रह्म-समाज पर देखा, और ब्रह्म-समाज का प्रभाव, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के माध्यम से, हिन्दी की नई कविता पर। इसमें सन्देह नहीं कि यह सम्बन्ध-सूत्र वास्तविक है, किन्तु बात केवल इतनी ही नहीं थी। पूरी-की-पूरी पीढ़ी किसी विदेशी काव्य-धारा का अनुकरण करती चली जाय, ऐसा नहीं हो सकता। अनुकरण से भी अधिक महत्त्वपूर्ण नीचें छिपी रहने वाली कवियों की आन्तरिक प्रेरणा होती है जो रचना का मूल कारण मानी जा सकती है और जिसका जन्म कवि और जगत् के पारस्परिक संपर्क से ही हुआ करता है। ऐसे साहित्यिक आन्दोलनों का मूल उद्गम तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों में ही ढूंढ़ा जा सकता है। शुक्ल जी ने हिन्दी क्षेत्र की तत्कालीन परिस्थिति के साथ इस काव्य-धारा का सम्बन्ध नहीं जोड़ा। इसीलिए उनका विवेचन एकांगी हो गया है।

उनके विरोध का सबसे मुख्य कारण यह था कि नूतन प्रवृत्ति 'भाव-योग' नामक सिद्धान्त के विपरीत पड़ती थी। जैसा पहले बताया जा चुका है, भाव का प्रसार वे ज्ञान-क्षेत्र के भीतर ही मानते रहे और 'अज्ञात' को उन्होंने कभी लालसा या प्रेम का विषय नहीं माना। ऐसी स्थिति में, रहस्यमय संकेतों से भरी हुई कविताओं को उन्होंने मात्र आडम्बर कहा और तरह-तरह से उनका उपहास भी किया। इसमें संदेह नहीं कि उपहासास्पद कवितायें भी बहुत लिखी जा रही थीं किन्तु 'अज्ञात' की ओर सूक्ष्म संकेत करने वाली ऐसी कवितायें भी पर्याप्त मात्रा में लिखी गईं जो 'भावयोग' के अधीन मानी जा सकती हैं। उनके पढ़ने से एक प्रकार की तन्मयता और रसानुभूति होती है। कदाचित् ऐसी कविताओं को ही शुक्ल जी ने

---

१. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७२।

सच्ची रहस्य भावना से प्रेरित बताया। रहस्यवाद के इसी उन्मुक्त स्वरूप के वे समर्थक थे—सांप्रदायिक स्वरूप के नहीं। रस-शास्त्र की दृष्टि से, 'आश्चर्य' नामक भाव का रसात्मक अनुभव ऐसे ही अवसर पर हो सकता है। शुक्ल जी के प्रिय मनोवैज्ञानिक शैंड ने भी ऐसे रहस्यमय संकेतों में भाव का अनुभव और आनन्द की सत्ता स्वीकार की है। आश्चर्य के आनन्दात्मक पक्ष का विवेचन करते हुए उन्होंने बताया कि ज्ञान और दर्शन के साथ संयुक्त होकर यह तन्मयता को जन्म देता है किन्तु जब केवल भाव के रूप में जगता है तब रहस्यमय पदार्थों के प्रति मधुर सुखात्मक अनुभूति उत्पन्न करता है। उनके विवेचन से साफ प्रकट होता है कि रहस्यवादी कवियों को लक्ष्य करके ही वे यह बात कह रहे हैं। पता नहीं, शुक्ल जी ने इस प्रकरण में शैंड का उदाहरण क्यों नहीं लिया। यदि वे ऐसा कर पाते तो 'भाव-योग' के भीतर ही रहस्यवाद का समर्थन कुछ और दूर तक हो जाता।

कुछ आलोचकों का विचार है कि "भूतवाद की ओर शुक्ल जी का झुकाव अधिक होने के कारण वे जीवन की सूक्ष्म अनुभूतियों को विस्मृत करते रहे हैं।"[1] उनकी मान्यताओं का विवेचन करते हुए हम देख चुके हैं कि वे प्रत्येक अनुभूति··· चाहे उसे स्थूल कहें अथवा सूक्ष्म—का सम्बन्ध किसी ज्ञात वस्तु से जोड़ते हैं, अज्ञात को अनुभूति का विषय बनाना उन्हें कदापि मान्य नहीं। इसे हम शुक्ल जी की व्यक्तिगत रुचि कहकर टाल नहीं सकते। मनःशास्त्र से उचित समाधान और तर्क देकर ही हम उनका खण्डन कर सकते हैं। वास्तव में इस बात पर शुक्ल जी की तर्क-योजना इतनी प्रबल है कि उसके सिद्धान्त-पक्ष का खण्डन सहज में नहीं हो पाया। हम केवल सिद्धान्त के प्रयोग में ही उनसे असहमत हो सकते हैं और यह माँग कर सकते हैं कि उन्हें अधिक उदार होना चाहिए था। कोई रहस्यवादी कविता यदि हमारे भीतर सहानुभूति उत्पन्न करती है तो इसका कारण क्या है, यह पता लगाना आवश्यक है। यह समझ बैठना कि उसकी आध्यात्मिकता ही आनन्द का मूल कारण है युक्ति-संगत नहीं। वह कविता कोई-न-कोई लौकिक आधार अवश्य लिए रहती है और उसके भीतर से ही अलौकिक का यत्किंचित् अनावरण होता रहता है। लौकिक आधार ही भाव के लिए उपर्युक्त आलम्बन प्रस्तुत करता है। भाव तो सदैव सूक्ष्म ही रहेगा, किन्तु आलम्बन स्थूल-सूक्ष्म—दोनों हो सकता है। सूक्ष्म अनुभूति का तात्पर्य यदि किसी भाव से है तो 'सूक्ष्म' शब्द का क्या प्रयोजन है यह स्पष्ट नहीं होता। भाव तो मन में उत्पन्न होने वाला एक अदृश्य विकार है जिसके बाह्य लक्षण ही दृष्टिगोचर हो सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रहस्यानुभूति के पक्ष में जो तर्क दिए जाते या दिये जा सकते हैं उनसे आचार्य शुक्ल के मतवाद का खण्डन नहीं होता। सिद्धान्त रूप में उनकी बात ही ठीक जँचती है।

---

१. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २११।

छायावाद के भीतर रहस्यवाद का विरोध करते-करते वे मध्यकालीन संतों और उपनिषदों के रहस्यवाद तक भी जा पहुँचे। लेकिन यह गलती उनकी ही नहीं कही जा सकती। जब छायावाद के समर्थकों और कवियों ने उपनिषदों के तत्त्व-चिन्तन के बीच भी उस रहस्यानुभूति का आभास पाया और अपने पक्ष की पुष्टि के लिए उसकी नयी व्याख्या की तब आचार्य जैसे कुढ़ गये। भारत के भीतर ही रहस्यवाद का उद्गम ढूँढ़ा जाता देख उन्हें क्षोभ हुआ क्योंकि उनके अनुसार यह विदेशी परम्परा के प्रभावस्वरूप उत्पन्न हुआ था। भारतीय चिन्तन और भक्ति भावना के विकास का जो क्रम वे ठीक समझते थे, उसके विपरीत भी यह बात जा पड़ी। इसलिए इसका प्रतिवाद उन्होंने कई बार कई प्रकार से किया। उन्होंने लिखा—"उपनिषदों में ब्रह्म और जगत्, आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में कई प्रकार के मत हैं। वे काव्य-ग्रंथ नहीं है। उनमें इधर-उधर काव्य का जो स्वरूप मिलता है वह ऐतिह्य, कर्मकांड, दार्शनिक चिन्तन, साम्प्रदायिक गुह्य साधना, मन्त्र-तंत्र, जादू-टोना, इत्यादि बहुत सी बातों में उलझा हुआ है। विशुद्ध काव्य का निखरा हुआ स्वरूप पीछे अलग हुआ। रामायण का आदि काव्य कहलाना साफ यही सूचित करता है।"[1] रामायण से ही काव्य का प्रारम्भ हुआ, यह मान्यता महत्त्वपूर्ण है। 'भाव-योग' की मर्यादा वहीं तक है। संयोग से भारत की पुरानी परम्परा भी इसी बात को स्वीकार करती चली आई थी। इन दोनों बातों का आधार लेते हुए शुक्ल जी जैसे ललकार कर कहते हैं :—

"अब सीधा सवाल यह रह गया कि क्या बाल्मीकि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक कोई एक भी ऐसा कवि बताया जा सकता है, जिसने अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर प्रियतम को अपना बनाया हो और उसके प्रति कामुकता के शब्दों में प्रेम व्यंजना की हो।"[2]

छायावाद शब्द का प्रयोग वे विशिष्ट शैली के अर्थ में भी मानते रहे।[3] इस शैली की विशेषताओं का उन्होंने विस्तृत निरूपण किया किन्तु उन्हें यह बात हमेशा खटकती रही कि बंगला और अंग्रेजी की पदावलियाँ हिन्दी भाषा की आन्तरिक प्रकृति का बिना विचार किये प्रयुक्त की जा रही थीं। अंग्रेजी की चुनी पदावलियों का उदाहरण लेकर उन्होंने अच्छे-अच्छे कवियों का उपहास भी किया। किन्तु नये कवियों के द्वारा हिन्दी भाषा की व्यंजना-शक्ति का जो स्वच्छ विकास हुआ उसकी पूरी हिमायत भी उन्होंने की।[4]

---

१. हि० सा० इ०, पृ० ६५२।

२. वही, पृ० ६५२।

३. वही, पृ० ६५३।

४. वही, पृ० ६५५।

यह प्रश्न आज उतने महत्त्व का नहीं है कि शुक्ल जी ने छायावाद को गलत समझा अथवा ठीक। इस सवाल पर भी अभी विवाद ही होता चला जा रहा है कि उस आंदोलन का वास्तविक स्वरूप क्या था और उसको प्रेरणा देने वाले मूल सामाजिक-ऐतिहासिक उपादान कौन-कौन से हैं। प्रस्तुत प्रश्न तो यह है कि छायावादी काव्य-धारा को आगे बढ़ाने अथवा पीछे ढकेलने में शुक्ल जी का कितना योग है। जैसा ऊपर कहा गया है, आन्दोलन को उचित दिशा में ले जाने का कुछ श्रेय उन्हें भी अवश्य मिलना चाहिये, उसे पीछे ढकेलने का कार्य उन्होंने कदापि नहीं किया।

काव्य में अभिव्यंजनावाद

अपने इन्दौर वाले भाषण में आचार्य शुक्ल ने क्रोचे के "अभिव्यंजनावाद" की लम्बी चर्चा की। तभी से हिन्दी में इस सिद्धान्त के स्वरूप को समझाने वाले ग्रन्थों और निबन्धों का प्रकाशन होता चला आ रहा है। सबसे पहली पुस्तक 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' शीर्षक से श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' की आई और बाद में श्री राम नरेश वर्मा ने, कुन्तक और क्रोचे की मान्यताओं में अधिक गहराई तक डूबने का प्रयास "वक्रोक्ति और अभिव्यंजना" नामक पुस्तक में किया। वर्मा जी का विवेचन वास्तव में मूल्यवान् है। इसके अतिरिक्त डा० नगेन्द्र के लेखों और भूमिका रूप में लिखे गये प्रबन्धों में कुन्तक और क्रोचे के साथ-साथ शुक्ल जी की तत्सम्बन्धी धारणाओं की तात्त्विक समीक्षा मिलती है। पंडित बलदेव उपाध्याय ने अपने ग्रंथ 'भारतीय साहित्य शास्त्र' में 'वक्रोक्ति' के ऊपर विचार करते हुए प्रसंगतः 'अभिव्यंजनावाद' की चर्चा भी की है। इस प्रकार कुन्तक और क्रोचे की तुलना में पर्याप्त आलोचना-साहित्य निर्मित हो गया है। इसका मुख्य कारण था शुक्ल जी का 'अभिव्यंजनावाद' को 'वक्रोक्तिवाद' का 'विलायती उत्थान' कहना।

"और कलाओं को छोड़ यदि हम काव्य ही को लें तो इस 'अभिव्यंजनावाद' को 'वाग्वैचित्र्यवाद' ही कह सकते हैं और इसे अपने यहाँ के पुराने 'वक्रोक्तिवाद' का विलायती उत्थान मान सकते हैं।"[1]

जैसा डॉक्टर नगेन्द्र ने सुझाया है शुक्ल जी की यह उक्ति 'अर्थवाद' के रूप में ही ग्रहण की जा सकती है—"दोनों में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानना अर्थात् क्रोचे को किसी प्रकार भी कुन्तक का ऋणी मानना हास्यास्पद होगा।"[2]

शुक्ल जी का प्रयोजन भी केवल इतना ही जान पड़ता है कि 'वक्रोक्तिवाद' के साथ साम्य दिखाकर 'अभिव्यंजनावाद' का परिचय दे दिया जाय और किसी सीमा तक उसका महत्त्व भी कम कर दिया जाय। यदि क्रोचे और कुन्तक के बीच सम्बन्ध स्थापित करना उनका लक्ष्य होता तो दोनों के बीच की पूरी शृंखला को वे अवश्य जोड़ देते।

---

१. हि० सा० इ०, पृ० ५७२।

२. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ११७।

शुक्ल जी के कथन का उद्देश्य चाहे जो हो, क्रोचे को संस्कृत 'अलंकार शास्त्र' का कुछ-कुछ परिचय प्राप्त था, यह उनके उल्लेखों से ही सिद्ध हो जाता है। यूनान के प्राचीन अलंकार शास्त्र के प्रकरण में साधारण वाक्य (वार्त्ता) और अलंकृत वाक्य (काव्य) के स्थूल भेद-स्थापन का खण्डन करते हुए क्रोचे ने कहा है कि भारत के अलंकार-शास्त्री भी इस विभेद तक अपने स्वतन्त्र मार्ग से पहुँच चुके थे।[1] 'अभिव्यंजनावाद' के भीतर प्राचीन यूनानियों के 'अलंकारवाद' की चर्चा बार-बार आई है क्योंकि अपनी मूलस्थापना को उससे अलग करके रखना क्रोचे आवश्यक समझते थे। उक्ति की अलंकृति, उसकी आत्मा में ही निहित है, यह तथ्य उन्होंने कई प्रकार से प्रतिपादित किया। उनकी इस स्थापना का स्पष्ट विरोध अलंकारवादियों से था और उनसे ही निकट सम्बन्ध भी था। इसलिए यूनानी अलंकार-शास्त्र ही नहीं अपितु भारतीय अलंकार-शास्त्र के प्रकाश में अपने सौन्दर्य-शास्त्र का निरीक्षण करने की सलाह वे अध्येताओं को देते हैं। इसके लिए 'सहायक ग्रन्थों'[2] की सूची में उन्होंने सिलवाँ लेवी के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'इण्डियन थियेटर' को देखने की सलाह दी है। उसमें पृष्ठों का भी उल्लेख होने से यह प्रमाणित हो जाता है कि क्रोचे ने संस्कृत काव्य-शास्त्र का कुछ परिचय अवश्य प्राप्त किया था लेकिन मात्र परिचय को हम प्रभाव नहीं कह सकते। क्रोचे और कुन्तक की मान्यताओं के मूल में ही इतना अधिक वैषम्य है कि एक को दूसरे का विकास मानना असम्भव है। दोनों आचार्यों के सिद्धान्तों का इतना विस्तृत निरूपण हिन्दी में हो चुका है कि हमें उनके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं, हमारा उद्देश्य केवल यह देखना है कि शुक्ल जी के 'भाव-योग' वाले सिद्धान्त से क्रोचे का कहाँ विरोध है और उन्होंने किस आधार पर इसका खंडन किया।

ध्यान देने की बात यह है कि हिन्दी कविता पर 'कलावाद' का किंचित् प्रभाव देख कर ही वे इसके मूल दर्शन के खंडन में प्रवृत्त हुए थे। उन्होंने अपने भाषण में यह कह दिया है कि, "यदि इन दोनों वादों ('कलावाद', 'अभिव्यंजनावाद') से उत्पन्न प्रवृत्तियाँ वहीं की वहीं रह जातीं, बंग-भाषा के प्रसाद से हमारे हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में भी न प्रकट होतीं तो मुझे इनके उल्लेख द्वारा आप लोगों का अमूल्य समय नष्ट करने की कोई आवश्यकता न होती।"[3] 'पंत' जी की कविताओं के ऊपर 'कलावाद' का प्रभाव उन्होंने दिखाया भी है।[4] इतना सत्य है कि 'कलावाद' या बिम्बवाद आदि

---

१. These considerations led the Graeco-Roman rhetoricians to adopt t he practice, like the Indians, who arrived at the distinction independently, to distinguish the bare or purely grammatical form from another form containing an addition which they called ornament.

—*Aesthetic*—Croce, page 427

२. Ibid, page 488.

३. चिं०, भाग २, पृ० १९४।

४. हि० सा० इ०, पृ० ७०१।

जिस रूप में योरुप में प्रचलित रहे उस रूप में हिन्दी कविता में उनका प्रचार नहीं दिखाई पड़ा—उस सीमा तक जा पहुँचना छायावादी कवियों के लिए असंभव था, लेकिन उनका यत्किंचित् प्रभाव रचना शैली पर अवश्य पड़ा। इसलिए यह मानना ठीक नहीं होगा कि शुक्ल जी का प्रतिवाद असामयिक और अनावश्यक था। उनके भाषण से साफ प्रकट है कि क्रोचे के सिद्धान्तों की समीक्षा करने की अपेक्षा उससे उत्पन्न रचना-विधान का खंडन ही वे अधिक करते हैं। जिन ६ प्रवृत्तियों का विचार उन्होंने किया है, उनमें से पाँच का सम्बन्ध काव्य के रचयिताओं से ही है—केवल एक का सम्बन्ध व्याख्या या सिद्धान्त से है।[1]

शास्त्रार्थ में प्रवृत्त होते हुए 'पूर्व-पक्ष' का जो संक्षिप्त परिचय शुक्ल जी ने दिया है, वह गलत तो नहीं कहा जा सकता किन्तु अधूरा अवश्य है। 'अभिव्यंजनावाद' की पूर्ण व्याख्या उस सीमित विस्तार में कदाचित् संभव भी नहीं। लेकिन जिन मान्यताओं का सम्बन्ध उन्होंने क्रोचे से जोड़ा है वे सचमुच उसी की हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। सबसे पहली मान्यता है कला को बोध-स्वरूप समझना। बुद्धि-प्रसूत धारणाओं (concepts) से अलग क्रोचे ने प्रातिभज्ञान (Intuition) की सत्ता मानी है। इस तर्क-शून्य ज्ञान को ही वे 'अभिव्यंजना' भी मानते हैं[2] और उसी अभिव्यंजना को कला कहते हैं। 'भाव-योग' के सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान विशुद्ध-बुद्धि की क्रिया है और 'ज्ञान' के प्रति ही मन का 'भाव' प्रेरित रहता है। कविता वह साधन है जिससे उन भावों का उद्‌बोधन होता है। यदि कला या काव्य का अर्थ कोई ज्ञान-विशेष हो जाय तो उससे भाव नहीं जग सकता, मन की जिज्ञासा ही तृप्त हो सकती है। शुक्ल जी को यह मान्य नहीं।

उन्हें ऐसे ज्ञान की 'सत्ता' भी मान्य नहीं जिसमें बुद्धि का कुछ भी योग न हो। प्रातिभज्ञान अथवा सहजानुभूति की 'तर्क-शून्यता' को वे प्रारम्भ में ही अस्वीकार कर देते हैं और क्रोचे की इस मान्यता का सम्बन्ध ईसाई और पैगम्बरी मतों में स्वीकृत 'इलहाम' से जोड़ते हैं।[3] जैसा पहले बताया जा चुका है, ज्ञान के इस स्वरूप का खण्डन वे आजीवन करते रहे। रहस्यवाद के विरोध के मूल में भी यह बात थी। क्रोचे की 'सहजानुभूति' भी आत्मा की निर्लिप्त क्रिया होने के कारण, मजहबी 'इलहाम' के अत्यन्त निकट पहुँच गई।

क्रोचे ने आत्मा के भीतर ऐसे साँचे (form) की कल्पना की जो बाह्य-जगत् के रूप-संस्कारों (Impressions) को अपने भीतर ढालकर 'प्रातिभज्ञान' या 'सहजानुभूति' के रूप में पुनः उत्पन्न कर देता है। यह ढला हुआ रूप जगत् या द्रव्य

---

१. चिं०, भाग २, पृ० १९४।

२. "To intuite is to express, and nothing else (nothing more but nothing less) than to express."—*Aesthetic*, page 11.

३. चिं०, भाग २, पृ० १८१।

(Matter) के रूप-संस्कारों (Impressions) से बिल्कुल भिन्न एवं स्वतन्त्र होता है। और यह 'साँचा' ही, वास्तव में, सब कुछ है। कला की सृष्टि में उसी का महत्त्व है। 'साँचा' (form) शाश्वत और एक रूप (constant) है, केवल द्रव्य की भिन्नता के कारण ढले हुए रूपों (Intuitions) में भेद हो जाया करता है।[1]

शुक्ल जी ने द्रव्य के कारण उत्पन्न होने वाली भिन्नता का उपहास किया है किन्तु उनका तर्क बड़ा विलक्षण और कमज़ोर है :—

"किसी सांचे में जो वस्तुएँ भरी जायेंगी, वे घुल-पिसकर गीली मिट्टी या गारा हो जायेंगी, उनके पृथक्-पृथक् रूप कहाँ रह जायेंगे ?"

साँचे के भीतर भरी जाने वाली सभी वस्तुएँ एक तत्त्व में कैसे परिणत हो जायेंगी यह समझ में नहीं आता। यदि तर्क के उसी स्थूल स्तर पर रहें तो पूछ सकते हैं कि साँचे में भरी हुई 'मिट्टी' और 'रुई' का भेद कभी मिट जायेगा ? क्या रुई भी मिट्टी या गारे के रूप में बदल जायेगी ? वास्तव में, क्रोचे के इस मतवाद का खण्डन ऐसे स्थूल स्तर से नहीं किया जा सकता जैसे शुक्ल जी ने किया है।

कला को आत्मा की क्रिया मान लेने के कारण क्रोचे ने उसे भौतिक व्यापारों से भिन्न और स्वतन्त्र माना है। उनकी दृष्टि में कला के वास्तविक सत्य की अभिव्यक्ति होती है, भौतिक तथ्यों में सत्य नहीं होता। कला से अलौकिक आनन्द की उत्पत्ति भी उन्हें स्वीकार है :—

"...Physical facts do not possess reality, and.....art to which so many devote their whole lives and which fills all with a divine joy, is supremely real."[3]

आत्मिक क्रिया होने के बाद वास्तविक कला का सम्बन्ध केवल आन्तरिक अभिव्यंजना से ही रह जाता है, बाह्य अभिव्यंजना का विशेष महत्त्व नहीं। किन्तु बाह्याभिव्यक्ति के उपरांत भी कला के साथ नैतिकता-अनैतिकता का प्रश्न नहीं खड़ा हो सकता।

"An artistic image portrays an act morally praise-worthy or blameworthy, but this image, as image, is neither morally praise-worthy nor blameworthy."[4]

शुक्ल जी ने उक्ति के भीतर निहित प्रस्तुत 'अर्थ' की अनिवार्यता पर बल देते हुए काव्य-वस्तु के औचित्य-अनौचित्य का विचार भी काव्य-समीक्षा में आवश्यक

---

१. It is the matter, the content, which differentiates one of our intuitions from another, the form is constant...

—*Aesthetic*, page 6.

२. चिं०, भाग २, पृ० १८३।

३. *The Essence of Aesthetics*, B. Croce, page 9.

४. *Aesthetic*, page 14.

ठहराया है। अपनी इस मान्यता के ऊपर-उन्हें जितना अविचल विश्वास है, उतने ही आवेग के साथ वे क्रोचे के मतवाद का खंडन करते हैं।

'अलंकार', 'अलंकार्य' के भेद पर भी शुक्ल जी का क्रोचे से मौलिक मतभेद है। जैसा हम पहले कह आये हैं, अलंकार-शास्त्रियों के इस विचार का खंडन क्रोचे ने बार-बार किया है कि सुन्दर उक्तियों में कोई विशेष 'वस्तु' ऊपर से जुटी रहती है और जो साधारण उक्तियों में नहीं रहती। वे अभिव्यंजना को अभिव्यंजना ही मानते हैं—उसके भीतर या बाहर अलंकारों की सत्ता का उनके लिए कोई अर्थ नहीं। अलंकार बाहर से जुटने पर तो 'उक्ति' के साथ कभी एकाकार नहीं हो सकते और भीतर से जुटने पर उसके अविभाज्य अंग ही बन जाते हैं।[1] क्रोचे ने, इसी प्रकार, कला के अंतर्गत 'रूप' और 'वस्तु' के भेद को निरर्थक मानते हुए कहा है कि सौंदर्यगत तथ्य केवल 'रूप' (form) ही है, उससे अलग कुछ भी नहीं।[2] इस मान्यता का अर्थ यह हुआ कि 'अलंकार' और 'अलंकार्य' में कोई भेद नहीं। शुक्ल जी ने इसका तीव्र प्रतिवाद किया और अत्यन्त दृढ़तापूर्वक प्रतिपादित किया कि "अलंकार-अलंकार्य' का भेद मिट नहीं सकता।"[3] इस प्रश्न के ऊपर बहुत पहले ही से विवाद चला आ रहा था और पक्ष-विपक्ष में अनेक तर्कों की योजना की गई थी किन्तु भारतीय साहित्य-दृष्टि अधिकतर, इन दोनों को अलग मानकर ही चलती रही। कदाचित् इसलिए शुक्ल जी इस विवाद को दार्शनिक स्तर पर नहीं ले गये।

क्रोचे ने कला द्वारा अलौकिक आनन्द का अनुभव स्वीकार किया किन्तु 'भाव' का उद्‌बोधन वे नहीं मानते। भावों को भी द्रव्य (matter) के रूपों में ही देखते हैं जिसे अभी 'रूप' (form) के गौरवपूर्ण पद पर पहुँचना बाकी है और जिसका सौंदर्य-परक संस्कार अभी नहीं हुआ है। उनकी इस मान्यता के सूचक वाक्य (matter is emotionality not aesthetically elaborated) को लेकर शुक्ल जी ने यह कहा कि जब "द्रव्य" का तात्पर्य उन रूप-संस्कारों (Impressions) से ही है जो बाह्य-जगत् के प्रभाव से मन के ऊपर पड़ते हैं, तब यह मानने में क्या आपत्ति है कि वे भावों के उत्तेजक ही हैं। शुक्ल जी के अनुसार, क्रोचे ने उक्त वाक्यांश में एक ऐसी बात कह दी है जो 'भाव-योग' वाले सिद्धान्त के निकट आ पहुँची है। किन्तु वस्तु-स्थिति यह नहीं है, रूपसंस्कारों और उनके द्वारा उत्पन्न भावों तक को क्रोचे भौतिक तथ्य-मात्र मानते हैं। उन रूपसंस्कारों से प्रातिभज्ञान (इन्ट्यूशन) को अलग करते हुए उन्होंने कह दिया है कि फ़िल्टर पेपर के दूसरे तल पर छन कर आया हुआ जल जैसे अपने पूर्व-रूप से पूर्णतया भिन्न हो जाता है उसी प्रकार आत्मा की क्रिया द्वारा

---

१. *Aesthetic*, page 69.

२. The Aesthetic fact, therefore, is form, and nothing but form.
—*Aesthetic*, page 10.

३. चिं०, भाग २, पृ० १८६।

प्रातिभज्ञान बिल्कुल स्वतन्त्र और भिन्न हो जाता है। इस प्रातिभज्ञान को ही वे कला मानते हैं। भाव की सत्ता उन्होंने निचले स्तर पर ही मानी है। इस मान्यता को हम क्रोचे का अंतर्विरोध नहीं मान सकते बल्कि अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए शुक्ल जी का बल-प्रयोग ही कह सकते हैं।

ऊपर के विवेचन से प्रकट है कि क्रोचे की मान्यतायें 'भाव-योग' के अनुकूल नहीं। 'अभिव्यंजनावाद' से पहले और बाद में योरुप में जो अनेक प्रकार के 'वाद' चले, उसके साथ भी शुक्ल जी के मतवाद की संगति नहीं थी। इसलिए उन्होंने 'कलावाद', 'बिम्बवाद', 'प्रतीकवाद' आदि सबका विरोध किया। लेकिन इस सब वादों का दार्शनिक आधार क्रोचे के सिद्धान्त में मिला, इसलिए उसका प्रतिवाद ही उन्होंने विशेष किया। तत्कालीन हिन्दी कविता में ये प्रवृत्तियाँ बहुत कम आ सकी थीं किन्तु बाद में चलकर इनका व्यापक प्रभाव अवश्य दिखाई पड़ा। शुक्ल जी ने उस क्षीण प्रभाव को देखकर ही मूल सिद्धान्त के खंडन करने का प्रयास किया था।

पाँचवाँ अध्याय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी समीक्षा

शुक्लयुग :

आचार्य शुक्ल की मुख्य समीक्षात्मक कृतियाँ बीसवीं शती के तीसरे दशक में प्रकाशित हुईं। उस समय तक आलोचना की प्राचीन परिपाटी का बोलबाला था। इस परिपाटी में निम्नांकित त्रुटियाँ थीं :—

(१) कवियों की अंतर्वृत्ति के साथ जीवन का सम्बन्ध निरूपित नहीं होता था। रचना को समाज के परिदृश्य में रखकर नहीं देखा जाता था।

(२) अलंकार और रस की रूढ़ मान्यताओं के आधार पर ही कवियों का मूल्यांकन होता था। उन मान्यताओं का प्रयोग भी रूढ़ि-बद्ध पद्धति पर होता था।

(३) विश्लेषण-विवेचन के स्थान पर दाद देने की आदत अधिकतर आलोचकों को पड़ गई थी। इससे रचना के स्वच्छ व्याख्यान में बहुत बाधा पड़ती थी।

(४) कवि के गुण-दोष विवेचन के आधार पर ही उनके स्थान का निर्णय करने की प्रथा चल पड़ी थी—आलोचना का यह निर्णयात्मक रूप बड़ा छिछला था।

उपर्युक्त दोष किसी न किसी मात्रा में समर्थ आलोचकों में भी दिखाई पड़ते थे। पंडित पद्मसिंह शर्मा की तुलनात्मक आलोचना में भी ये त्रुटियाँ थीं। उनके भीतर काव्य के मर्म का ग्रहण और विश्लेषण करने की अद्‌भुत प्रतिभा थी किन्तु आलोचना के नये आदर्श से अपरिचित होने के कारण वे व्यावहारिक आलोचना का उत्कृष्ट प्रमाण प्रस्तुत करने में अक्षम सिद्ध हुए। मिश्रबन्धुओं की आलोचना-प्रणाली भी पुरानी पड़ चुकी थी। पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने व्यावहारिक आलोचना का जो रूप प्रस्तुत किया उसमें भी अपेक्षित गाँभीर्य और विवेचन का अभाव था। उसके संबंध में शुक्ल जी का निम्नांकित कथन प्रायः ठीक है :—

"इन पुस्तकों को एक मुहल्ले में फैली बातों से दूसरे मुहल्ले वालों को कुछ परिचित कराने के प्रयत्न के रूप में समझना चाहिए।[1]

बाबू श्यामसुन्दरदास की आलोचनाओं में अपेक्षित गंभीरता दिखाई पड़ी। पंडित पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा में पाई जाने वाली त्रुटियों से उन्होंने अपने आपको अलग ही रखा। कवियों के सामाजिक परिपार्श्व का विस्तृत विश्लेषण भी उनकी आलोचनाओं में दिखाई पड़ता है। किन्तु जितनी गंभीर विश्लेषण-क्षमता, सिद्धांत-

१. हि० सा० इ०, पृ० ५२८।

निर्माण की योग्यता, रसग्राहिता और मौलिकता का परिचय पंडित रामचन्द्र शुक्ल की आलोचनाओं से मिलता है उतनी का बाबू साहब की आलोचनाओं से नहीं। वस्तुतः उस युग का कोई भी समीक्षक शुक्ल जी की ऊँचाई को प्राप्त न कर सका। यह देखकर तो और भी आश्चर्य होता है कि उन्होंने अपनी अधिकांश महत्त्वपूर्ण आलोचनायें सन् २३, २४ के आस-पास लिखीं थीं जब हिन्दी आलोचना बिल्कुल शैशव काल से गुजर रही थी। उनकी आलोचना संबंधी मान्यतायें, समकालीन आलोचकों द्वारा सहज ही स्वीकृत कर ली गईं। साहित्यिक धाराओं और कवियों के संबंध में उनके निष्कर्ष अधिकतर अपने मूलरूप में ही, हिन्दी-जगत् के ऊपर छा गये। इसी बात को लक्ष्य करके डॉ० नगेन्द्र ने कहा है कि शुक्ल जी ने अपने युग को प्रभावित ही नहीं आच्छादित भी किया था। इस कथन के साथ उन्होंने निराला जी की दो पंक्तियाँ भी उद्धृत की हैं :—

वह देखी भीमा मूर्ति आज रण देखी जो
आच्छादित किये हुए थी जो समग्र नभ को।

आलोचना के क्षेत्र में शुक्ल जी के व्यक्तित्व का अत्यन्त सुन्दर निदर्शन ऊपर की पंक्तियों में हुआ है।

शुक्लोत्तर युग :

शुक्ल जी का निधन सन् १९४१ में हुआ, लेकिन शुक्लोत्तर समीक्षा से हम केवल उसी समीक्षा का अर्थ नहीं लेते जो उसके बाद लिखी गई। वास्तव में शुक्ल जी के जीवन-काल में ही हिन्दी आलोचना में नूतन प्रवृत्तियों और शैलियों का उदय होने लगा था। प्रभाववादी समीक्षा के बढ़ते हुए प्रभाव का उन्होंने इन्दौर वाले भाषण में स्वयं ही उल्लेख किया है। आलोचना की प्रगतिवादी धारा भी महायुद्ध के पूर्व ही प्रकट हो चुकी थी। इसके साथ-साथ नूतनतम मनोविज्ञान के प्रकाश में रस-शास्त्र की नयी सम्भावनाओं पर विचार-वितर्क भी होने लगा था। महायुद्ध के दौरान बुद्धिजीवियों पर ऐसा वैचारिक संकट आ पड़ा कि अधिकांश लोग मौन भाव से घटनाओं का निरीक्षण करने लगे। यदि किसी ने कुछ कहा या लिखा तो उसे व्यवस्था नहीं प्रदान कर सका। महायुद्ध के उपरांत जब वातावरण कुछ बदला तब गंभीर साहित्य-चिन्तना फिर से प्रारम्भ हुई और ऊपर बताई हुई प्रवृत्तियाँ उभर कर सामने आने लगीं। आज विभिन्न प्रवृत्तियों के समीक्षकों द्वारा इतना विपुल समीक्षा साहित्य प्रस्तुत किया जा चुका है कि सब का विवरण देना इस प्रबन्ध में सम्भव नहीं। उन प्रवृत्तियों और आलोचकों की कृतियों का मूल्यांकन करना भी हमारा लक्ष्य नहीं। हमें केवल इस बात पर विचार करना है कि शुक्लोत्तर समीक्षा के ऊपर शुक्ल जी का क्या ऋण है और कितनी दूर तक उसमें उनके द्वारा स्थापित मानदण्डों का निर्वाह अथवा परिष्कार दिखाई पड़ता है।

इस सम्बन्ध में एक बात सहज स्पष्ट है कि साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी चाहे जो हो किन्तु समीक्षण की प्रायः वही प्रक्रिया सब लोगों ने अपनाई जिसकी प्रतिष्ठा सर्व-प्रथम आचार्य शुक्ल द्वारा हुई थी। हिन्दी आलोचना की पुरानी परिपाटी शुक्लोत्तर-युग के प्रौढ़ लेखकों में कहीं नहीं दीखती। साधारण लेखकों में भी विवेचन की अद्भुत क्षमता विकसित होने लगी। यदि शुक्ल जी अपने सत्प्रयास द्वारा आलोचना की व्यवस्थित पद्धति और गम्भीर विवेचन की परम्परा न स्थापित कर गये होते तो नूतन समीक्षा सम्प्रदायों के विकास की उतनी सम्भावना न हो पाती। विवेचन की यह गम्भीरता आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र आदि की आलोचनाओं से प्रमाणित हो जाती है।

शुक्ल जी की रसवादी समीक्षा का ऐतिहासिक और सामाजिक पक्ष विशेष रूप से प्रगतिवादी समीक्षा में उद्घाटित हुआ—किन्तु दोनों की जीवन-दृष्टि में जो मौलिक भेद था उसे मिटाया नहीं जा सकता। प्रगतिवाद का आधार मार्क्स का सुचिन्तित जीवनदर्शन था जो साहित्य के भीतर अत्यन्त संकीर्ण अर्थ में गृहीत होता रहा। इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता कि मार्क्सवादी सिद्धान्त-सूत्रों का प्रयोग करते-करते प्रगतिवादी लेखक उसके यांत्रिक विनियोग तक जा पहुँचे जहाँ उस आलोचना का उद्देश्य ही नष्ट हो गया, किन्तु यह सबको स्वीकार करना पड़ेगा कि जीवन और साहित्य के सम्बन्धों के ऊपर इस आलोचना ने नया प्रकाश डाला। साहित्य के साथ जीवन के घनिष्ठ सम्बन्ध का बहुत वैज्ञानिक विवेचन भी इस समीक्षा में सम्भव था, यद्यपि परमुखापेक्षिता के कारण वह सब समय हो नहीं सका। इस धारा की वास्तविक प्रेरणा शुक्ल जी की आलोचनाओं में नहीं ढूँढ़ी जा सकती—अनेक अंशों में यह उनकी विरोधिनी भी रही, क्योंकि इसका मूल जीवन-दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद था जो एक ओर तो निरीश्वरवादी था और दूसरी ओर वर्ग-संघर्ष को उत्तेजना देता रहता था। किन्तु साहित्य के भीतर लोक-पक्ष का महत्त्व जितना अधिक इस दर्शन ने बताया उतना और किसी ने नहीं। यह दूसरी बात है कि इसका लोक-पक्ष शुक्ल जी के लोकधर्म से बहुत दूर था। शुक्ल जी के साथ इस समीक्षा की समता इस बात में भी दिखाई पड़ती है कि 'रहस्यवाद और छायावाद' में दोनों को लगभग एक ही प्रकार की त्रुटियाँ दिखाई पड़ीं। दोनों ने ही उसके भीतर वस्तुवादिता की माँग की। यह बड़े विलक्षण संयोग की बात थी कि जब पंत जैसे कवि छायावाद की कुहेलिका से मुक्त होकर वास्तविकता की धरती की ओर झुके और धीरे-धीरे प्रगतिवाद की भूमिका तैयार होने लगी तब इन्दौर वाले भाषण में शुक्ल जी ने बताया कि अब छायावाद के भीतर 'अर्थ-भूमि' का अच्छा विस्तार हो रहा है। और 'युगान्त' की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा कि :—

"कवि की सौन्दर्य-भावना अब व्यापक होकर मंगलभावना के रूप में परिणत हुई है। अब तक कवि लोक-जीवन के वास्तविक शीत और ताप से अपने हृदय को

बचाता-सा आता रहा, अब उसने अपना हृदय खुले जगत् के बीच रख दिया है कि उस पर उसकी गतिविधि का सच्चा और गहरा प्रभाव पड़े।"[१]

लेकिन जीवन की वास्तविकता को किसी वाद के माध्यम से ग्रहण करना वे कवि के लिये लाभप्रद नहीं समझते। साम्प्रदायिक दृष्टि चाहे रहस्यवाद में हो चाहे लोकवाद में, सदैव निन्दनीय है। उन्होंने पंत की वाद-मुक्त दृष्टि की ही सराहना की है।[२]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि प्रगतिवादी साहित्य साधना को भी एक निश्चित सीमा तक आचार्य शुक्ल की समीक्षा से बल मिला। उतने ही अंशों में प्रगतिवादी समीक्षा के ऊपर भी आचार्य का ऋण मानना पड़ेगा। दोनों की जीवन दृष्टियों में जो मौलिक भेद है उसका उल्लेख तो ऊपर कर ही दिया गया है।

हिन्दी में प्रभाववादी समीक्षा का प्रचार शुक्ल-युग में ही हुआ और इसका क्षीण आभास पाते ही आचार्य ने कड़े शब्दों में इसकी भर्त्सना की। इस समीक्षा के सम्बन्ध में उनकी क्या धारणा थी, इसका विवेचन हम 'साहित्यिक मान्यताओं' के प्रसंग में कर चुके हैं। अवश्य ही यह समीक्षा शुक्ल जी से प्रभावित नहीं है। उनका प्रभाव इस समीक्षा के ऊपर केवल इस रूप में देखा जा सकता है कि उसकी अतिरंजित पदावली और अर्थ-शून्य वागाडम्बर को उनकी आलोचना ने कुछ कम किया। प्रभाववादी समीक्षा की त्रुटियों को जितना स्पष्ट रूप से शुक्ल जी ने रखा उतना किसी ने नहीं। स्वयं शुक्ल जी के अनुसार समीक्षा की यह पाश्चात्य प्रणाली बंगाल से होती हुई हिंदी तक आई थी।[३] इस शैली के सबसे समर्थ आलोचक पंडित शान्तिप्रिय द्विवेदी हैं। डॉ० नगेन्द्र की प्रारम्भिक समीक्षाओं में 'प्रभाववादी' आलोचना की 'रोमानी' शब्दावली अक्सर आ गई है किन्तु वे प्रभाववादी समीक्षक कभी नहीं रहे। विवेचन-विश्लेषण की मेधा उनके भीतर प्रारम्भ से ही रही है, इसीलिए छायावाद के प्रारम्भिक विवेचकों में शुक्ल जी ने सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान उन्हीं को दिया।[४] नगेन्द्र जी मूलतः 'रसवादी' हैं, इसलिए उनके ऊपर अलग से विचार करना ही समुचित है।

छायावाद के प्रबल पृष्ठपोषक होते हुए भी पं० नन्ददुलारे बाजपेयी का स्थान प्रभाववादी समीक्षकों में नहीं है। काव्य-कृतियों का गम्भीर विश्लेषण उनकी आलोचनाओं में प्रारम्भ से ही मिलता है। उन्होंने अपने आपको आलोचना के किसी विशिष्ट सम्प्रदाय या शैली में आबद्ध नहीं होने दिया। पुराने आचार्यों और विशेषकर आचार्य शुक्ल, के लगातार विरोध करते रहने पर भी उन्होंने अत्यन्त प्रारम्भिक

१. हि० सा० इ०, पृ० ७०९।
२. वही, पृ० ७११-१२।
३. वही, पृ० ५६४।
४. वही, पृ० ५६४।

अवस्था में 'छायावाद' का समर्थन किया था। उनका यह कार्य ऐतिहासिक महत्त्व का है। 'छायावाद' के उत्थान के साथ-साथ उनका नाम बराबर लिया जाता रहेगा। अन्य अनेक प्रश्नों पर भी वे शुक्ल जी से मतभेद रखते रहे हैं किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनके ऊपर भी आचार्य शुक्ल की समीक्षा का ऋण है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि "शुक्ल जी की लिखी हुई पुस्तकें और उनके तैयार किये हुए विद्यार्थी (जिनमें मैं भी एक होने का गर्व करता हूँ) उनका संदेश स्कूलों और कालेजों, पत्रों और पत्रिकाओं तथा व्यापक रूप से हिन्दी के क्षेत्र में सुनाया करते हैं।"[1] किन्तु बाजपेयी जी के विचार शुक्ल जी के विचारों की प्रतिध्वनि मात्र नहीं—उन्होंने शुक्ल जी द्वारा उठाये हुए प्रश्नों की नयी सम्भावनाओं पर विचार किया है और साहित्य को उसकी परिस्थितियों के बीच रख कर सहानुभूतिपूर्ण ढंग से विचार करने पर बल दिया है। डॉ० भगवत स्वरूप मिश्र[2] के अनुसार बाजपेयी जी ने (क) विलेश्षणात्मक पद्धति को आगे बढ़ाकर पूर्णतः निगमनात्मक बनाया, (ख) वर्ण-व्यवस्था और नीतिवाद को व्यापक लोक-मंगल में परिणत किया (ग) साहित्य को उत्थानमूलक सांस्कृतिक चेतना का जन्मदाता बताया और (घ) भारतीय रस-सिद्धान्त का पाश्चात्य संवेदनीयता के साथ सामंजस्य स्थापित किया। उक्त चारों दिशाओं में शुक्ल जी की मान्यताओं का सहारा लेते हुए और कहीं-कहीं उनका परिष्कार करते हुए बाजपेयी जी की आलोचना आगे बढ़ी है। उन्होंने कोई नया समीक्षा-सम्प्रदाय नहीं खड़ा किया किंतु हिन्दी आलोचना को जो कुछ उन्होंने दिया और देते चले जा रहे हैं वह कम मूल्यवान् नहीं। इसलिए उनके द्वारा शुक्ल जी का ऋण-स्वीकार शुक्लोत्तर-समीक्षा पर आचार्य शुक्ल के व्यापक प्रभाव का ही प्रमाण प्रस्तुत करता है।

डॉ० नगेन्द्र की 'रसवादी-दृष्टि' में शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धान्तों का बड़ा अच्छा विकास दिखाई पड़ता है। 'साहित्यिक मान्यताओं' के ऊपर विचार करते हुए हम देख आये हैं कि आचार्य शुक्ल ने मनोविज्ञान का आश्रय लेकर रस-शास्त्र की नई सम्भावनाओं की छान-बीन की—रस की पुरानी परिधि को लोचदार बनाकर कुछ अधिक फैलाया। किन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र के अन्य सम्प्रदायों के साथ उसका व्यापक सम्बन्ध बिठाने की ओर वे प्रवृत्त नहीं हुए। डॉ० नगेन्द्र ने आचार्य शुक्ल द्वारा उद्भावित मार्ग पर अग्रसर होकर आधुनिकतम मनोविज्ञान (फ्रायड आदि का) से 'रस' का सामंजस्य बिठाने का सराहनीय प्रयत्न किया। शुक्ल जी ने बीसवीं शती के प्रारम्भिक चरण तक विकसित मनोविज्ञान का आश्रय लिया था, यह हम देख चुके हैं। फ्रायड के मनोविज्ञान में उन्हें कदाचित् रस-शास्त्र का समर्थन नहीं दिखाई पड़ा। नगेन्द्र जी ने मन के चेतन, उपचेतन और अवचेतन स्तरों का विश्लेषण करते हुए भी 'रस' और 'साधारणीकरण' का मूल आधार नहीं छोड़ा। दूसरी ओर सारे भारतीय

१. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७२।
२. हिन्दी आलोचना—उद्भव और विकास, पृ० ४६७।

समीक्षा-सम्प्रदायों के साथ भी उन्होंने 'रसवाद' के सामंजस्य की सम्भावना को जाँचा और परखा है। विभिन्न सम्प्रदायों का जो विश्लेषण उन्होंने किया है उससे यह बात सहज स्पष्ट है। इससे भारतीय साहित्य-शास्त्र के एक व्यापक सिद्धान्त रूप में समन्वित होने का नया मार्ग खुला है। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की प्राचीन और अर्वाचीन मान्यताओं के साथ भारतीय मान्यताओं के सामंजस्य का प्रयास भी डॉ० नगेन्द्र ने किया है। यह कार्य भी अपने प्रारम्भिक रूप में आचार्य शुक्ल द्वारा शुरू किया गया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि डॉ० नगेन्द्र ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जो अपनी मौलिक उद्भावनाओं के रहते हुए भी समीक्षा-क्षेत्र में शुक्ल जी के अत्यन्त निकट हैं—वे उनके सच्चे उत्तराधिकारी इस अर्थ में कहे जा सकते हैं कि उनकी विश्लेषण पद्धति ही नहीं अपितु मान्यतायें भी शुक्ल जी की मान्यताओं का विकसित रूप जान पड़ती हैं।

बाबू गुलाबराय वास्तव में शुक्ल युग के ही आलोचक हैं। वे लगभग उनके समानान्तर चलते चले आये। उनकी समीक्षा में भी 'रसवाद' का प्राधान्य है किन्तु और दृष्टिकोणों के लिए भी पूरी समाई है। शुक्ल जी की विश्लेषण पद्धति का प्रभाव उनके ऊपर भी है।

उक्त तीनों आलोचकों के ऊपर आचार्य शुक्ल का प्रभाव होने का अर्थ है आधुनिक आलोचना के बहुत बड़े भाग के ऊपर इसका प्रभाव होना क्योंकि उक्त आलोचक अपने-अपने ढंग से आधुनिकतम हिन्दी आलोचना का अनेक अंशों में नेतृत्व करते हैं।

'रस', 'अलंकार' आदि की दृष्टि से काव्य के मूल्यांकन की परम्परा भी शुक्ल-युग और उसके बाद लगातार चलती रही। उन्हीं की पद्धति पर चलकर पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, कृष्ण शंकर शुक्ल आदि ने प्राचीन और मध्यकालीन काव्य-ग्रन्थों की अच्छी समीक्षा की है। इस परम्परा के श्रेष्ठ आलोचक भी शुक्ल जी को अपना मार्ग-दर्शक मानने में गर्व का अनुभव करते हैं।

शुक्लोत्तर समीक्षा में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का स्थान अन्यतम है। हमने उनका उल्लेख अब तक इसलिए नहीं किया था कि उनका आलोचनात्मक दृष्टिकोण शुक्ल जी के प्रभाव में नहीं विकसित हुआ। वे 'शान्तिनिकेतन' की विशिष्ट दृष्टि लेकर साहित्य-क्षेत्र में उतरे। उनकी आलोचना की मूल मान्यता और विवेचन-प्रणाली में स्पष्ट ही 'रावीन्द्रिक स्पर्श' है जिसमें 'विवेचनात्मकता' और 'प्रभाववादिता' का मणिकांचन योग रहता है। उनकी मानवतावादी भूमि भी शुक्ल जी के लोक-धर्म से अलग है। वे साहित्य के ही नहीं संस्कृति के भी व्याख्याता हैं। कुल मिलाकर वे शुक्ल जी के प्रभाव से पूर्णतया अलग हैं। उनकी दृष्टिभंगी को आधार बनाकर चलने वाले आलोचक भी बहुत हैं—उन सबको आचार्य शुक्ल के प्रभाव से मुक्त मानना पड़ेगा।

ऊपर के विवरण से प्रकट है कि हिन्दी के अधिकांश कृती आलोचक शुक्ल जी

से प्रभावित हैं, कुछ प्रत्यक्ष रूप से और कुछ परोक्ष रूप से। हिन्दी आलोचना पर उनका आतंक अब भी दिखाई पड़ता है। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी के निम्नांकित वाक्य से शुक्ल जी के प्रभाव की गरिमा सहज ही स्पष्ट है :—

"आज भी स्थिति यह है कि साहित्य और उसके आनुषंगिक विषयों पर अध्ययन के अधिक प्रशस्त रास्ते खुल जाने पर भी अब तक शुक्ल जी ही साहित्य में अंतिम वाक्य माने जाते हैं।"[१]

१. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७२।

छठा अध्याय

हिन्दी साहित्य का इतिहास

पंडित रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखित "हिन्दी साहित्य का इतिहास" ही हिन्दी साहित्य का पहला वास्तविक इतिहास माना जाता है। उससे पहले और बाद में भी अनेक प्रयत्न इस दिशा में किये गये किन्तु जो स्थान पाठक समुदाय में उस इतिहास का बन गया है, उसे अन्य कोई ग्रन्थ अभी तक नहीं ले सका। इससे पहले कि हम उस 'इतिहास' की विशिष्टताओं और सीमाओं पर विचार करें, उचित यह होगा कि साहित्य के इतिहास की मुख्य समस्याओं तथा आधारभूत तत्त्वों का परिचय प्राप्त कर लिया जाय।

साहित्य के इतिहास की सामान्य समस्यायें

(१) जिस प्रकार राजनैतिक इतिहास के सम्बन्ध में लोगों की धारणायें आये दिन बदलती चली गईं और घटनाओं की कार्य-कारण शृंखला में राजाओं का व्यक्तिगत महत्त्व घटता चला गया उसी प्रकार साहित्य के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाली धारणा भी बदलती चली गई। आज साहित्य को, मनुष्य के तमाम भौतिक एवं सांस्कृतिक प्रयत्नों के बीच रख कर देखने का प्रयास किया जाता है। यह विश्वास प्रायः लुप्त हो चला है कि साहित्यिक कृतियाँ मानव जीवन से पूर्णतया विच्छिन्न, सुकोमल पारिजात पुष्प की भाँति हैं और सहृदय रसिकों को इसी रूप में उनका आस्वाद प्राप्त करना चाहिए, उनके आन्तरिक सौन्दर्य की सीमा में ही उनका मूल्यांकन करना चहिए। साहित्य मात्र के सम्बन्ध में ऐसी धारणा का सर्वथा अभाव होने के कारण साहित्य के इतिहास में भी परिस्थिति और परिवेश का मूल्य बढ़ा। आज साहित्य के इतिहास की वास्तविक समस्या यही है कि मानव जीवन के प्रयत्नों के साहित्येतर अंश को किस प्रकार साहित्य के साथ अविच्छिन्न रूप से समंजित कर दिया जाय। यह कार्य ऊपर से देखने में जितना ही सरल प्रतीत होता है, वास्तव में, उतना ही कठिन है। जीवन के जटिल घटना-प्रवाह को प्रेरित-संचालित करने वाले उपादान, एक नहीं, अनेक होते हैं और उन सबका ठीक-ठीक आकलन कठिन ही नहीं असंभव भी है। दूसरी ओर, अध्येताओं की दृष्टिभंगी की विभिन्नता भी अनेक नई कठिनाइयों को जन्म देती है। परिणामतः प्रायः ऐसा देखा जाता है कि साहित्य की किसी एक ही प्रवृत्ति का सम्बन्ध एक मनीषी जीवन की किसी एक धारा से जोड़ता है और दूसरा किसी दूसरी से जो कहीं-कहीं पहली धारा की नितान्त विरोधिनी दिखाई पड़ती है।

इससे सिद्ध है कि इस दिशा में जो निष्कर्ष निकाले जायेंगे, उनमें एकता का अभाव और विवाद की गुंजाइश भी रहेगी, किन्तु साहित्य के वास्तविक इतिहास का प्रणेता इन समस्याओं से जूझे बिना नहीं रह सकता।

(२) जिस प्रकार जीवन का प्रवाह अजस्र है उसी प्रकार साहित्य का प्रवाह भी। उस अजस्रता का उद्घाटन इतिहास लेखक का दूसरा कर्तव्य है। जिस प्रकार एक युग-जीवन अपने आगे पीछे के युगों में भी अंतर्लीन रहता है उसी प्रकार साहित्य की अंतर्वर्तिनी धारा भी अनेक युगों के विस्तार में प्रवाहित होती रहती है। युगों का विभाजन तो प्रधानता को लक्ष्य कर सुविधा के लिए कर लिया जाता है, उसका तात्पर्य कभी भी यह नहीं होता कि युग-सन्धियों में पुरानी धाराओं का सर्वथा लोप एवं नूतन धाराओं का आकस्मिक उद्भव हो जाता है। सन्धिकाल में धाराओं के वेग की मन्दता ही व्यंजित होती है। उनकी इसी अंतर्लीन अजस्रता को हृदयंगम करना इतिहासकार के लिए अनिवार्य है।

(३) लेकिन साहित्य पूर्णरूप से, सामाजिक परिस्थितियों का ही परिणाम नहीं होता, उसे केवल परिस्थिति-जन्य मानना संकीर्णता का द्योतक होगा। उसमें साहित्यकार के वैयक्तिक संस्कार और रचना-शक्ति का भी अंतर्योग बहुत दूर तक रहता है, व्यक्तिगत रुचि और साधना उसकी वस्तु और रूप-योजना को मर्यादित करती रहती हैं। साहित्य के भीतर साहित्यकार के व्यक्तित्व का प्रक्षेपण कहाँ तक हुआ है, इसका समुचित उत्तर प्राप्त करना अत्यन्त कठिन होने पर भी, इतिहासकार के लिये सर्वथा अनुपेक्षणीय है। प्रतिभाशाली व्यक्तित्व केवल परिस्थितियों का दास नहीं होता, गतानुगतिकता तो उसमें और भी नहीं होती। इसलिये वह चलते हुए साहित्य-प्रवाह को अधिक गतिशील बनाने और किसी विशेष दिशा में मोड़ देने की क्षमता भी रखता है। साहित्य की वेगवती धारा में किसी व्यक्तित्व का कितना योग है, प्रत्येक इतिहासकार का यह परम अनुसंधेय है।

(४) इस प्रकार, व्यक्ति और परिस्थिति का सापेक्षिक महत्त्व निर्धारित करते हुए उनके घात-प्रतिघातों का विश्लेषण करना और सम्पूर्ण साहित्य-प्रवाह को एक ऐसी अखण्ड समग्रता में प्रस्तुत करना कि उस भाषा के साहित्य का नाम लेते ही ठोस बिम्ब सामने आ जाय, इतिहास लेखक की चरम साधना है। यह कार्य उस समय और भी गुरुतर हो जाता है, जब किसी साहित्य के इतिहास की न तो कोई पहले से निर्धारित रूप-रेखा हो और न ही किसी अविच्छिन्न प्राणमयी धारा के अस्तित्व का उद्घाटन। ऐसी स्थिति में सच्चे और निर्दोष इतिहास के निर्माण का कार्य दुःसाध्य ही नहीं प्रायः असंभव है। हमें ध्यान रखना है, कि आचार्य शुक्ल का इतिहास लेखन लगभग ऐसा ही दुःसाध्य प्रयास है। इसीलिए उसकी सीमायें भी सहज स्पष्ट हैं।

(५) लेकिन साहित्य के इतिहास का प्रणेता केवल पुरानी परम्पराओं का शृंखला-बद्ध विवरण देकर ही संतुष्ट नहीं हो सकता, प्राचीन साहित्यिक कृतियों को

समुचित परिवेश में रखकर देखना और दिखाना भी उसका अंतिम उद्देश्य नहीं हो सकता। पाठक उसके द्वारा महत्तर उद्देश्य की पूर्त्ति की आकांक्षा रखते है। वह उद्देश्य क्या है ? मनुष्य अपने इतिहास का अध्ययन, या अतीत का निरीक्षण केवल इसीलिए करता है कि अपने भविष्य के लिए किसी मंगलमय सूत्र का सन्धान पा सके। केवल प्राचीनता-प्रेम से आकर्षित होकर ही वह अतीत की ओर नहीं दौड़ा करता, यद्यपि यह प्रेम उसके भीतर बहुत प्रबल रहता है। भविष्य के लिए जिन प्रेरणादायक तत्त्वों की खोज में वह संलग्न होता है उन्हें उपलब्ध करने के लिए जीवन-दृष्टि का वैशिष्ट्य भी अपेक्षित है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि इतिहास-लेखन अपने व्यक्तिगत संस्कारों से तो आच्छन्न रहता ही है, इसके साथ-साथ अपने युग की प्रमुख विचारधाराओं और समस्याओं की छाया भी उसके निर्माण-कार्य पर सदैव पड़ती रहती है। युग के प्रमुख विचारों के आलोक में ही वह अतीतकालीन संपत्ति का मूल्यांकन करता है और उनके अनुरूप ही भविष्य के लिए उसके नियोजन की सम्भावनाओं पर विचार करता है। इसी दृष्टि से वह सम्पूर्ण प्राचीन सम्पत्ति का शृंखलाबद्ध निरूपण करते-करते अपने युग तक आ पहुँचता है। इस निरूपण में प्रधानतया उसका दृष्टिकोण ही कार्य करता रहता है। अतएव यह कहना कि इतिहास केवल तटस्थ या अनासक्त बुद्धि से ही लिखा जाना चाहिए, एक विशेष सीमा तक ही ठीक हो सकता है, किसी न किसी रूप में, इतिहास-लेखक की जीवन-दृष्टि का विनियोग—उसकी कृति में अवश्य मानना पड़ेगा। यदि ऐसा नहीं होता तो इतिहास-पुरुष के शरीर—अस्थि, मांस, चर्म आदि—का निर्माण भले ही हो जाय किन्तु उसमें प्राणों का आवेग नहीं भरा जा सकता।

साहित्य के इतिहास-लेखन की जो पाँच समस्याएँ ऊपर गिनाई गई हैं उनके अतिरिक्त और भी छोटी-मोटी समस्याएँ बताई जा सकती हैं किन्तु उनका अन्तर्भाव उक्त पाँचों में ही हो जाता है। उक्त समस्याओं को ध्यान से देखने पर विदित होगा कि इनका बहुत गहरा सम्बन्ध साहित्य समालोचना से है। मूलतः ये प्रश्न आलोचना-शास्त्र के ही हैं, इन्हें उससे विच्छिन्न करके नहीं देखा जा सकता। अन्तर केवल इतना है कि इतिहास-लेखक किसी विशेष कृति, कृतिकार अथवा साहित्यिक सिद्धान्त की समीक्षा तक ही अपने आपको सीमित नहीं रखता अपितु व्यापक साहित्य-धारा के प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रवाहों को युग-कल्प-व्यापी जीवन की समग्रता में ग्रहण करने का प्रयास करता है। दूसरे शब्दों में, साहित्य-समालोचना के व्यापक उत्तरदायित्व का निर्वाह वह अपने ऊपर लेता है। इसीलिए उसके भीतर कृती आलोचक की मेधा और रसग्राहिता का होना भी अनिवार्य है। इतिहास-लेखन का कार्य साहित्यालोचना से किसी प्रकार हीनतर है, यह मानना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत

होता। स्कॉट जेम्स महोदय की निम्नोद्धृत[1] धारणा इसी विश्वास के आधार पर टिकी है कि साहित्य का इतिहास वृत्त-संकलन और सामान्य टिप्पणियों एवं सम्पादन में ही सीमित है। वे इतिहास-लेखक के कर्त्तव्यों की इतिश्री केवल इतने में ही मानते दीखते हैं कि वह साहित्यिक सामग्री का संकलन, सम्पादन और विभाजन कर दे। अगर साहित्य का सच्चा इतिहास केवल इतना करने से ही बन सकता है तो जेम्स महोदय की बात मानने में किसी को भी आपत्ति नहीं होगी, किन्तु जैसा हम देख चुके हैं, समस्या केवल अनुसंधान, संकलन और सम्पादन की ही नहीं है, अपितु साहित्य की प्राणमयी अन्तर्वर्तिनी धारा को मानव-जीवन की सम्पूर्ण प्रगति से अविच्छिन्न रूप से जोड़कर देखने और दिखाने की है। इस धारा में कहीं उच्च कोटि के काव्य का निर्मल सलिल-प्रवाह है तो कहीं निकृष्ट रचनाओं की दुर्गन्धमयी नालियाँ भी आ मिली हैं और किसी व्यापक आन्दोलन के साथ-साथ बहता हुआ मध्यम कोटि के साहित्य का बालू रेत भी कम मात्रा में नहीं मिला है। इतिहास लेखक इस सम्पूर्ण धारा का रस-पान करता है, वह यह मान कर चलता है कि साहित्य की प्रवाहमयी जाह्नवी में सब कुछ पेय और पवित्र है। ऐसा करके ही वह साहित्य का ठीक मूल्य आँक सकता है और सच्चे इतिहास का निर्माण भी कर सकता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास का निर्माण

साहित्य के इतिहास की उक्त सामान्य समस्याओं के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के इतिहास के निर्माण में और भी कठिनाइयाँ थीं जिनका सामना पंडित रामचन्द्र शुक्ल को करना पड़ा। सबसे प्रमुख कठिनाई थी उपलब्ध सामग्री के समुचित वर्गीकरण की। सामग्री के संचय का कार्य भी सम्यक् रूप से सम्पन्न नहीं हो सका था, किन्तु इस दिशा में पहले के इतिहासकार कुछ अच्छा कार्य कर चुके थे। स्वयं शुक्ल जी ने ही मिश्र-बन्धुओं के आभार को स्वीकार करते हुए कहा है, कि "रीतिकाल के कवियों के परिचय लिखने में मैंने प्रायः उक्त ग्रन्थ (मिश्रबन्धु-विनोद) से ही विवरण लिए हैं।"[2] नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों का आश्रय भी उन्होंने लिया। इसके अतिरिक्त कुछ नवीन उपलब्ध सामग्री का उपयोग भी अपने इतिहास के बाद वाले संस्करणों में वे करते रहे। किन्तु इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि सामग्री के संकलन में उनका कोई विशेष योग नहीं, वह कार्य भी शुक्ल जी की

---

१. A literary historian who may do invaluable work in compiling, sifting, annotating, editing, is often a very poor critic and, vice versa, the most discriminating literary critic, having neither the inclination nor the industry to master masses of third rate work, is seldom also a first rate literary historian.

The Making of Literature—(R. A. Scott James) (1948) pages 24. 25.

२. हि० सा० इ०, पृ० ८।

रुचि के विपरीत पड़ता था। उनका वास्तविक महत्त्व इसी बात में है कि उन्होंने सम्पूर्ण उपलब्ध सामग्री को व्यापक एकसूत्रता में संगठित करके 'हिन्दी-साहित्य' शब्द का वास्तविक अर्थ पाठकों के समक्ष उपस्थित किया और वर्गीकरण की वैज्ञानिक पद्धति पर चल कर उसके स्वरूप की सच्ची व्याख्या करने में वे सफल हो सके। शुक्ल जी का यह महत्त्वपूर्ण योगदान उस समय तो सहज ही स्पष्ट हो जाता है जब पहले लिखे इतिहासों से उनके ग्रन्थ की तुलना की जाती है।

पहले के इतिहासकार :

उनके इतिहास के प्रकाशित होने के पूर्व केवल चार इतिहास ग्रन्थ (यदि उन सबको इतिहास ग्रन्थों की श्रेणी में डाला जा सके तो) प्रकाशित हुए थे—(१) गार्सां-द-तासी का 'इत्वार-द-लालितेरात्यूर ऐंदुई ऐं ऐन्दुस्तानी' (सन् १८३२, ३७ ई०) (२) शिवसिंह सेंगर का 'शिवसिंह सरोज' (सन् १८८३ ई०) (३) ग्रियर्सन महोदय का 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ़ नार्दर्न हिन्दुस्तान' (सन् १८८९ ई०) (४) मिश्रबन्धुओं का 'मिश्रबन्धु विनोद'—(१९१३ ई०)। तासी के इतिहास में हिन्दी के सत्तर कवियों का विवरण अकारादि क्रम से इकट्ठा किया गया है। इन कवियों की संक्षिप्त जीवनियों और रचनाओं का साधारण सा परिचय दे देना ही लेखक का उद्देश्य जान पड़ता है। तासी फ्रांसीसी विद्वान थे, और यह देखकर कि, इतिहास-लेखन की आधुनिक धारणाओं से परिचित होते हुए भी, उन्होंने अकारादि क्रम से कवियों का वृत्त एकत्र करने का ही प्रयास किया, बड़ा आश्चर्य होता है। साहित्य के इतिहास की जो धारणायें अंग्रेजी और फ्रांसीसी लेखकों में विकसित हो चुकी थीं यदि उनका उपयोग तासी के ग्रन्थ में हुआ होता तो कदाचित् इतिहास-लेखन का कार्य शीघ्रता-पूर्वक आगे बढ़ जाता। यह अवश्य था कि सर्व-प्रथम इतिहास में वैज्ञानिक वर्गीकरण का स्वच्छ रूप नहीं लाया जा सकता था किन्तु तासी ने तो इस दिशा में कोई प्रयास भी नहीं किया। 'शिवसिंह सरोज' में कवियों की संख्या एक हजार तक पहुँचा दी गई किन्तु विवरण देने की पद्धति प्रायः वही रही जो तासी के इतिहास में थी। यह ग्रन्थ इतिहास लिखने वाले विद्वानों के लिए सामग्री का अच्छा खासा भण्डार बना रहा, यद्यपि उसमें दिया गया विवरण कई स्थानों पर अशुद्ध एवं भ्रामक था। शुक्ल जी ने इसे वृत्त-संग्रह मात्र माना है जो उचित ही है। ग्रियर्सन महोदय के ग्रन्थ में काल-विभाजन और कहीं-कहीं प्रवृत्तियों के निरूपण के भी अत्यन्त प्रारम्भिक संकेत मिलते हैं, लेकिन ये संकेत ही हैं, इनका परिस्फुट रूप दिखाई नहीं पड़ता। यह अवश्य है कि विवरण के साथ-साथ विवेचन का भी समावेश हो गया और कुछ कवियों की विस्तृत समीक्षा इस ग्रन्थ में की गई। शुक्ल जी ने इसे भी वृत्त-संग्रह ही कहा है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस ग्रन्थ में पहली बार इतिहास-लेखन के अंकुर दिखाई पड़े। 'मिश्र-बन्धु-विनोद' में सामग्री का संकलन अत्यन्त परिश्रम-पूर्वक किया गया किन्तु उसके समुचित व्यवस्थापन और वर्गीकरण का अभाव इसमें भी

था। इतना अवश्य है कि हिन्दी-साहित्य को एक विस्तृत काल प्रवाह के बीच देखने और दिखाने का प्रयास इस पुस्तक ने किया—हिन्दी-साहित्य की जितनी अधिक सामग्री यहाँ एकत्र मिली उतनी पहले कहीं नहीं थी। यथास्थान कवियों की संक्षिप्त आलोचना भी की गई थी। इतना होने पर भी, मिश्र-बन्धुओं का यह प्रसिद्ध ग्रन्थ साहित्य के इतिहास की आवश्यकता को पूर्ण न कर सका। दूसरे शब्दों में, साहित्य की अंतर्वर्ती मूल-धारा का युग-युग व्यापी अविच्छिन्न प्रवाह 'विनोद' द्वारा उद्घाटित न हो सका। शुक्ल जी ने इसे भी 'प्रकाण्ड वृत्त-संग्रह' ही कहा है।[1] उनसे सर्वांग में सहमत न होते हुए भी इतना कहा जायेगा कि इसे साहित्य का सच्चा इतिहास नहीं कह सकते। मिश्र-बन्धुओं ने इसके नाम के साथ 'कवि-कीर्तन,' शब्द भी जोड़ दिया था जिस पर व्यंग्य करते हुए शुक्ल जी ने कहा "मेरा उद्देश्य अपने साहित्य के इतिहास का एक पक्का और व्यवस्थित ढाँचा खड़ा करना था, न कि कवि-कीर्तन करना।"[2] कवि-कीर्तन करने की ओर प्रवृत्ति होने के कारण भी 'विनोद' में इतिहास एवं समीक्षा के गम्भीर तत्त्वों का विनियोग न हो सका।

पूर्ववर्ती इतिहास-ग्रन्थों की सीमायें :

ऊपर जिन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है, उन्हें ध्यान से देखने पर नीचे लिखी बातें स्पष्ट हो जाती हैं।

१. उन ग्रन्थों के रचयिताओं का ध्यान अधिकतर कवियों की जीवनियों और उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में अधिक से अधिक सूचनाओं का संग्रह करना मात्र था। पहले दो इतिहास स्थान-स्थान पर इस सम्बन्ध में भी किंवदन्तियों का आश्रय लेते चलते हैं, उनमें व्यौरे-सम्बन्धी बातों के परीक्षण की प्रवृत्ति कम ही दिखाई देती है। बाद के दो ग्रन्थों में विवरण की पूर्णता और ऐतिहासिकता का भी ध्यान रखा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि सामग्री और विवरण का संग्रह भी इतिहास-लेखन की प्रमुख और अनिवार्य शर्त है किन्तु उससे ही इतिहास-निर्माता के कर्मों की इतिश्री नहीं हो जाती; केवल आधार-भूमि का ही निर्माण होता है।

२. उपलब्ध सामग्री के वैज्ञानिक वर्गीकरण की प्रवृत्ति उक्त ग्रन्थों में नहीं मिलती। अकारादि क्रम से कवियों के विवरण एकत्र करना तो इतिहास के लिए नितान्त असंगत है। 'विनोद' में वर्गीकरण का जो प्रयास किया गया उसका भी कोई संगत आधार नहीं दिखाई पड़ता। लेकिन साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में जिन नयी धारणाओं का विकास क्रमशः हो रहा था और सम्पूर्ण उपलब्ध सामग्री को विभाजित करने की जिस आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था उसका सूक्ष्म संकेत उस ग्रन्थ में अवश्य मिल जाता है।

---

१. हि० सा० इ०, पृ० ६।

२. मिश्रबन्धुओं ने भी अपनी भूमिका में यह स्वीकार किया है।

३. उक्त चारों ग्रन्थों में से किसी में भी साहित्यिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण की चेष्टा नहीं दिखाई पड़ती। ग्रियर्सन और 'विनोद' में कभी-कभी इस दिशा की ओर झुकाव अवश्य दीखता है किन्तु वह इतना अल्प है कि पाठक किसी भी प्रवृत्ति का परिस्फुट रूप हृदयंगम नहीं कर सकता। प्रवृत्तियों के साथ सबद्ध न होने के कारण कवियों की आलोचना भी बिखरी-बिखरी-सी लगती है।

४. सम्पूर्ण साहित्य अथवा साहित्यिक प्रवृत्तियों को जीवन के अविभाज्य अंग के रूप में दिखाने की चेष्टा नहीं की गई। जिस सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक परिवेश में साहित्य सृजन हुआ, उसका साहित्य के साथ बिम्ब-प्रतिबिम्ब-रूप सम्बन्ध है, इस तथ्य की प्रत्यक्ष चेतना उक्त ग्रन्थकारों में नहीं मिलती। इसलिये राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक परिवेश का निरूपण और साहित्य की स्रोतस्विनी के साथ उसका घात-प्रतिघातमय अविच्छिन्न सम्बन्ध शायद ही कहीं व्यक्त हुआ हो।

५. जब प्रवृत्तियों का निरूपण और जीवन के साथ उनके विकासशील सम्बन्ध का विवेचन नहीं मिलता, तब उक्त ग्रन्थों में साहित्य-धारा के अविच्छिन्न प्रवाह को ढूँढ़ना व्यर्थ ही होगा। उनमें कुछ प्रसिद्ध कवियों की आलोचना और प्रवृत्तियों के किंचित् निरूपण का यत्र-तत्र संकेत भले ही मिल जाय परन्तु उस व्यापक एकसूत्रता का सर्वथा अभाव है जो संपूर्ण ग्रन्थ-राशि को साहित्य के इतिहास के रूप में ढाल सके।

शुक्ल जी का इतिहास-निर्माण

आधार-सामग्री :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के ग्रन्थ के प्रकाशन के पूर्व इतिहास-लेखन सम्बन्धी उपलब्धियाँ इतनी ही थीं। इन उपलब्धियों की आधार-भूमि पर उनके इतिहास का निर्माण हुआ। शुक्ल जी के समक्ष सामग्री-सम्बन्धी नूतन अनुसंधानों की समस्या उतनी नहीं थी जितनी प्राप्त सामग्री के समुचित व्यवस्था पन की। उन्होंने स्वयं कहा है—"सात आठ सौ वर्षों की संचित ग्रन्थ-राशि सामने लगी हुई थी, पर ऐसी निर्दिष्ट सरणियों की उद्भावना नहीं हुई थी जिनके अनुसार सुगमता से इस प्रभूत सामग्री का वर्गीकरण होता।"[1] सामग्री-संचय के महत्त्व से भी वे परिचित थे किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है संग्रह-श्रम उनकी रुचि के अनुकूल नहीं पड़ता था, यह उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया।[2] दूसरी बात यह भी थी कि इतने बड़े इतिहास के निर्माण के लिये जितनी सामग्री और समय अपेक्षित था वह आचार्य को प्राप्त न हो सका क्योंकि 'एक नियत समय के भीतर ही यह इतिहास लिखकर पूरा करना पड़ा' और केवल आवश्यक उपादान सामने रखकर यह कार्य पूरा किया गया। सामग्री के पाँच मुख्य स्रोतों का उल्लेख उन्होंने स्वयं किया है—

---

१. हि० सा० इ०, पृ०१।

२. बाबू राधाकृष्ण दास (जीवन चरित-भूमिका)।

(१) मिश्र-बन्धु-विनोद, (२) नागरी प्रचारिणी सभा की खोजरिपोर्ट (३) हिन्दी-कोविद-रत्न-माला (बाबू श्यामसुन्दरदास) (४) कविता-कौमुदी (५) ब्रज-माधुरी सार। इसके अतिरिक्त अन्य प्राचीन-नवीन पुस्तकों का उपयोग भी हुआ जिन का यथास्थान उल्लेख इतिहास में कर दिया गया है। १९२९ के जनवरी महीने में पहली बार यह इतिहास 'हिन्दी शब्द-सागर' की भूमिका के रूप में प्रकाशित हो चुका था—पुस्तक रूप में निकलते समय इसमें आदि और अन्त के कई प्रकरण बढ़ा दिये गये और बाद के संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण में तो आदिकाल और आधुनिक काल के भीतर बहुत-सी नयी सामग्री जोड़कर ग्रन्थ को भरा पूरा बनाने का प्रयास किया गया। परिवर्तन एवं परिवर्द्धन की दिशाओं और प्रवृत्तियों को ध्यान से देखने पर यह प्रतीत होता है कि यदि लेखक को कुछ दिन और जीवित रहने का अवसर मिलता तो उन त्रुटियों का बहुत कुछ मार्जन हो जाता जो इस ग्रन्थ में बताई जाती हैं। इतिहास का वर्तमान रूप सन् १९४० ई० में निर्मित हो चुका था, और यदि तत्कालीन दृष्टि-भंगी तथा सामग्री संकलन के बीच रखकर उसका मूल्यांकन किया जाय तो अनेक त्रुटियाँ और अपूर्णतायें स्वयमेव मार्जित हो जाती हैं।

वर्गीकरण :

जैसा ऊपर कहा गया है, शुक्ल जी के इतिहास-लेखन का महत्त्व वर्गीकरण और व्यवस्थापन में ही है, सामग्री के संकलन में नहीं। इतिहास के ढाँचे का निर्माण करते समय उन्होंने तीन सूत्रों को सदैव ध्यान में रखा।

१. "जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्त्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्त्तन होता चला जाता है।"

२. "इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही" इतिहासकार का मुख्य कर्त्तव्य है।

३. "कारण-स्वरूप इन (राजनैतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक) परिस्थितियों का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है।"[1]

कहना नहीं होगा कि उपर्युक्त तीनों सूत्रों का पूर्ण निर्वाह हो जाने पर इतिहास के व्यवस्थित ढाँचे के निर्माण की समस्या ही पूरी नहीं हो जाती अपितु साहित्य के वास्तविक इतिहास के लेखन का कार्य भी सम्पन्न हो जाता है।

ऊपर गिनाये हुए दूसरे और तीसरे सूत्रों का यदि उचित दृष्टिभंगी के साथ विनियोग हो तो साहित्य की अन्तर्वर्तिनी मूलधारा की निरवच्छिन्न एकता और अजस्रता का बोध अवश्य होने लगे, और इस प्रकार जीवन तथा जगत् की वास्तविकता के बीच साहित्य की ज्योति जगमगाती दीख पड़े। साहित्य-धारा की इस व्यापक एकसूत्रता की ओर शुक्ल जी का ध्यान सदैव आकर्षित रहा। उन्होंने इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा :

१. हि० सा० इ०, पृ० १।

"हिन्दी-साहित्य के इतिहास की एक विशेषता यह भी रही कि एक विशिष्ट काल में किसी रूप की जो काव्य-सरिता वेग से प्रवाहित हुई वह यद्यपि आगे चलकर मन्द गति से बहने लगी, पर ९०० वर्षों के हिन्दी साहित्य के इतिहास में हम उसे कभी सर्वथा सूखी हुई नहीं पाते।"[१] इससे प्रकट है कि इतिहास-निर्माण की वैज्ञानिक पद्धति का आधार शुक्ल जी ने अवश्य लिया, यह दूसरी बात है कि सम्पूर्ण सामग्री के साथ उसका सामंजस्य बिठाने में वे कहाँ तक सफल हो सके।

काल-विभाजन :

काल-विभाजन में उन्होंने दो बातों पर ध्यान रखा—(१) किसी युग में अधिकता से पाई जाने वाली रचनायें (संख्या की दृष्टि से) (२) लोकप्रिय रचनायें। अधिकता से पाई जाने वाली रचनाओं के आधार पर युग-विभाजन युक्ति-संगत है, किन्तु जो रचनायें उस कोटि में नहीं आ पातीं उन्हें कहाँ ले जाया जाय यह व्यावहारिक प्रश्न बना ही रह जाता है। शुक्ल जी ने उन्हें 'फुटकल' खाते में डाला है। इसी प्रकार, जो लोकप्रिय रचनायें हैं वे इस बात की सूचना अवश्य देती हैं कि उस युग में जनता की चित्तवृत्ति कैसी थी, कैसी बातों के संरक्षण की ओर उसकी प्रवृत्ति थी और किस साहित्य-धारा के साथ उसके चित्त का लगाव था। किन्तु जो रचनायें किसी भिन्न प्रवृत्ति के अस्तित्व की सूचना देती हों लेकिन किसी कारण-वश अपने युग में लोकप्रिय न हो सकी हों वे, यदि, अनुसंधान के फलस्वरूप आगे चलकर उपलब्ध हों तो कहीं-न-कहीं स्थान पाने की अधिकारिणी अवश्य होंगी। और यदि स्थिति यह हो जाय कि ऐसी रचनाओं की संख्या बहुत अधिक होने लगे तो क्या यह सम्भव नहीं कि ये उस विशेष युग के नामकरण को ही प्रभावित करने लग जायँ? यदि बात ऐसी हो कि पुस्तकें लोकप्रियता न प्राप्त करने के कारण ही लुप्त हुई हों या कोने में पड़ी रह गई हों, तो शुक्ल जी की बात सच हो सकती है, किन्तु अपने देश में अन्य कारणों (राजनैतिक, साम्प्रदायिक आदि) से भी पुस्तकों का लुप्त हो जाना सर्वविदित है। ऐसा अनेक बार हुआ कि अनुसन्धित्सुओं को वे पुस्तकें बहुत पहले प्राप्त हो गईं जिनका साहित्यिक स्तर अत्यन्त निम्नकोटि का है और वे रचनायें जिनका साहित्य-सौष्ठव अपेक्षाकृत महत्तर है, बहुत बाद में मिलीं या सम्भव है अभी प्राप्त ही न हुई हों। इसलिये रचना की लोकप्रियता और जनरुचि का ज्ञान केवल इस आधार पर प्राप्त कर लेना कि पुस्तक लुप्त नहीं हुई सर्वदा सम्भव नहीं। यह अवश्य है कि युग-विभाजन और सामान्य प्रवृत्तियों के निरूपण में इस सिद्धान्त का उपयोग एक सीमा के अन्तर्गत किया जा सकता है।

आदिकाल :

युग-विभाजन और वर्गीकरण की दृष्टि से सबसे प्रमुख समस्या 'आदिकाल' के सीमा-निर्धारण और नामकरण की है। शुक्ल जी ने उपलब्ध रचनाओं की प्रचुरता

---

१. हिं० सा० इ०, पृ० ५९।

और साहित्य-सौष्ठव को लक्ष्य करके, उसे 'वीरगाथा-काल' कहा और उसका सूत्रपात, विक्रम संवत् १०५० से माना। किन्तु जैन और सिद्ध-साहित्य की उपेक्षा वे न कर सके। उन्होंने इतिहास के संशोधित संस्करण के दूसरे प्रकरण में 'अपभ्रंश-काल' शीर्षक के अन्तर्गत इस साहित्य का संक्षिप्त परिचय दिया है, लेकिन सिद्धों और योगियों के साहित्य में जीवन की स्वाभाविक सरणियों और दशाओं का निरूपण न देखकर, शुक्ल जी ने भाषा के विकास और जनता के संस्कारों की भूमिका को स्पष्ट करने के इरादे से ही, उसका अत्यन्त सीमित विवेचन किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस साहित्य का अधिकांश भाग साम्प्रदायिक शिक्षा या अन्तस्साधनाओं के जटिल विधि-विधानों से ही भरा पड़ा है, किन्तु कहीं-कहीं, शुद्ध-साहित्य की कोटि में आने वाले ऐसे प्रकरण भी उपलब्ध होते हैं जिनकी उपेक्षा रसवादी-दृष्टि नहीं कर सकती। स्वयंभू की रामायण को महापंडित राहुल सांकृत्यायन हिन्दी का सबसे प्राचीन और उच्चकोटि का काव्य ग्रन्थ मानते हैं।[1] शायद शुक्ल जी के समक्ष यह ग्रन्थ नहीं था, इसलिये उनके इतिहास में इसका उल्लेख नहीं हुआ। उस काल की अन्य धार्मिक रचनाओं के सम्बन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है:—

"परन्तु ऊपर जिस सामग्री की चर्चा की गई है उसमें कई रचनायें ऐसी हैं जो धार्मिक तो हैं किन्तु उनमें साहित्यिक सरसता बनाये रखने का पूरा प्रयास है। धर्म वहाँ कवि को केवल प्रेरणा दे रहा है।"[2]

डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने, सिद्धों के चर्यापदों को शुद्ध साहित्य की कोटि में न मानते हुए भी, उनमें कहीं-कहीं शुद्ध काव्य की छटा देखी है:—

"चर्यापद वास्तविक रूप में साहित्य नहीं कहे जा सकते। उनका अभिप्राय और उनका कर्म प्रमुखतः धार्मिक है, साहित्यिक नहीं। साहित्य के वास्तविक अर्थों में वे साहित्यिक सौन्दर्य से हीन हैं। उनका प्रमुख महत्त्व भाषात्मक तथा धार्मिक है। फिर भी कहीं-कहीं उनमें ऐसे पद मिल जाते हैं जिनमें असाहित्यिक वातावरण के बावजूद शुद्ध काव्य की छटा दीख पड़ती है।"[3]

सिद्ध-साहित्य के सम्बन्ध में, शुक्ल जी की धारणा चटर्जी महोदय की धारणा से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है, अन्तर केवल इतना है कि एक को उस साहित्य में काव्यत्व का पूर्णतया अभाव दिखाई पड़ता है और दूसरे को कहीं-कहीं उसका लेश-मात्र। "भाषात्मक और धार्मिक" महत्त्व के कारण ही शुक्ल जी ने अपने इतिहास में इन रचनाओं का उल्लेख किया था, यह हम देख चुके हैं।

डॉ० धर्मवीर भारती ने यह सिद्ध किया है कि ये सिद्ध और तान्त्रिक साधक हमारे काव्य-शास्त्र की परम्परा से पूर्णतया परिचित थे, किन्तु "उनके काव्य को

---

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ७।

२. वही, पृ० ११।

३. डा० धर्मवीर भारती द्वारा 'सिद्ध साहित्य'—पृ० २३७ पर उद्धृत।

आचार्य शुक्ल के निबन्ध :

निबन्ध-रचना का गुण शुक्ल जी में संस्कारगत था किन्तु उसको निखारने के लिये उन्होंने महती साधना की। इन साधनाओं की उपेक्षा हम नहीं कर सकते। उनके प्रारम्भिक-निबन्धों में भारतेन्दु और द्विवेदीकालीन प्रवृतियाँ प्रमुख हैं, किन्तु बाद वाले निबन्धों में उनका लोप हो गया। बात यह है कि शुक्ल जी की साहित्य-सृष्टि जिन चालीस वर्षों के बीच हुई वे हिन्दी भाषा के अत्यन्त क्षिप्रगामी प्रवाह के बीच पड़ते हैं। इसलिए एकही व्यक्ति की प्रारम्भिक और अंतिम रचनाओं में जितना अधिक भेद इस युग में हो गया उतना अन्य युगों में कम ही दिखाई पड़ता है। इस भेद को दिखाने और आचार्य शुक्ल की साहित्य-साधना को स्पष्ट करने के लिये हम उनके निबन्धों का क्रमिक विकास पहले दिखा रहे हैं और उसके बाद उनकी सामान्य विशेषताओं का उद्‌घाटन करेंगे। विशेषताओं के उद्‌घाटन में इस बात का ध्यान रखा जायगा कि उत्कृष्ट कोटि के निबन्धों की जो कसौटी शुक्ल जी ने बताई थी उसके आधार पर उनके निबन्धों का मूल्यांकन किया जाय। निबन्धों के स्वरूप और उनके वर्गीकरण के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल की मान्यतायें क्या हैं, यह हम 'साहित्यिक मान्यतायें' नामक प्रकरण में देख चुके हैं। उन्हें यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं। वे ही धारणायें आज भी मान्य हैं, इसलिये उनका आधार लेकर शुक्ल जी के निबन्धों के मूल्यांकन में प्रवृत्त हो सकते हैं।

निबन्ध-लेखन शुक्ल जी के साहित्यिक व्यक्तित्व का प्रधान अंग था। जीवन के उषःकाल में ही उन्होंने स्वतंत्र ढंग से निबन्ध लिखने का प्रयास किया था और कालांतर में गम्भीर अध्ययन से ज्यों-ज्यों उनकी विचार-शक्ति बढ़ती चली गई तथा जीवनानुभव व्यापक होता चला गया त्यों-त्यों उनके निबन्धों में भी विचार तथा शैली संबंधी पुष्टता, गंभीरता और सघनता आती चली गई। हमें यह देखकर विस्मय अवश्य होगा कि केवल चौबीस वर्ष की अवस्था प्राप्त करते करते उनमें प्रौढ़ निबन्ध लेखक के गुण विकसित हो चुके थे। प्रारंभिक निबन्ध ही इस बात के सूचक हैं कि उनके भीतर से ही महिमाशाली निबन्ध-लेखक की कला जन्म लेने वाली है। विषय-विवेचन, भाषा और गठन आदि की दृष्टि से उत्तरोत्तर होता चलने वाला परिष्कार यह सूचित करता है कि निबन्ध कला की प्रौढ़ता को प्राप्त करने के लिये वे सतत गतिशील रहे। उनकी यह साधना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है किन्तु अक्सर भुला दी जाती है। लगभग सभी विद्वान् उनके निबन्धों के अंतिम रूप को लेकर ही वस्तु और शैली की परीक्षा में तल्लीन हो जाते हैं और पाठक का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित नहीं कर पाते कि निबन्ध के अंतिम रूप को तैयार करने के लिये उन्होंने प्रारम्भिक रूपों में कितना परिमार्जन किया। वस्तुतः शुक्ल जी का प्रारम्भिक निबन्ध-लेखन द्विवेदी युग में हुआ जो हिन्दी-गद्य के संस्कार और परिष्कार का युग था। उसमें गद्य का स्वरूप स्थिर नहीं हो सका था, यद्यपि इस दिशा में प्रयत्न बहुत किये गये। द्विवेदी-युग के बाद भी शुक्ल जी की

निबन्ध-रचना चलती रही किन्तु भाषा का स्वरूप स्थिर हो जाने के कारण उसमें संशोधन-परिवर्द्धन की आवश्यकता नहीं थी। इसलिये 'हिन्दी-गद्य' के विकास का प्रतिबिम्ब उनके प्रारंभिक निबन्धों में अधिक मिलता है। बाद के निबन्धों में उसके विकसित-रूप का ही प्रतिबिम्ब है। उनकी अपनी साधना हिन्दी-गद्य की साधना है। यहाँ प्रारम्भिक निबन्धों का परिचय देकर शुक्ल जी की उसी साधना का निरूपण किया जा रहा है।

द्विवेदी-युग के अन्य निबन्ध लेखकों की भाँति उन्होंने भी प्रारंभ में अंग्रेजी निबन्धों के आधार पर कुछ हिन्दी निबन्ध लिखे थे जो 'सरस्वती' की प्रारम्भिक संख्याओं में प्रकाशित हुए। 'प्राचीन भारतवासियों का पहिरावा'[1] और 'साहित्य'[2] शीर्षक निबन्ध ऐसे ही हैं। इसलिये इन निबन्धों के आधार पर हम उनके विचारों का मूल्यांकन तो नहीं कर सकते, किन्तु भाषा-शैली और विषय-विवेचन की कला का परिचय अवश्य प्राप्त कर सकते हैं। इन निबन्धों में एक ओर तो शुक्ल जी की उस चुस्त और अर्थ-गर्भित भाषा का आभास मिलता है जो उनकी निजी विशेषता बन गई और दूसरी ओर विभक्तियों, शब्दों और वाक्यों के ऐसे पुराने प्रयोग मिलते हैं जो अर्द्ध-विकसित हिन्दी गद्य के व्यापक शैथिल्य के निदर्शक हैं। सुगठित शैली का आभास देने वाला एक उदाहरण निम्नांकित है :

"उत्तम ग्रन्थकार वह नहीं है जो गद्य या पद्य में सुन्दर भड़कीले-भड़कीले शब्दों से गुँथा हुआ कोई पद बना सके, उत्कृष्ट कवि वही है जिसे कुछ कहना होता है और जो यह जानता है कि उसे किस प्रकार कहना चाहिये।"[3]

यद्यपि उक्त वाक्य अंग्रेजी वाक्य का सार प्रकट करता है और उसमें गठन का वह चारुत्व तथा घनत्व नहीं आ पाया जो आगे चलकर विकसित हुआ तथापि उसका कुछ आभास अवश्य मिल जाता है। अपने वक्तव्य को दृढ़तापूर्वक कहने की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है।

उसी लेख में से भाषा-शैथिल्य के दो उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं :—

"ऊपर जो बातें कही गईं उन का अब मैं सारांश प्रकाशित करता हूँ कि साहित्य क्या है ?"[4]

और

".....वाग्वीणा के प्रत्येक स्वरों को खींचकर एक करता हुआ अपनी शक्ति पूर्णता का अनुभव कराता है "[5]

---

१. सरस्वती, भाग ३, सं० १०।
२. सरस्वती, भाग ५, सं० ५, ६।
३. वही, पृ० १९१।
४. वही, पृ० १९१।
५. वही, भाग ५, पृ० १५७।

पहले उद्धरण में 'साहित्य क्या है ?' वाक्यांश एक दम स्वतन्त्र होने पर भी जबरदस्ती उसी वाक्य में जोड़ दिया गया है। लेकिन वह उसमें बैठ नहीं सका और समूची वाक्य-योजना दूषित हो गई। 'प्रकाशित करता हूँ' जैसा प्रयोग पुराने युग की ही याद दिलाता है। आगे चलकर जब लोग अंग्रेजी की नकल पर 'प्रकाश डालता हूँ' लिखने लगे तब शुक्ल जी स्वयं ही उसके विरुद्ध हो गये और इन्दौर वाले भाषण[1] में, व्यंग्य करते हुए कहा कि " 'प्रकाश डालना' तो मुझे नहीं आता।"

इसी प्रकार दूसरे वाक्य में 'प्रत्येक स्वरों' जैसा प्रयोग नितान्त अशुद्ध है। कहना अनावश्यक है कि शुक्ल जी के बाद वाले निबन्धों में ऐसे प्रयोग नहीं मिलते।

इसके बाद उनके दो मौलिक निबन्ध हमारे सामने आते हैं—(१) 'कविता क्या है' ?[2] और (२) 'उपन्यास'[3]। 'कविता क्या है ?' शीर्षक लेख को संयोग से महावीर प्रसाद द्विवेदी की लेखनी का स्पर्श मिल चुका था इसलिये उसकी भाषा-संबंधी त्रुटियों का परिमार्जन हो गया। लेकिन द्विवेदी जी ने केवल व्याकरण की अशुद्धियाँ ही नहीं निकालीं अपितु विचारों को अत्यन्त प्रभावशाली बनाने के लिये अनुच्छेद भी बदल डाले। 'सरस्वती' में जिस रूप में उक्त लेख प्रकाशित है उसका प्रारम्भ निम्नांकित ढंग से हुआ :—

"कविता से मनुष्य-भाव की रक्षा होती है। सृष्टि के पदार्थ या व्यापार विशेष को कविता इस तरह व्यक्त करती है मानो वे पदार्थ या व्यापार विशेष नेत्र के सामने नाचने लगते हैं। वे मूर्त्तिमान दिखाई देने लगते हैं।"[4]

किन्तु शुक्ल जी का भेजा हुआ रूप इससे किंचित् भिन्न था, जो निम्नांकित उद्धरण से स्पष्ट है :—

"कविता मनुष्यता की संरक्षिणी है। कविता सृष्टि के किसी पदार्थ वा व्यापार के उन अंशों को छाँट कर प्रत्यक्ष करती है जिनकी उत्तमता वा बुराई मनुष्य मात्र की कल्पना में इतनी प्रत्यक्ष हो जाती है.....।"[5]

शब्दों, क्रियाओं और विभक्तियों आदि की जो अशुद्धियाँ द्विवेदी जी ने दूर कीं उनके कुछ उदाहरण डाक्टर उदयभानुसिंह की पुस्तक से यहाँ दिये जा रहे हैं :—

मूल रूप	संशोधित रूप
अस्थिपिंजर	अस्थि पंजर
अन्तर्ध्यान	अंतर्धान

१. चिं०, भाग २, पृ० १६०।
२. सरस्वती, भाग १०, सं० ४, पृ० १५५।
३. ना० प्र० प० (१९१०), भाग १५, सं० ३, पृ० २६।
४. सरस्वती, भाग १०, सं० ४, पृ० १५५।
५. 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग'।
डा० उदयभानुसिंह—पृ० ३३३।

मूल रूप	संशोधित रूप
समझी जानी लगी है	समझी जाने लगी है
की सामर्थ्य	का सामर्थ्य
लालच या धमकी ऐसी हैं जिससे	लालच या धमकी ऐसी है जिससे
चैतन्यता	चेतनता
दोनों में मानव हृदय पर किसका	मानव हृदय पर दोनों में से किसका

ऊपर के संशोधनों को ध्यान से देखने पर प्रतीत होगा कि भाषा की प्रवृत्ति और व्याकरण-व्यवस्था का जितना गहरा परिचय द्विवेदी जी ने प्राप्त किया था उतना शुक्ल जी ने भी नहीं। आगे चलकर शुक्ल जी के भीतर भी भाषा-संबंधी सजगता लगभग उसी सीमा तक विकसित हो गई जिस सीमा तक द्विवेदी जी में, किन्तु उक्त लेखों के प्रकाशन-काल तक तो वे अपने गद्य का परिमार्जन ही कर रहे थे। 'सरस्वती' में प्रकाशित होने के उपरांत उस लेख के विषय से संबंध रखने वाला अध्ययन और आगे बढ़ा—शुक्ल जी के विचारों में भी पर्याप्त विकास हुआ। इसलिये जब यही निबन्ध 'विचारवीथी', या 'चिंतामणि' में प्रकाशित हुआ, तब इसका रूप बिलकुल बदल चुका था। पहले की सहज, सरल और अपेक्षाकृत शिथिल वाक्य-रचना के विपरीत 'चिंतामणि' में अत्यन्त तर्कपूर्ण और गुम्फित विचार-शृंखला का नियोजन करके प्रारंभ में ही काव्य-साधना को 'भाव-योग' के रूप में प्रतिष्ठित करने और 'कर्म-योग' तथा 'ज्ञान-योग' के समकक्ष रखने का जो प्रयास किया गया उससे आगे आने वाली गंभीरता का आभास सहज ही मिल जाता है। पहला निबन्ध जिन उपशीर्षकों में विभक्त था उन से द्विवेदी-युगीन प्रारम्भिक निबन्ध-कला का कुछ-कुछ आभास मिलता है किन्तु 'चिंतामणि' में आए हुए शीर्षक तो प्रौढ़तर कला और गम्भीरतर विचारधारा की सूचना देते हैं—

'सरस्वती'	'चिंतामणि'
१—कार्य में प्रवृत्ति	१—सभ्यता के आवरण और कविता
२—मनोरंजन और स्वभाव संशोधन	२—कविता और सृष्टि प्रसार
३—उच्च आदर्श	३—मार्मिक तथ्य
४—कविता की आवश्यकता	४—काव्य और व्यवहार
५—सृष्टि-सौंदर्य	५—मनुष्यता की उच्च-भूमि
६—कविता का दुरुपयोग	६—भावना या कल्पना
७—कविता की भाषा	७—मनोरंजन
८—श्रुति-सुखदाता	८—सौंदर्य
९—अलंकार	९—चमत्कारवाद

चिंतामणि

१०—कविता की भाषा

११—अलंकार

१२—कविता पर अत्याचार

१३—कविता की आवश्यकता

यह परिवर्त्तन केवल विषय की ही दृष्टि से नहीं बल्कि रूपरचना और व्यवस्था की दृष्टि से भी किया गया। नये निबन्ध में द्विवेदीकृत अनेक संशोधनों का भी कहीं पता न रहा। लेख का प्रत्येक वाक्य शास्त्रीय गंभीरता और विचारों की गूढ़ता से भर उठा। अपने अंतिम रूप में पहुँचकर वह निबन्ध गूढ़-गुम्फित विचार-परम्परा का उत्कृष्ट वाहक बन गया और उसका मनन करने पर पाठकों को श्रम-साध्य नूतन उपलब्धि होने लगी। इस परिमार्जन में किसी सम्पादक आचार्य का योग नहीं रहा, शुक्ल जी ने निजी अनुभव, अध्ययन, चिन्तन और अभ्यास से निबन्ध के सुगठित रूप का विकास किया। यह रूप, एक दो दिन नहीं, वर्षों की साधना का परिणाम है।

'उपन्यास' शीर्षक लेख केवल एक बार 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' में मुद्रित हुआ, इसलिए उसका परिमार्जन नहीं हो सका। यह समझ नहीं पड़ता कि शुक्ल जी ने अपने किसी निबन्ध-संग्रह में उसे स्थान क्यों नहीं दिया। क्या 'साहित्य' आदि निबन्धों की भाँति इसकी रचना भी किसी अंग्रेजी लेख के आधार पर हुई है ? बात चाहे जो भी हो किन्तु भाषा का पुराना द्विवेदीयुगीन रूप इस में भी झलक मार रहा है :

"इनमें यदि थोड़े ऐसे हैं जिन्हें अपनी कल्पना और अनुभव का सहारा है तो बहुत से ऐसे भी हैं जिनका अन्य भाषाओं की अविख्यात पुस्तकों पर ही गुजारा है।"[1]

'सहारा है', 'गुजारा है' जैसे तुक-बद्ध प्रयोग हिन्दी-गद्य में प्रचलित उन भारतेन्दुकालीन प्रयोगों के स्मारक हैं जिनका उल्लेख अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में, पं० बदरीनारायण चौधरी की गद्य-शैली पर विचार करते हुए स्वयं शुक्ल जी ने ही, अत्यन्त विनोदपूर्ण ढंग से किया है।[2] 'हरिश्चन्द्र-समीक्षा' नामक एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध १९११ ई० में 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' में निकला। यही निबन्ध कुछ परिवर्द्धित संशोधित होकर चिंतामणि में छपा है और इसी की अनेक बातें साहित्य के इतिहास में भी रख दी गई हैं। इसमें भारतेन्दु के युगान्तरकारी महत्त्व का गम्भीर विवेचन है जो द्विवेदी काल में अक्सर कम ही मिलता है।

इन निबन्धों से आगे बढ़ने पर हम मनोविकारों पर लिखे गये निबन्धों के सामने पहुँचते हैं। इनकी विषय-वस्तु की कुछ चर्चा भाव-विवेचन वाले प्रकरण में की जा चुकी है जिससे प्रकट है कि पश्चिम में मनोविज्ञान सम्बन्धी जो अध्ययन-अनुसंधान हुआ उसका बड़ा गहरा प्रभाव इनके ऊपर पड़ा है।

१. ना० प्र० प० (१९१०), भाग १५, पृ० २६।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४६९।

ध्यान देने की बात है कि ये निबन्ध भी एक बार में ही अंतिम रूप तक नहीं पहुँच सके, अवसर मिलने पर इनमें भी परिमार्जन किया गया। ये निबन्ध 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' के विभिन्न अंकों में सन् १९१२ से लेकर सन् १९१९ तक प्रकाशित हुए थे। इन दिनों 'पत्रिका' के संपादक शुक्ल जी ही थे, इसलिए इनमें भाषा-सम्बन्धी प्रारम्भिक संशोधन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु आगे चलकर जब ये 'विचारवीथी' और 'चिन्तामणि' के संग्रहों के रूप में निकले तब इनके रूप-गठन और भाषा में बहुत अधिक परिमार्जन हो गया। यह भी शुक्ल जी की निजी शब्द-साधना और निबन्ध-कौशल का परिचायक है। भाषा में से व्याकरण की बारीक अशुद्धियों को उन्होंने किस प्रकार निकाला इसका एक उदाहरण निम्नांकित है :—

पहले लिखा गया था कि—"जिस पर करुणा की जाती है वह बदले में करुणा करने वाले पर भी करुणा नहीं करता (जैसा कि क्रोध और प्रेम में होता है) बल्कि कृतज्ञता, श्रद्धा और प्रेम करता है।"[१]

चिंतामणि में इसी वाक्य का यह रूप है:—

"जिस पर करुणा की जाती है वह बदले में करुणा करने वाले पर भी करुणा नहीं करता—जैसा कि क्रोध और प्रेम में होता है—बल्कि कृतज्ञ होता अथवा श्रद्धा या प्रीति करता है।"[२]

पहले वाक्य में 'कृतज्ञता, श्रद्धा और प्रेम करता है' कहने का अर्थ है यह कहना कि 'कृतज्ञता करता है' जो स्पष्टतः गलत है। शुद्ध रूप है, 'कृतज्ञता प्रकट करता है' या 'कृतज्ञ होता है' जैसा दूसरे वाक्य में कर दिया गया। 'प्रेम' के स्थान पर 'प्रीति' शब्द, कदाचित्, यह सोचकर लाया गया कि 'प्रेम' जहाँ भाव की क्षणिक दशा की ओर संकेत करता है वहाँ 'प्रीति' स्थायी दशा की ओर। ध्यान देने की बात है कि यहाँ 'श्रद्धा' के साथ उस शब्द का प्रयोग हुआ है और 'श्रद्धा' को वे 'स्थायी' आनन्द-पद्धति मानते हैं। 'लोभ और प्रेम' शीर्षक से जो निबन्ध 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' में निकला वह भी चिंतामणि में 'लोभ और प्रीति' शीर्षक से छपा।

निबन्धों की व्यवस्था की दृष्टि से भी पर्याप्त परिमार्जना हुई है। लेखों की पहली किश्त 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' में 'मनोविकारों का विकास' शीर्षक के अंतर्गत निकली। उसमें चार लेख थे—'भाव या मनोविकार', 'क्रोध', 'भय' और 'निद्रा का रहस्य'। अंतिम लेख को 'विचारवीथी' अथवा 'चिंतामणि' में समाविष्ट नहीं किया गया। इसका कारण यही है कि 'निद्रा' कोई मनोविकार नहीं अपितु एक अवस्था है जिस में मन की क्रियाएँ परिवर्तित हो जाती हैं। लेखमाला में उसे संचारी भाव मानकर ही स्थान दिया गया होगा। किन्तु चारों निबन्धों को एक साथ ही देख

---

१. ना० प्र० प०, भाग १८, सं० १२, पृ० १८।
२. चिं०, भाग १, पृ० ५२।

कर ऐसा अवश्य लगता है जैसे शुक्ल जी निबन्ध न लिखकर भाव-विवेचन से सम्बद्ध कोई मनोवैज्ञनिक ग्रंथ लिख रहे हों। उस लेखमाला में भावों की सुखात्मक और दुःखात्मक कोटियों का क्रम-विभाजन नहीं था, किन्तु 'चितामणि' में पहले सुखात्मक भावों का विवेचन है फिर दुःखात्मक भावों का। सुख और दुःख की द्वन्द्वात्मक अनुभूति को लक्ष्य करके ही उन्होंने 'चितामणि' के प्रारम्भ में कहा है—'अनुभूति के द्वन्द्व ही से प्राणी के जीवन का प्रारम्भ होता है।' 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' में इस वाक्य का निम्नांकित रूप था—"मूल तत्त्व की दोरंगी झलक का नाम व्यक्तावस्था है। यदि दुःख के बिना सुख है तो वह अव्यक्त है।"[1]

कहने की आवश्यकता नहीं, कि भाव-विवेचन के प्रसंग में दर्शन की जटिलता की कोई आवश्यकता न जानकर ही वाक्य में परिवर्त्तन किया गया। 'चितामणि' वाला वाक्य ही अधिक व्यंजक और उपयुक्त है। यदि ये निबन्ध भी 'सरस्वती' में प्रकाशित होते तो कदाचित् इनकी परिमार्जना बहुत कुछ द्विवेदी जी द्वारा ही हो जाती।

मनोविकारों से संबद्ध लेख-माला के समाप्त होते-होते शुक्ल जी की गद्य-साधना अपनी सिद्धि के निकट पहुँच गई। अवसर मिलने पर वे अपनी शैली और भाषा का परिमार्जन तो अवश्य करते रहे परन्तु अब उसकी इतनी आवश्यकता ही नहीं रह गई जितनी पहले थी। इसीलिए बाद वाले लेखों में परिवर्तन-संशोधन बहुत कम दिखाई पड़ता है। उनके अनेक साहित्यिक निबन्ध जो आकार-प्रकार में बहुत बड़े हैं (किन्तु जिन्हें निबन्ध कहना ही समुचित है) इसी समय प्रकाशित हुए। सन् १९२३ की 'माधुरी' में 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' शीर्षक निबन्ध निकला और लगभग चार वर्ष बाद पुस्तक रूप में 'काव्य में रहस्यवाद' निकला। जब वे 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के साहित्य-परिषद् के सभापति बने तब उन्होंने तत्कालीन साहित्यिक समस्याओं का गम्भीर विश्लेषण करते हुए एक बड़ा भाषण लिखा जो अपनी विशिष्ट शैली के कारण निवन्धों की श्रेणी में ही स्थान प्राप्त कर सकता है। यह भी छोटी पुस्तिका के रूप में अलग प्रकाशित है। किन्तु बाद में पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा संपादित 'चितामणि' के दूसरे भाग में उक्त तीनों निबन्ध एक साथ प्रकाशित कर दिये गये हैं। 'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' तथा 'रसात्मक बोध के विविध रूप' शीर्षक तीन निबन्ध जो 'चितामणि' के पहले भाग में प्रकाशित हैं, इसी युग की रचनायें हैं। 'हिन्दुस्तानी का उद्गम' शीर्षक एक छोटी पुस्तिका भी उन्होंने १९३८ में प्रकाशित की जो वस्तुतः एक निवन्ध ही है।

उक्त निबन्धों के शीर्षकों को देखने से ही प्रकट हो जाता है कि आचार्य का

---

१. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, जुलाई १९१२, पृ० १६।

अधिक झुकाव साहित्यिक समस्याओं की ओर है। हिन्दी कविता की विभिन्न प्रवृत्तियों और धाराओं से लगी हुई समस्याओं पर विचार करने के लिए ही ये निबन्ध लिखे गये थे। इनमें लेखक की गम्भीर विश्लेषण-क्षमता, प्रौढ़ विचार-धारा, सुस्पष्ट चिन्तन और व्यापक साहित्य-दृष्टि की अभिव्यक्ति हुई है। इनमें परिष्कार और परिमार्जन की आवश्यकता नहीं थी।

ऊपर संक्षेप में शुक्ल जी के निबन्ध-लेखन का क्रमिक विकास दिखाने के साथ-साथ उनके निबन्ध-साहित्य का परिचय भी दिया गया है। आगे उनकी विशिष्टताओं के उद्घाटन का प्रयास किया जा रहा है।

मौलिकता :

सबसे पहली बात है, लेखक का मौलिक चिन्तन और तर्क-योजना। शुक्ल जी की सबसे बड़ी विशेषता यही थी कि किसी भी प्रश्न पर विचार करते समय उस मूल तत्त्व को पकड़ लेते थे जिस के इर्द-गिर्द सारी समस्याएँ घूमती रहती थीं। प्रश्न को हल करने में बाधा उत्पन्न करने वाले उपकरणों को उनकी सहज बुद्धि तुरन्त पहचान लेती थी। इसीलिए उनकी तर्क-योजना इतनी प्रबल बन सकी। उनकी मौलिकता इस बात में दिखाई पड़ती है कि दूसरे के विचारों को भी अपनी बुद्धि की कसौटी पर कस कर ही स्वीकार कर पाते थे और नूतन उद्भावना करने में अक्सर समर्थ होते थे। हम अन्यत्र कह आये हैं कि मनोविकारों पर लिखे हुए निबन्ध भी पाश्चात्य मनोविज्ञान से प्रभावित हैं। कुछ समानान्तर उद्धरणों से भी यह सिद्ध कर चुके हैं कि भाव की प्रवृत्तियों, स्वरूपों और प्रतिक्रियाओं आदि के सम्बन्ध में जो बातें कही गई हैं वे अधिकतर पश्चिमी मनोविज्ञान में निरूपित थीं, किन्तु हमने यह संकेत भी दे दिया था कि इन निबन्धों को साहित्यिक निबन्ध (Abstract Literary Pieces) के रूप में ही देखना चाहिए। इन निबन्धों में शुक्ल जी की मौलिकता इस बात में नहीं दिखाई पड़ती कि उन्होंने मनोविज्ञान सम्बन्धी कोई नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया या भावों के स्वरूप, वेग आदि के सम्बन्ध में कोई नूतन स्थापनायें दीं। उनकी मौलिकता इस बात में है कि मनोविज्ञान द्वारा उद्घाटित सूत्रों और निष्कर्षों को लेकर, व्यावहारिक जीवन में उनका विनियोग करते हुए साहित्यिक निबन्ध लिखे, ठीक उसी प्रकार जैसे कोई सफल साहित्यकार विज्ञान के आधुनिक आविष्कारों को लेकर स्वतन्त्र साहित्यिक निबन्ध लिखे, जिसमें व्यावहारिक जीवन का समावेश पूरा-पूरा हो सके। ऐसे निबन्धों के लिए सामग्री, मनोविज्ञान से ही नहीं, जीवन के किसी भी ज्ञान-क्षेत्र से चुनी जा सकती है। उस चुनी हुई सामग्री के लिए ऐसे लेखक को मौलिकता का श्रेय नहीं दिया जा सकता, सामग्री के साहित्यिक विनियोग के लिए ही दिया जा सकता है। यह बात इतना जोर देकर इसलिए कहनी पड़ती है कि अनेक विद्वान् बेकन के मनोविकार-सम्बन्धी निबन्धों से शुक्ल जी के निबन्धों की तुलना करते समय कुछ ऐसा विश्वास उत्पन्न करने का प्रयास करते दीख पड़ते हैं कि शुक्ल जी के

विवेचन में अधिक व्यापकता, पूर्णता और वैज्ञानिकता है। इस तुलना में यह बात बिल्कुल भुला दी जाती है कि बेकन के निबन्ध सोलहवीं शती में लिखे गये थे जब मनोविज्ञान नाम की किसी चीज का अस्तित्व ही नहीं था। बेकन ने जो कुछ लिखा वह अधिकतर जीवनानुभव के रूप में है। उदाहरण के लिए 'ईर्ष्या' के विवेचन में उसने तीन प्रश्नों पर विचार किया—ईर्ष्या कौन करता है ? ईर्ष्या किससे की जाती है ? और समाज को ईर्ष्या से हानि-लाभ क्या हैं ? आज कोई नहीं कह सकता कि यह 'ईर्ष्या' नामक भाव का वैज्ञानिक निरूपण है। किन्तु शुक्ल जी ने इसी शीर्षक से जो निबन्ध लिखा उसमें 'भाव' के स्वरूप, लक्षण, प्रवृत्ति आदि का विस्तृत निरूपण है। हम भाव-विवेचन के प्रसंग में दिखा आये हैं कि यह विस्तार अधिकतर मनोविज्ञान के क्षेत्र से ही लिया गया है जो पश्चिम में विकसित हुआ। यदि बेकन के पहले भी मनोविज्ञान की लम्बी परम्परा होती और भावों का सूक्ष्म विश्लेषण उसके भीतर हो चुका होता तो उनके निबन्धों का स्वरूप कुछ और ही होता। इसलिए विद्वानों के लिखे हुए ऐसे वाक्यों से भ्रम की आशंका बहुत है :

"सत्रहवीं शताब्दी में अंग्रेजी में 'बेकन' ने मनोविकारों पर लघु निबन्धों के रूप में अवश्य चिन्तन किया है, पर जितनी पूर्ण विवेचना शुक्ल जी के निबन्धों में पाई जाती है, उतनी उनमें कहाँ है ? (शतांश भी नहीं है।)"[1]

हम पहले देख चुके हैं कि शुक्ल जी की 'पूर्ण विवेचना' के लिए बहुत कुछ आधार पश्चिमी मनोविज्ञान ने ही प्रस्तुत किया।

बुद्धि और हृदय का योग :

दूसरी बात, जो इन निबन्धों में अत्यन्त परिस्फुट है, और जिसके कारण साहित्यिक स्वारस्य की पर्याप्त अभिवृद्धि हो गई है, यह माननी पड़ेगी कि इनमें 'हृदय' और 'बुद्धि' का मणि-कांचन योग है। प्रारम्भ में स्वयं लेखक ने ही लिख दिया है कि 'यात्रा पर बुद्धि ही निकलती रही है पर हृदय को साथ लेकर।' बुद्धि ने मार्ग निकाला और तय किया किन्तु हृदय अपनी प्रवृत्ति के अनुसार अवसर मिलते ही कुछ न कुछ गुनगुनाता चला गया। मनोविकारों पर लिखे गये निबन्धों में हृदय की यह गूँज कुछ अधिक सुनाई पड़ती है, साहित्यिक निबन्धों में अपेक्षाकृत कुछ कम। किन्तु यह मानना असंगत होगा कि साहित्यिक निबन्धों में कोरा तर्क और विश्लेषण है, शुष्क प्रतिपादन है। शुष्क प्रतिपादन तो उनके साहित्य-मात्र में नहीं है। फिर भी उनके सभी निबन्ध विचारात्मक ही कहे जायेंगे। हृदय का योग तो यात्राजनित श्रम के परिहार के लिए लिया गया है। और साहित्यिक स्वारस्य की रक्षा करते हुए लेखक ने पाठकों को गंभीर-विचारों की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया है। यदि

---

१. 'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल' प्रो० विनय मोहन शर्मा का लेख, पृ० १५१।

पाठक प्रत्येक वाक्य पर ध्यान देता चला जाय और नियोजित तर्क-शृंखला की किसी कड़ी को न छोड़े तो उसे सम्पूर्ण विचारधारा को हृदयंगम करने में कोई कठिनाई नहीं होगी, बीच-बीच के भावुकता-प्रधान प्रसंगों में रम जाने के कारण उसे मधुर तन्मयता का भी अनुभव होगा। किन्तु यदि वह विचार-शृंखला की किसी कड़ी को छोड़ देता है तो उक्त निबन्धों की पूरी तर्क-योजना को ग्रहण करना कठिन होगा। शुक्ल जी के निबन्धों में अधिक गम्भीरता या दुरूहता का अनुभव केवल वही पाठक कर सकते हैं जो उनके विचार-क्रम की उपेक्षा करते हैं और ऐसे लोग ही उनमें शुष्कता का आभास पाते हैं।

गूढ़-गुम्फित विचार-परम्परा :

ऊपर के विवरण से तीसरी बात यह स्पष्ट हो जाती है कि उक्त निबन्धों में विचारों की क्रमबद्ध एवं 'गूढ़-गुम्फित' परंपरा है। शुक्ल जी के 'लेखन' की शैली-सम्बन्धी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि केवल अनुच्छेदों ही नहीं वाक्यों तक के पूर्वापर-क्रम में जनक-जन्य सम्बन्ध स्थापित होता चला गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पिछला वाक्य अगले वाक्य को और पिछला अनुच्छेद अगले अनुच्छेद को स्वयं ही आविर्भूत कर देता है। यह सम्बन्ध भी इतना सघन और नीरंध्र है कि उसके बीच विचारों की कोई दरार नहीं रहती और न ही किसी शब्द के निकालने की आवश्यकता रहती है। उस 'गूढ़ गुंफ' में से किसी वाक्य को तो क्या, किसी एक शब्द को भी, बाहर निकाल लेना कभी-कभी विचार-परंपरा और शैली दोनों को कलुषित कर सकता है। शुक्ल जी के प्रारंभिक निबन्धों में यह चीज़ बहुत कम विकसित थी किन्तु बाद वाली रचनाओं में इसका पूर्ण विकास हो गया। ध्यान में रखने की बात है कि यही वह विशेषता है जिसे ग्रहण करने के कारण शुक्ल जी के निबन्धों का गौरव बढ़ गया है। विचारों की मौलिकता और वैज्ञानिकता की बात को अगर अलग रख दिया जाय तो भी केवल इसी गुण के कारण उनका महत्त्व अक्षुण्ण रह सकता था।

पूर्व-पक्ष की योजना :

इसी विशेषता के साथ महत्त्व की बात भी यह है कि विषय-विवेचन अथवा सिद्धांत-प्रतिपादन की शैली और उसके लिये गृहीत तर्क-योजना अत्यन्त पूर्ण और अकाट्य जान पड़ती है। किसी विषय अथवा सिद्धांत के शास्त्रीय विश्लेषण के लिये उसका ठीक ठीक स्वरूप आँकना और उसके सम्बन्ध में पूर्व-पक्ष का सर्वांगपूर्ण विधान अत्यन्त आवश्यक है। जब तक पूर्व-पक्ष के सभी तर्कों को प्रस्तुत नहीं किया जायेगा तब तक उत्तर-पक्ष के विधान की कोई संभावना हो ही नहीं सकती। एक क्षण के लिए पूर्व-पक्ष की दुर्बलताओं का लाभ उठाकर स्वपक्ष का प्रतिपादन और स्थापन अवश्य हो सकता है, किन्तु शास्त्र-चिन्तन की परंपरा में ऐसा 'स्थापन' कहीं टिक

नहीं सकता। शुक्ल जी के विचार-क्रम में जितना 'गूढ़-गुम्फ' है उनकी प्रतिपादन शैली में भी उतना ही अधिक घनत्व है। उनकी तर्क-योजना में दरार या विरोध अत्यन्त विरल है। प्रतिपक्ष को प्रस्तुत करने में वे पूर्ण संयम से काम लेते हैं और जहाँ तक हो पाता है उसके सभी संभावित तर्कों की परिकल्पना कर लेते हैं, तदुपरांत अत्यन्त दृढ़ और निर्भीक स्वर में स्वपक्ष का प्रतिपादन प्रारंभ करते हैं। जैसा जैनेन्द्र जी ने बताया है, वे चौहद्दी बाँध कर अपने विपक्षी को पहले ही घेर लेते हैं, और जब वह कहीं भाग निकलने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है तब उसे अपने प्रहार से क्षत-विक्षत कर देते हैं।[1] पाठक उनके विचारों से सब कहीं सहमत हो या न हो किन्तु उनकी दुर्निवार प्रतिपादन-शैली और अकाट्य तर्क-योजना का कायल वह अवश्य होगा। इसका परिणाम यह भी होता है कि साधारण कोटि के पाठक विचारों के तीव्र प्रवाह में पड़े रहने के कारण तर्कों की उन दुर्बलताओं को नहीं पकड़ पाते जो कहीं, कहीं धीमानों को दिखाई पड़ती हैं। अंतर्विरोध प्रायः प्रत्येक व्यक्तित्व में होता है, वह किसी सीमा तक शुक्ल जी में भी है, किन्तु विचारों के तीव्र वेग और चिन्तन की धारावाहिक गति के कारण उसे सहज भाव से लक्ष्य नहीं किया जा सकता।

विषय संबद्धता :

विचारों के इस धारावाहिक क्रम में विषयांतर के लिए कोई अवकाश नहीं। उनके निबन्धों में मुख्य विषय से किसी न किसी प्रकार संबद्ध रहने वाले विषय ही आते हैं। बहुत कम ऐसे अवसर मिलेंगे जब प्रधान विचार-सूत्र को छोड़कर किसी अनपेक्षित प्रसंग का निरूपण अथवा किसी महत्त्वहीन प्रकरण का विस्तार उन्होंने किया हो। यदि किसी विशेष प्रकरण को पुष्ट या स्पष्ट करने के लिए किसी अन्य प्रसंग का लाना अनिवार्य हुआ तो उसका समावेश करते हैं अन्यथा नहीं। उनके निबन्धों में विचारों की सघनता होने का सबसे प्रमुख कारण यही है।

विवेचन की प्रक्रिया :

विषय के स्वरूप का विवेचन करते हुए वे पहले, निष्कर्ष को ही अत्यन्त सुगठित भाषा में सूत्ररूप में कह देते हैं, तदुपरांत आवश्यक विश्लेषण और दृष्टान्तों से स्वपक्ष का मंडन करते हैं। उनकी यह पद्धति शास्त्रानुगामिनी है, जैसे 'कारिका' लिखकर 'वृत्ति' और फिर भाष्य लिख रहे हों। इसलिए किसी प्रसंग का पहला वाक्य सहज बोध-गम्य नहीं होता। प्रायः अनुच्छेद के अन्त तक पढ़ते-पढ़ते, जब स्थूल प्रमाण सामने आ जाता है, तभी पाठक प्रारम्भिक वाक्य का पूर्ण मर्म ग्रहण कर पाता है। इसे विवेचन की निगमनशैली कहते हैं और गम्भीर विषयों के निरूपण में इसका योग अनिवार्य माना जाता है। अपने समीक्षात्मक निबन्धों में भी शुक्ल जी इसी का आश्रय लिया करते हैं।

---

१. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४६।

व्यक्तित्व का प्रक्षेपण :

शुक्ल जी मुख्यतः विषय-प्रधान निबन्धों के रचयिता हैं—विषय-विश्लेषण और सिद्धान्त-स्थापन ही उनका प्रधान लक्ष्य है, किन्तु यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि वे नितान्त तटस्थ विवेचक हैं। दूसरे शब्दों में, उनके निबन्धों में हमें उनका व्यक्तित्व साफ़ दिखाई पड़ता है। एक विशिष्ट प्रकार की विचार-धारा के साथ-साथ तद्वत् भाषा और शैली का संयोग, और उन दोनों के ऊपर भासमान होने वाला लेखक का अडिग आत्म-विश्वास जिसके भीतर एक ओर प्रतिपक्षी के खण्डन का आवेश तथा दूसरी ओर स्वपक्ष के संस्थापन का आवेग भी सम्मिलित रहता है—यही है, उनका व्यक्तित्व जो उक्त रचनाओं में अत्यन्त मुखर है। प्राधान्य व्यक्ति का माना जाय अथवा विषय का, यह बात कदाचित् उनके सामने भी स्पष्ट नहीं थी। इसलिए चिन्तामणि के निवेदन में उन्होंने लिखा कि—

"इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ कि ये निबन्ध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान।"

लेकिन निबन्धों को ध्यान से देखने पर यह ज्ञात हो जाता है कि इनमें लेखक का व्यक्तित्व भले ही उद्भासित हो गया हो किन्तु उसका प्रक्षेपण इतना अधिक नहीं हुआ कि विषय-विवेचन को गौणता प्राप्त हो गई हो। पाठक को प्रस्तुत वस्तु की विचारणा में ही डूबने का अवसर मिलता है लेखक के अप्रत्यक्ष व्यक्तित्व के साथ घनिष्ठता बढ़ाने का संयोग उसे कम ही मिल पाता है। इसलिए इन निबन्धों को एक ओर तो विचारात्मक और दूसरी ओर विषय-प्रधान कहना ही अधिक युक्तियुक्त है।

निबन्धों के भीतर लेखक का व्यक्तित्व निजी, वैयक्तिक घटनाओं के समावेश से भी परिस्फुट हुआ करता है। यदि ऐसे प्रकरण अधिक आने लग जायँ जिनमें लेखक के अपने अनुभवों का प्रमाण लिया गया हो तो विषय से अधिक प्रधानता निबन्धकार के व्यक्तित्व को ही मिल जायेगी। स्वानुभव के आधार पर विषय का निरूपण तो सभी लेखक करते हैं किन्तु अपने अस्तित्व का बार-बार बोध कराते रहने से पाठक के मन पर लेखक ही छा जाया करता है। शुक्ल जी के निबन्धों में ऐसे संकेत बहुधा आ जाया करते हैं किन्तु प्रसंग में उनकी अनिवार्यता का अनुभव प्रायः प्रत्येक पाठक करेगा। विषय के स्पष्टीकरण के लिये ही वे इन प्रसंगों का सन्निवेश करते हैं, क्षेपक जोड़ना उनका लक्ष्य नहीं। नीचे लिखे वाक्य प्रसंग के बीच अपनी उपयोगिता स्वयं प्रमाणित करते हैं:

"मैंने कुत्ते के कई शौकीनों को अपने कुत्ते की बदतमीजी पर शरमाते देखा है।"[1]

'बसन्त का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—"महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है!' इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोककर

१. चिं०, भाग १, पृ०६१।

कहा, 'यहाँ महुए-सहुए का नाम न लीजिये, लोग देहाती समझेंगे।' मैं चुप हो गया, समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।"[१]

गोचर-विधान :

लोकोक्तियों, मुहावरों और लाक्षणिक प्रयोगों की सहायता से विषय के गोचर प्रत्यक्षीकरण का विधान भी निबन्धों में पाया जाता है। शुक्ल जी काव्य में जिस बिम्ब-ग्रहण को इतना अनिवार्य मानते थे वह उनके निबन्धों में ही अनेक स्थलों पर उभर आया है। उक्त विशेषता को गद्य के उदाहरण से समझाते हुए उन्होंने कहा था कि "'समय बीता जाता है' की अपेक्षा समय भागा जाता है' कहना (कविता) अधिक पसन्द करेगी।" भाषा का यह लाक्षणिक विधान उनके गद्य-साहित्य में भी अक्सर दिखाई पड़ता है।

निम्नांकित वाक्य उदाहरणस्वरूप है :—

"यही बाहर हँसता-खेलता, रोता-गाता, खिलता-मुरझाता, जगत भीतर भी है जिसे हम मन कहते हैं।"[२]

"ये स्मारक न जाने कितनी बातें अपने पेट में लिए कहीं खड़े, कहीं बैठे, कहीं पड़े हैं।"[३]

"ऐसी उच्च मनोभूमि की प्राप्ति, जिसमें अपने दोषों को झुक-झुक कर ही नहीं, उठा-उठा कर देखने की भी प्रवृत्ति होती है।"[४]

उक्त वाक्यों में तर्क-बल नहीं है। वे लेखक के मन्तव्य को, विश्लेषण के सहारे मनवाने का विधान नहीं करते अपितु कल्पना में वस्तु का साकार रूप उपस्थित करके राग-तन्तुओं को स्पर्श करने का प्रयास करते हैं। उसकी बोध-वृत्ति को न पकड़ कर, आस्था या विश्वास को वक्तव्य वस्तु के प्रति सजग करते हैं।

व्यंग्य-विनोद :

व्यंग्य और विनोद का आश्रय परपक्ष के खण्डन के लिये, शुक्ल जी अक्सर लेते हैं। उनके गंभीर निबंधों में इसके लिये इतना अधिक अवकाश निकल आता है, यह कम विस्मय की बात नहीं। जो पाठक उनकी वक्तव्य वस्तु के विरुद्ध सोचते हैं उनके ऊपर इन व्यंग्यों का कैसा उद्वग-जनक प्रभाव पड़ता होगा यह केवल अनुमान की वस्तु है, किन्तु जो लोग उनसे सहमत हैं, उन्हें तो ऐसा प्रतीत होगा कि उनके मन का सारा आक्रोश और सारी घृणा लेखक की वाणी में फूट पड़ी है। यह व्यंग्य भी मनोरागों को ही जगाता है, प्रतिपक्षियों में क्रोध और अशान्ति, तथा समर्थकों में अनुराग और श्रद्धा। 'कविता क्या है?' शीर्षक लेख का अन्तिम वाक्य 'जानवरों

१. चिं०, भाग १, पृ० ७८।
२. वही, पृ० १६५।
३. वही, पृ० २६२।
४. वही, पृ० २०४।

को इसकी जरूरत नहीं' उन लोगों के ऊपर बड़ा क्रूर व्यंग्य है जो समाज में कवियों और कविताओं को अनावश्यक तथा हानिकारक समझते हैं।

नवीनता-प्रेमी कवियों और लेखकों को लक्ष्य कर अपने व्यंग को और भी स्थूल और कठोर करते हुए उन्होंने कहा :—

"दिन में सैकड़ों बार 'हृदय की अनुभूति', 'हृदय की अनुभूति' चिल्लायेंगे, पर रस का नाम सुनकर ऐसा मुँह बनायेंगे मानों उसे न जाने कितना पीछे छोड़ आये हैं। भलेमानुस इतना भी नहीं जानते कि हृदय की अनुभूति ही साहित्य में 'रस' और 'भाव' कहलाती है। यदि जानते तो कोई नया आविष्कार समझ कर 'हृदयवाद' लेकर सामने न आते। संभव है इसका पता पाने पर कि 'हृदयवाद' तो 'रसवाद' ही है, वे इस शब्द को छोड़ दें।"[1]

रहस्यवादियों या निर्गुणियों के ऊपर व्यंग्य करते हुए उन्होंने कहा कि :—

"जो कोई यह कहे कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे हैं, उसे काव्य-क्षेत्र से निकलकर मतवालों (साम्प्रदायिकों) के बीच अपना हाव-भाव और नृत्य दिखाना चाहिए। वहीं ऐसी अनुभूति पर विश्वास करने वाले मिलेंगे।"[2]

व्यंग्य-विनोद के द्वारा शुक्ल जी केवल अपने आक्रोश को ही नहीं व्यक्त करते अपितु विषय के स्वरूप का विश्लेषण भी करते चलते हैं जो उनका मुख्य लक्ष्य है। ऊपर के उद्धरणों में तथ्य-निरूपण की यह प्रवृत्ति अत्यन्त प्रत्यक्ष है।

उनके निबन्धों में साहित्यिक स्वारस्य का विधान भी बहुत कुछ ऐसे ही प्रसंगों द्वारा सम्भव हुआ है।

भाषा की समाहार शक्ति :

निबन्धों में आये हुए सूत्रात्मक वाक्य शुक्ल जी की भाषा की समाहारशक्ति का उत्कृष्ट प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। निबन्ध को ही वे गद्य की वास्तविक कसौटी भी मानते हैं। 'शब्द' और 'अर्थ-परम्परा' का इतना सतर्क आयोजन और ऐसा पूर्ण सामंजस्य हिन्दी गद्य में अत्यन्त विरल है। बहुत कम निबन्ध लेखक इस क्षेत्र में उनकी समता कर सकते हैं। केवल कुछ उदाहरण ही इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त होंगे।

"वैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है।"[3] "श्रद्धा महत्त्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ पूज्य बुद्धि का संचार है।"[4] "यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है।"[5] "प्रेम का कारण बहुत कुछ अनिर्दिष्ट और अज्ञात होता है, पर श्रद्धा का

---

१. चिं०, भाग २, पृ० १८९।
२. वही, पृ० ६३।
३ चिं०, भाग १, पृ० १३८।
४. वही, पृ० १७।
५. वही, पृ० १८।

कारण निर्दिष्ट और ज्ञात होता है।"[१]

"अरुचिकर विषयों के उपस्थित होने पर अपने ज्ञान-पथ से इन्हें दूर रखने की प्रेरणा करने वाला जो दुःख होता है, उसे घृणा कहते हैं।"[२]

"किसी आती हुई आपदा की भावना या दुःख के कारण के साक्षात्कार से जो एक प्रकार का आवेगपूर्ण अथवा स्तम्भ-कारक मनोविकार होता है उसी को भय कहते हैं।"[३]

"ब्रह्म की व्यक्त सत्ता सतत क्रियमाण है।"[४]

सूत्र-बद्ध भाषा से केवल इतना ही बोध नहीं होता कि लेखक का शब्दों के ऊपर बहुत अच्छा अधिकार है, बल्कि यह बात भी सिद्ध होती है कि विषय की अत्यन्त पुष्ट धारणा उसके मन में है। जिसने विवेच्य विषय के पूर्ण बिम्ब को हृदयंगम नहीं किया है वह उसे पाठकों के मानस में कैसे उतार सकेगा ? ऊपर के वाक्य इस बात को स्वयं प्रमाणित कर देते हैं कि शुक्ल जी का भाषा पर जितना अच्छा अधिकार था उससे कहीं अच्छा अधिकार गृहीत विषय के ऊपर था।

भाषा का स्वरूप :

उनके निबन्धों में भाषा का प्रवाह विषयानुकूल दिखाई पड़ता है। जहाँ गम्भीर विश्लेषण की अपेक्षा रहती है वहाँ वे संस्कृत-निष्ठ भाषा का प्रयोग करते हैं, विषय का स्पष्टीकरण ही जहाँ लक्ष्य रहता है वहाँ बोलचाल के शब्द प्रायः आ जाते हैं और जहाँ व्यंग्य-विनोद का प्रसंग आता है वहाँ उर्दू के शब्दों की छटा दिखाई पड़ती है। यह बात ध्यान देने की है कि गंभीर भाषा प्रायः अनुच्छेद के प्रारंभ में रहती है, बोल-चाल की भाषा बीच में और उर्दू मिश्रित व्यंग्यमय प्रयोग सबसे अन्त में। इस क्रम के अपवाद भी हो सकते हैं किंतु अधिकतर पाठकों को इसका निर्वाह दिखाई पड़ेगा। एक अनुच्छेद[५] से तीनों के उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

पहला वाक्य :

"मनुष्य किसी ओर तीन प्रकार से प्रवृत्त होता है—मन से, वचन से और कर्म से।"

बीच का वाक्य :

"सोचिये तो, काशी ऐसा पुण्यक्षेत्र ! यहाँ न माया छोड़ी जायेगी तो कहाँ छोड़ी जायेगी।"

---

१. चिं० भाग १, पृ० १६।
२. वही, पृ० ६७।
३. वही, पृ० १२४।
४. चिं०, भाग २, पृ० ५३।
५. चिं०, भाग १, पृ० २८।

अन्तिम वाक्य :

"पर पागलपन की नक़ल करना कुछ हँसी-खेल नहीं, भूल-चूक से कुछ समझदारी की बातें मुँह से निकल ही जाती हैं।"

ऊपर शुक्ल जी के निबन्धों के विषय, गठन, रचना-सौष्ठव और भाषा आदि का जो परिचय दिया गया है उस से उनकी योग्यता, मौलिकता और वास्तविक शक्ति का ज्ञान होता है। निबन्धों का इतना सुगठित रूप, विचारों का ऐसा गूढ़-गुम्फित-विन्यास, पूर्वापर वाक्यों का ऐसा जनक-जन्य संबंध, पाठकों के श्रम का परिहार करने वाले व्यंग्य-विनोद का ऐसा रसात्मक विनियोग और 'शब्द' तथा 'अर्थ' परंपरा को ध्यान में रखते हुए हिंदी गद्य का इतना सुष्ठु प्रयोग हमारे साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है।

लौकिक काव्य-शास्त्र की कसौटी पर कस कर हम उनका सही मूल्यांकन नहीं कर सकते और न उनके दृष्टिकोण को सही समझ सकते हैं।"[१] किन्तु 'अलौकिक' काव्य-शास्त्र की कसौटी से आचार्य शुक्ल कभी सहमत नहीं हो सकते थे। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी इन रचनाओं को शुद्ध साहित्य की कोटि में लाते समय कुछ संकोच का अनुभव किया है। उनके मत में "यद्यपि यह साहित्य विशुद्ध काव्य की कोटि में नहीं आ सकता पर नाना प्रकार की सिद्धियाँ इस काव्य में उसी प्रकार प्रेरणा का विषय रहीं जिस प्रकार परवर्त्तीकाल में भक्ति।"[२]

यदि ऐसी बात है तो इन रचनाओं को उस रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता "जिस रूप में ज्योतिष, आयुर्वेद आदि के ग्रंथ ग्रहण किये जाते हैं।"[३] दूसरी ओर, 'आदिकाल' के नामकरण में इन रचनाओं का पर्याप्त योग लेना भी आवश्यक है। संभवतः वीरगाथा और सिद्ध साहित्य के समान महत्त्व को लक्ष्य करके ही राहुल जी ने 'सिद्ध-सामंत-काल' नाम सुझाया है। यह नाम कुछ अधिक उपयुक्त अवश्य है किन्तु सिद्ध कहने मात्र से जैन साहित्य का ठीक बोध नहीं हो पाता और 'सामंत' शब्द की व्याप्ति इतनी दूर तक है कि उसके भीतर पूरा भक्ति-काल और रीतिकाल भी समा जाता है। 'सामन्त' शब्द, वस्तुतः एक प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का व्यंजक होने के कारण उस दीर्घकाल की सूचना देता है जो भारतवर्ष के इतिहास में सहस्रों वर्षों तक व्याप्त रहा, और हिन्दी-साहित्य का लगभग सभी प्राचीन भाग उसी युग में लिखा गया। ऐसी स्थिति में 'सामन्त' शब्द की अतिव्याप्ति सहज बोधगम्य है। यह अवश्य माना जायेगा कि 'सिद्ध' शब्द के जुट जाने से इससे पूर्ववर्त्ती और उत्तरवर्त्ती काल सीमा का निर्धारण भी किसी हद तक हो गया है किन्तु फिर भी भ्रम की गुंजाइश बहुत है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुसन्धान के फल-स्वरूप आदिकाल से सम्बद्ध जो नूतन सामग्री प्रभूत मात्रा में उपलब्ध हुई है उसमें किसी एक निर्दिष्ट व्यापक साहित्यिक चेतना की स्थिति का पता अब तक नहीं लग सका जिसके आधार पर दोषरहित नामकरण किया जा सके। उसे 'आदिकाल,' कहना ही अभी अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है। जैसा पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी[४] ने सुझाया है, उस काल की अधिकतर सामग्री हिन्दी भाषा के केन्द्रवर्त्ती स्थानों से नहीं अपितु पार्श्ववर्त्ती स्थानों (राजस्थान, मिथिला आदि) से प्राप्त हुई है। जिन प्रदेशों में कुछ ही दिन आगे चल कर व्रजभाषा और अवधी के साहित्य का विकास हुआ, वे प्रदेश उन दिनों पूर्णतः

---

१. सिद्ध-साहित्य, पृ० २३७।
२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० २३।
३. हि० सा० इ०, पृ० १९।
४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० १०।

मौन नहीं हो सकते। उनमें अवश्य ही साहित्य-सृष्टि हुई होगी जो अनेक अज्ञात कारणों से लुप्त हो गई। जब तक यह सम्पूर्ण साहित्य विद्वानों को उपलब्ध नहीं होता और जब तक उसकी साहित्यिक प्रवृत्तियों का ठीक-ठीक निरूपण नहीं हो पाता तब तक पूर्ण व्यंजक नाम का सुझाव केवल सुझाव ही रह जायेगा।

नामकरण के अतिरिक्त दूसरी समस्या है आदिकाल के विस्तार की। शुक्ल जी ने इसे वि० सं० १०५० से लेकर सं० १३७५ तक माना है, किन्तु 'अपभ्रंशकाल' शीर्षक से जिस साहित्य का उल्लेख उन्होंने किया उसका प्रारम्भ कम-से-कम सातवीं शती में ही माना—"सिद्धों में सबसे पुराने सरह (सरोज बज्र भी नाम है) हैं जिनका काल डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने विक्रम सं० ६९० निश्चित किया है।"[1]

और

"हिन्दी काव्य-भाषा के पुराने रूप का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है।"[2]

इससे सिद्ध हो जाता है कि हिन्दी की पुरानी कविता का प्रारम्भ भी विक्रम की सातवीं शती में हो गया था, किन्तु शुक्ल जी ने जीवन की सामान्य अनुभूतियों और स्वाभाविक दशाओं को लेकर चलने वाले साहित्य को लक्ष्य कर के आदिकाल का प्रारम्भ ११वीं शती में ही माना।

इस युग की समाप्ति वे विक्रम संवत् १३७५ में मानते हैं। वीर-गाथाओं को दृष्टि में रखने के कारण ही उन्होंने यह सीमा निर्धारित की है। उनकी धारणा है कि हम्मीर के बाद कोई हिन्दू शक्ति ऐसी नहीं रह गई जो इस्लामी शासकों का उग्र विरोध कर पाती, इसलिए वीरतापूर्ण भावों के लिए कोई उपयुक्त आलंबन कवियों को नहीं मिला और दूसरी ओर सारी जनता में घोर नैराश्य की भावना फैल गई। हम्मीर का निपात संवत् १३५८ विक्रमी में हुआ। कदाचित् तीन चौथाई शताब्दी को पूरा करने के लिये ही शुक्ल जी ने वीरगाथाकाल को वि० सं० १३७५ तक बढ़ा दिया, क्योंकि इतिहास में आगे चलकर उन्होंने लिखा :—

"मोटे हिसाब से वीर-गाथाकाल महाराज हम्मीर के समय तक ही समझना चाहिए। उसके उपरान्त मुसलमानों का साम्राज्य भारत में स्थिर हो गया और हिन्दू राजाओं को न तो आपस में लड़ने का उत्साह रहा, न मुसलमानों से।"[3]

दूसरी ओर भक्तिकाल का प्रारम्भ वि० सं० १३७५ से ही माना गया जब कि उसके सब से पहले कवि कबीर का जन्म सं० १४५६ में हुआ। और यदि उनका रचनाकाल सं० १४७५ से माना जाय तो वीरगाथाकाल और भक्तियुग के बीच का लगभग १०० वर्षों का समय दोनों प्रकार के कवियों से शून्य हो जाता है। इसे

---

१. हि० सा० इ०, पृ० ८।

२. वही, पृ० २०।

३. वही, पृ० ५९।

लक्ष्य करके पंडित गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने व्यंग्य किया है कि "यह सौ वर्ष का समय न घर का रहा न घाट का, उसके गले में न वीरगाथा-काल का पट्टा बँध सका और न भक्ति-काल का।"[१]

किन्तु विभाजन को ध्यान से देखने पर प्रकट हो जाता है कि आचार्य शुक्ल का तर्क इससे भिन्न है। किसी प्रसिद्ध कवि के अवसान और किसी दूसरे प्रसिद्ध कवि के आविर्भाव तथा रचनाकाल को लक्ष्य करके उनका वर्गीकरण नहीं चलता। पूर्वागत काव्य-परम्परा के कुछ कवियों के जीवित रहने मात्र से ही उस परम्परा का प्रधान रूप से चलता हुआ प्रवाह प्रमाणित नहीं हो जाता। उसी प्रकार, किसी बड़े कवि के आने के उपरान्त ही, नूतन काव्य-धारा का अस्तित्व स्वीकार किया जाय, यह असंगत जान पड़ता है। निर्णायक तत्त्व किसी कवि का अवसान अथवा आविर्भाव नहीं है, अपितु जनता की चित्त-वृत्ति है। यदि उसमें परिवर्तन के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं तो निश्चय ही साहित्य की धारा में भी युगान्तर स्वीकार करना पड़ेगा। आचार्य शुक्ल ने स्वयं कहा "कि हम्मीर के उपरांत जनता की चित्तवृत्ति बदलने लगी और विचार-धारा दूसरी ओर चली।"[२] दूसरी ओर का अर्थ है—भक्ति और भगवान् की ओर। 'वीरगाथा'-कारों की परम्परा में शुक्ल जी ने श्रीधर तक का वर्णन किया जिनका रचनाकाल सम्वत् १४५४ दिया गया है। किन्तु भक्तिकाल सं० १३७५ से मानने पर श्रीधर निश्चित रूप से उसी के अन्तर्गत आ जाते हैं। दूसरी ओर 'वीरगाथा' काल के 'फुटकल' कवियों में विद्यापति तक को रखा गया जिनका रचनाकाल वि० सं० १४६० है। श्रीधर के साथ तो यह तर्क है कि वे 'वीरगाथा' की परम्परा में हैं और उससे निकट रूप से सम्बद्ध भी हैं, किन्तु विद्यापति को उस युग में कैसे रखा गया, यह स्पष्ट नहीं होता। आचार्य शुक्ल ने इतना संकेत दिया है कि कृष्ण-भक्त कवियों की परम्परा में विद्यापति को नहीं ग्रहण करना चाहिए। उनकी दृष्टि में विद्यापति शृंगार काव्य के प्रणेता थे। किन्तु दूसरी ओर देखा जाय तो वीरगाथा की परम्परा से तो वे और भी दूर पड़ते थे। इस बात पर तो विवाद भी हो सकता है, और कई बार हुआ है, कि विद्यापति भक्त-कवि थे अथवा नहीं किन्तु यह तो निर्विवाद है कि वे वीरगाथाओं के रचयिता नहीं हैं। इस प्रकार रचनाकाल और काव्य-सृष्टि, दोनों को देखते हुए 'वीरगाथा-काल' के अन्तर्गत उनका समाविष्ट होना कठिन जान पड़ता है।

भक्तिकाल :

'भक्तिकाल' नाम से प्रायः सभी विद्वान् सहमत हैं। साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों को देखते हुए वही नाम उचित भी है। किन्तु इस युग की सीमा कहाँ से कहाँ तक मानी जाय इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं। पूर्ववर्त्ती सीमा के ऊपर हम पहले ही विचार कर चुके हैं।

---

१. समीक्षक-प्रवर पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३९८।

२. हि० सा० इ०, शुक्ल, पृ० ५९।

'भक्तिकाल' की उत्तरवर्ती सीमा 'रीतिकाल' को छूती है, अतः दोनों के बीच विभाजक रेखा खींचने के लिए 'भक्ति' और 'रीति' के मूल अर्थ के ऊपर ध्यान रखना ही अधिक समीचीन होगा। शुक्ल जी के इतिहास में वर्णित 'रामभक्ति शाखा' और 'कृष्णभक्ति शाखा' के अंतिम कवियों (हृदयराम एवं ध्रुवदास) का काव्यकाल विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी का अंतिम काल है। इसका अर्थ यह है कि भक्तिकाल की दो प्रमुख धारायें वि० सं० १७०० तक प्रधान रूप से प्रवाहित होती रहीं। किन्तु जैसा शुक्ल जी के उल्लेख से ही प्रकट है, "संवत् १५९८ में कृपाराम थोड़ा बहुत रस-निरूपण भी कर चुके थे।"[१] इसका अर्थ यह हुआ कि 'रीतिकाल' के प्रारम्भ होने के लगभग १०० वर्ष पूर्व रीति निरूपण शुरू हो गया था जिसको कुछ और आगे चलकर केशवदास ने अत्यन्त प्रौढ़रूप प्रदान किया। किन्तु केशव की गणना भी शुक्ल जी ने भक्तिकाल के फुटकल कवियों के अन्तर्गत की और यह तर्क दिया कि—"हिन्दी में रीति-ग्रन्थों की अविरल और अखण्डित परम्परा का प्रवाह केशव की 'कविप्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर।"[२]

लेकिन यह तर्क बहुत प्रबल नहीं है। पहली बात तो यह है कि केवल ५० वर्षों का व्यवधान पड़ जाने से ही किसी साहित्य की परम्परा को खण्डित नहीं मान सकते। इस बीच में कुछ न कुछ वैसी रचनायें अवश्य लिखी गई होंगी, यह दूसरी बात है कि उन्हें पर्याप्त ख्याति न प्राप्त हो सकी हो। दूसरी बात यह है कि चिंतामणि के बाद आने वाली रीति-ग्रंथकारों की परम्परा में केशवदास का साहित्यिक आदर्श न दिखाई पड़ने के कारण ही वह परम्परा 'कविप्रिया' आदि से तात्त्विक दृष्टि से, भिन्न नहीं हो सकती। साहित्यिक आदर्श चाहे जो हो, अलंकार-अलंकार्य के सम्बन्ध में चाहे जो धारणायें रखी जायँ, 'रीतिकाल' नाम के भीतर सबकी समाई है। लेकिन समस्या केवल इतने ही से हल नहीं होती। 'भक्तिकाल' की पूर्वागत परम्परा और रीतिकाल की उभरती हुई काव्य-धारा का किसी एक बिन्दु पर संयोग स्थापित करना शक्य नहीं। हम प्रधानता का विचार करके ही सुविधा के लिए एक सीमा मान सकते हैं। शुक्ल जी द्वारा निर्धारित भक्तिकाल की उत्तरवर्ती सीमा शाहजहाँ के अवसान और औरंगजेब के राज्यारोहण काल को स्पर्श करती है। इस प्रकार यदि साहित्य को अन्य कलाओं के संदर्भ में रख कर देखा जाय तो, शाहजहाँ का काल भी 'रीतिकाल' के अन्तर्गत आ सकता है। अन्य कलायें—विशेषकर स्थापत्य कला—शाहजहाँ के युग में अलंकृति आदि की दृष्टि से भी अपने चरम वैभव पर पहुँची। लेकिन हिन्दी-साहित्य के भीतर भक्ति की धारा शाहजहाँ के युग में भी वेगवती थी, इतना अवश्य है कि उसमें परिवर्तन के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे थे। शाहजहाँ-युग की कलात्मक प्रवृत्तियों को

---

१. हि० सा० इ०, पृ० २३२।
२. वही, पृ० २३२।

ध्यान में रखते हुए हम रीतिकाल का प्रारम्भ लगभग २५ वर्ष और पहले से मान सकते हैं। लेकिन केशवदास को इस काल सीमा में भी नहीं समेटा जा सकता, क्योंकि उनका देहावसान संवत् १६७४ में हो गया था। शुक्ल जी ने इन्हीं कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए भक्तिकाल के फुटकल कवियों में केशवदास को रखा और चिंतामणि त्रिपाठी के रचनाकाल (सं० १७००) से ही रीतिकाल का प्रारम्भ माना।

'भक्तिकाल' के अन्तर्गत रामभक्ति धारा का विवेचन शुक्ल जी ने पहले किया और कृष्णभक्ति का बाद में।

'सूर' और 'तुलसी' के जन्म-संवतों की ओर ध्यान दिलाते हुए ऊपर वाली बात को लक्ष्य कर पंडित गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने कहा है:—

"जब तक इन ('सूर' और 'तुलसी' की जन्म सम्बन्धी) मान्यताओं में कोई विशेष अन्तर पड़ने के कारण न उपस्थित हों तब तक उनके आधार पर कृष्ण-भक्ति शाखा का उल्लेख राम-भक्ति शाखा के पूर्व ही होना उचित होगा।"[१]

लेकिन आचार्य शुक्ल का दृष्टिकोण यहाँ भी भिन्न है। यद्यपि कबीर का आविर्भाव पहले देखकर वे 'निर्गुण काव्य-धारा' को प्राथमिकता देते हैं और सूफी-काव्य-धारा को कालक्रम के अनुसार उसके तुरन्त बाद में स्थान देते हैं तथापि यह बात सहज स्पष्ट हो जाती है कि इस स्थापना के पीछे जो दृष्टिकोण कार्य कर रहा है वह कवियों के जन्म को प्रधानता न देकर आचार्यों या सम्प्रदाय-प्रवर्त्तकों के जन्म को महत्त्व देता है। कबीर को निर्गुण काव्य-धारा का प्रवर्त्तक मानने के साथ-साथ शुक्ल जी एक 'पंथ' का प्रवर्त्तक भी मानते हैं जिसके अन्तर्गत अनेक कवियों ने रचनायें लिखीं :—

"उनका (कबीर का) 'निर्गुण-पंथ' चल निकला जिसमें नानक, दादू, मलूकदास आदि अनेक संत हुए।"[२]

यदि 'कबीर-पंथ' का प्रवर्तक कोई और संत होता तो क्रम की स्थापना में उसी के जीवन-काल का विचार होता। उसी प्रकार, सूफी कवियों में भी प्रेमकथाओं की स्वतन्त्र उद्भावनायें मिलती हैं—वे काव्य-परम्परा प्रेरित हैं, आचार्य-प्रेरित नहीं। इसके विपरीत 'सूर' और 'तुलसी' द्वारा भगवान के गृहीत रूप अन्य आचार्यों द्वारा निर्धारित थे। तुलसी ने अपने आपको 'साम्प्रदायिक' सीमाओं से अलग रखा अवश्य, किन्तु राम के जिस रूप की प्रतिष्ठा वे चाहते थे वह बहुत कुछ रामानन्द द्वारा निरूपित हो चुका था। रामानन्द ने हिन्दी में कुछ कवितायें भी लिखीं। कदाचित् यही सोचकर राम भक्ति धारा का सम्बन्ध शुक्ल जी ने उनसे ही जोड़ा है। दूसरी ओर हिन्दी की कृष्णभक्ति शाखा मुख्यतः वल्लभाचार्य द्वारा निरूपित भगवत्स्वरूप एवं उन्हीं द्वारा स्थापित सम्प्रदाय की सीमाओं को स्वीकार करके चली। इसलिए सूरदास के काव्य

---

१. समीक्षक-प्रवर पंडित रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३०१।

२. हि० सा० इ०, पृ० ६५।

के अन्तर्गत उसका उद्‌गम न मानकर उन्होंने वल्लभाचार्य के जीवनकाल का ध्यान रखा। रामानन्द का समय शुक्ल जी के विचारानुसार पन्द्रहवीं शती का अंतिम चरण और सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध है और वल्लभाचार्य का सोलहवीं शती का मध्यकाल या उत्तरार्द्ध। ऐसी स्थिति में हिन्दी कविता के भीतर भी राम-भक्ति का आविर्भाव पहले ही हो जाता है। हमारी समझ से शुक्ल जी का दृष्टिकोण यही था, और यह युक्ति-संगत भी जान पड़ता है।

'गिरीश' जी का यह सुझाव कि "प्रेममार्गी सूफियों ने अपनी ओर भारतीय समाज में जो आकर्षण उत्पन्न कर दिया था उसके निराकरण के लिए खड़ी होने वाली कृष्ण-भक्ति शाखा को उसके साथ ही रखकर अध्ययन करने में विशेष सार्थकता भी रहेगी।"[1] इसलिए असंगत हो जाता है कि वैज्ञानिक अध्ययन का आधार भक्ति-धाराओं के पारस्परिक विरोधों को नहीं बताया जा सकता। उनकी आन्तरिक एकता को उद्‌घाटित करके भक्ति-आन्दोलन में अंतर्लीन विचार-धारा को प्रत्यक्ष करना ही इतिहास-लेखक का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व है।

रीतिकाल :

'रीतिकाल' नाम के सम्बन्ध में मतभेद अवश्य है किन्तु हिन्दी के अधिकांश पाठकों और विद्वानों ने उसे स्वीकार-सा कर लिया है। इस काल के नामकरण के सम्बन्ध में शुक्ल जी का एक सुझाव और है। उनका कहना है :—

"वास्तव में 'शृंगार' और 'वीर' इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता शृंगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृंगार काल कहे तो कह सकता है।"[2]

पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अनेक संगत तर्कों की योजना करके सिद्ध किया है कि 'शृंगार काल' नाम ही अधिक उपयुक्त है।[3] उनका प्रधान तर्क यह है कि 'शृंगार काल' कहने से एक ओर तो लगभग वे सभी कवि इसके अन्तर्गत आ जायेंगे जिनका विवरण शुक्ल जी ने 'फुटकल' कवियों के भीतर दिया है और दूसरी ओर भूषण इत्यादि कवि भी इसी में समाविष्ट हो सकते हैं, क्योंकि उनकी शृंगार-मूलक रचनायें काफी मात्रा में मिलती हैं और आगे भी मिल सकती हैं।

'शृंगार' कहने से काव्य के आन्तरिक पक्ष को बल मिलता है और 'रीतिकाल' कहने से उसके बाह्य-विधान को। बाह्य-विधान पर तत्कालीन कवियों का विशेष आग्रह देखकर ही शुक्ल जी ने 'रीतिकाल' नाम ठीक समझा था। वस्तुतः इस काल

---

१. समीक्षक-प्रवर पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३०१।

२. हि० सा० इ०, पृ० २४१।

३. 'घनानन्द' की भूमिका, सं० प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

लिए सर्वमान्य नाम अभी तक निर्धारित नहीं किया जा सका। प्रत्येक सुझाव में न कुछ त्रुटि है।

इस युग की उत्तरवर्ती सीमा 'आधुनिक काल' से सम्बद्ध है। शुक्ल जी ने क्रम की उन्नीसवीं शती के समाप्त होने के साथ ही रीतिकाल की समाप्ति मानी राजनैतिक इतिहास में यह समय सन् ५७ के विप्लव के आस-पास पड़ता है, र साहित्य के इतिहास में भी आधुनिकता के लक्षण इसी समय से दिखाई पड़ने ते हैं। इसलिए उनके इतिहास में दिया गया काल पूर्णतया संगत है।

रीतिकालीन काव्य-धारा के अवांतर वर्गीकरण का कोई संगत आधार शुक्ल को नहीं मिला। उन्होंने केवल 'रीति-ग्रन्थकार' और 'फुटकल' कवियों की दो टेयाँ बनाई हैं। जिन कवियों ने लक्षण ग्रन्थों की रचना की उनको उन्होंने पहली और जिन्होंने ऐसे ग्रन्थों की रचना नहीं की, उन्हें दूसरी कोटि में रखा। किन्तु के अवांतर वर्गीकरण की सम्भावना वे अवश्य समझते थे इसीलिये प्रारम्भ में ही दिया था कि :—

"रीति-ग्रन्थों की बहुत गहरी छानबीन और सूक्ष्म पर्यालोचना करने पर ो चलकर शायद विभाग का कोई आधार मिल जाय, पर अभी तक मुझे नहीं ा।"[1]

आधुनिक काल को उन्होंने 'गद्यकाल' कहा है लेकिन इस नाम पर उनका ोष आग्रह नहीं। कदाचित् इसीलिए आगे चलकर उन्होंने केवल 'आधुनिक काल' ा ही रखा है अन्य कालों की भी भाँति, कोष्ठक में 'गद्यकाल' नहीं लिखा।[2] 'गद्य-ा' नाम का संकेत उन्होंने केवल इसीलिए दिया कि, "आधुनिक काल में गद्य का वेर्भाव सब से प्रधान साहित्यिक घटना है।"[3]

ल जी के इतिहास की सीमायें—समाधान :

शुक्ल जी के इतिहास के काल-विभाजन और वर्गीकरण के सम्बन्ध में ऊपर कुछ कहा गया है उससे साफ प्रकट है कि उन्होंने अपने निर्धारित तीन सूत्रों का न सदैव रखा, और इस प्रकार साहित्य के इतिहास के निर्माण की वैज्ञानिक पद्धति अपने आपको विच्छिन्न नहीं होने दिया। लेकिन फिर भी उनके इतिहास की अनेक ायें हैं जिनकी ओर विभिन्न विद्वानों ने पाठकों का ध्यान समय-समय पर आकर्षित या है।

सामग्री :

शुक्ल जी के उपरान्त इधर जो अनुसंधान इस दिशा में हुआ उससे इतिहास प्रभूत सामग्री संचित हो गई है। नूतन ग्रन्थों और लेखकों का ही नहीं नतन

---

१. हि० सा० इ०, पृ० ६।
२. वही, पृ० ४०३।
३. वही, पृ० ६।

साहित्य-प्रवृत्तियों का भी संधान पाया गया है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में ऐसी सामग्री प्रभूत मात्रा में उपलब्ध हुई और जीवन की नई दृष्टि के साथ उसे समन्वित करके इतिहास का रूप देने का कार्य आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में उनकी नयी दृष्टि का विनियोग पहले दिखाई पड़ा। और बाद में 'हिन्दी साहित्य का आदि काल' में नयी सामग्री का पुट देकर एवं काव्य-रूपों का विश्लेषण करके उसे अधिक पुष्ट और सुष्ठु बनाया गया। द्विवेदी जी के इन दोनों ग्रन्थों ने हिन्दी के इतिहास-लेखन को बहुत आगे बढ़ाया और शुक्ल जी के इतिहास की सीमायें इन्हीं ग्रन्थों के प्रकाशित होने के उपरान्त उभर कर सामने आ गईं। जहाँ तक नई सामग्री के उपलब्ध होने का प्रश्न है वहाँ तक तो किसी भी इतिहास में त्रुटियाँ उत्पन्न होती ही रहेंगी। ज्योंही किसी नये कवि या ग्रन्थ का पता लगेगा त्योंही उसके सम्बन्ध में नये तथ्य और निष्कर्ष प्राप्त कर लिये जा सकते हैं। इतिहास के विभिन्न क्षेत्रों में विशेष अनुसंधान करने वाले विद्वानों ने ऐसे बहुत तथ्यों का पता पाया जिनके सम्बन्ध में या तो आचार्य शुक्ल को बिल्कुल जानकारी नहीं थी या यदि थी तो बहुत कम। कहीं-कहीं उनकी जानकारी गलत सिद्ध हुई है।[1] नयी सामग्री की उपलब्धि ने इतिहास के ढाँचे को भी बहुत कुछ रूपांतरित कर दिया है। किन्तु इन बातों से शुक्ल जी के कार्य का गुरुत्व कम नहीं होता। ये उनकी व्यक्तिगत सीमाओं की सूचना उतनी नहीं देतीं जितनी उनके युग की सीमाओं की। हम पहले कह चुके हैं कि नवीन उपलब्ध सामग्री का उपयोग अपने इतिहास में वे सदैव करते रहे, और यदि उन्हें अवसर मिलता तो अपने ग्रन्थ को अवश्य ही भरा-पूरा बना जाते।

एकसूत्रता का अभाव :

किन्तु जहाँ तक साहित्य की व्यापक एकसूत्रता के उद्घाटन का प्रश्न है, द्विवेदी जी ने शुक्ल जी से कहीं अधिक गहरी दृष्टि का परिचय दिया है। उनकी लिखी हुई 'भूमिका' नये अर्थ में साहित्य के इतिहास की भूमिका बन गई है। बाबू श्यामसुन्दरदास लिखित 'हिन्दी भाषा और साहित्य' में प्रवृत्तियों के विश्लेपण और युगों की एकसूत्रता के उद्घाटन का प्रयास हो चुका था। उनमें इतिहास की इस नई धारणा के लक्षण अवश्य वर्त्तमान थे। उसकी योजना के सम्बन्ध में उन्होंने अपनी 'आत्म कहानी' में लिखा कि :—

"मेरा विचार था कि भिन्न-भिन्न कालों की प्रवृत्तियों का विवेचन और वर्णन किया जाय, केवल किसी काल के कवियों की कविताओं को चुनकर न दिया जाय और न उन पर मत प्रकट किया जाय"।[2]

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका (१७५७-१८५७)—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० २५६।

२. मेरी आत्मकहानी, बाबू श्यामसुन्दरदास, पृ० १७८।

आचार्य शुक्ल के इतिहास में एकसूत्रता की स्थापना न होने का कारण यह नहीं था कि उसकी उन्हें चेतना नहीं थी। वे इस बात से अवश्य परिचित थे कि साहित्यिक प्रवृत्तियाँ अनेक युगों तक चलती रहती हैं—इसका स्पष्ट उल्लेख भी उन्होंने इतिहास में किया है, लेकिन कवियों के इतिवृत्त-संग्रह और नमूने एकत्र करने की पुरानी परम्परा का निर्वाह करने के कारण वे उसका पूर्ण उद्घाटन करने में असफल रहे। एक युग का 'सामान्य परिचय' देने के उपरान्त, जब उस युग के कवियों का विस्तृत परिचय देने के लिए वे आगे बढ़े तो ऐसा लगा जैसे साहित्य धारा का अविच्छिन्न प्रवाह खण्डित हो गया हो। परिणामस्वरूप, इतिहास के विभिन्न युग अलग-अलग पड़ गये और उनमें जनक-जन्य सम्बन्ध स्थापित न हो सका।

लेकिन कवियों के परिचय या उनकी समीक्षा का जो अंश उन्होंने इतिहास में ग्रहण किया उसका कारण क्या था? क्या वे इस बात को नहीं समझ रहे थे कि ऐसा करने से इतिहास की एकसूत्रता विच्छिन्न हो रही थी? या उन्हें इस बात का ज्ञान ही नहीं था कि साहित्य के सच्चे इतिहास का क्या स्वरूप होगा? वस्तुतः बात यह थी कि एक ओर तो वे अपने युग के पाठक समुदाय को ध्यान में रख कर चल रहे थे जो अपनी साहित्य की परम्परा से बहुत कम परिचित था और जो केवल कुछ प्रसिद्ध कवियों को छोड़कर अन्य कवियों की रचनाओं से पूर्णतया अपरिचित था, और दूसरी ओर अपने साहित्य के इतिहास का ढाँचा भी बना रहे थे—उसकी व्याख्या-मात्र नहीं कर रहे थे। हिन्दी के अधिकांश पाठक उस समय भी साहित्य के इतिहास की व्याख्या नहीं चाहते थे। उसके स्वरूप का बोध प्राप्त कर लेना ही उनका चरम लक्ष्य था। हमारी समझ से 'नमूने' एकत्र करने वाली प्रवृत्ति ऐसे पाठकों के लिये अत्यन्त लाभप्रद थी। उस समय गम्भीर विचार और विश्लेषण की आवश्यकता का अनुभव कम ही लोग कर रहे थे। हिन्दी के इन पाठकों को लक्ष्य करके भी शुक्ल जी ने इतिहास की उस पुरानी शैली को बना रहने दिया। जहाँ तक अलग-अलग कवियों की समीक्षा का प्रश्न है, उन्होंने स्वयं कहा है कि इतिहास-ग्रन्थ में कवियों की 'पूरी क्या अधूरी समीक्षा' भी नहीं आ सकती।[1] 'रीतिकाल' के प्रसंग में अधिक कवियों के नामोल्लेख या विवरण देने वाली बात को लेकर उन्होंने कहा कि "जितने नाम में इसमें गिना गया हूँ वही मुझे जरूरत से ज्यादा मालूम हो रहे हैं।"[2] इन बातों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इतिहास की नई व्यवस्थापना से परिचित होते हुए भी उन्होंने उसकी पुरानी पद्धति को बनाये रखना, दूसरे कारणों से, उचित समझा। यदि 'विवरण' वाले प्रसंगों को हटा लिया जाय और केवल 'सामान्य परिचय' को मिलाकर पढ़ा जाय तो साहित्यधारा की अविच्छिन्न एकता का परिचय अवश्य मिल जाता है।

---

१. हि० सा० इ०, पृ० ६।
२. वही, पृ० ६।

मध्यवर्गीय चेतना और रस-दृष्टि :

इस इतिहास का कच्चा ढाँचा छात्रों के उपयोग के लिए शुक्ल जी ने सन् २२ या २३ के लगभग ही बना लिया था किन्तु "उसमें परिस्थिति के **अनुसार शिक्षित जन-समूह** की बदलती हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिन्दी-साहित्य के इतिहास के काल-विभाग और रचना की भिन्न-भिन्न शाखाओं"[१] का निरूपण किया गया था। उक्त उद्धरण में "शिक्षित जनसमूह" शब्द ध्यान देने योग्य हैं। क्या इतिहास के निर्माण में अशिक्षित जन-समूह का हाथ नहीं होता ? यदि उसका हाथ होता है तो क्या साहित्य के इतिहास को वह परोक्षतः ही प्रभावित नहीं करता ? शुक्ल जी की शायद यही धारणा थी कि साहित्य के रचयिता और शिक्षित पाठक मिलकर ही उस के इतिहास का निर्माण करते हैं, अतः इतिहास-लेखन में उन्हीं की 'चित्तवृत्ति' का निरूपण होना चाहिए। इतिहास के बीच में भी जहाँ कहीं निर्गुणिये संतों का प्रसंग आता है वहाँ वे यह संकेत देना नहीं भूलते कि 'अशिक्षित' जनता के ऊपर उनका बहुत अधिक प्रभाव था। इस प्रकार, एक ओर तो वे संतों के उस प्रभाव की महत्ता को अस्वीकृत कर देते हैं जो आम जनता के ऊपर था, और दूसरी ओर साहित्य-निर्माण में प्रेरणा देने वाली 'अशिक्षित' जनता के महत्त्व को। किन्तु इसका कारण उनकी 'प्यूरिटन दृष्टि' में उतना नहीं मिल सकता जितना उनके 'रसवाद' में। साहित्यिक मान्यताओं वाले प्रकरण में हम यह दिखा आए हैं कि उन्होंने अपने आचार-शास्त्र को 'रसवाद' के भीतर घुला मिला दिया था। श्री शिवदानसिंह चौहान ने सम्भवतः उक्त दृष्टि को लक्ष्य करके शुक्ल जी पर 'एकांगी समाजशास्त्रीयता'[२] का आरोप लगाया। लेकिन आगे चलकर उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि, "हमारे राष्ट्रीय जीवन की सामान्य परिस्थितियों ने ही अब तक इन दृष्टिकोणों को औचित्य प्रदान किया है।"[३] जीवन की परिस्थितियाँ ही 'दृष्टिकोण' के औचित्य अथवा अनौचित्य की सच्ची कसौटी बन सकती हैं। यदि वह दृष्टिकोण सामान्य परिस्थितियों से अनुशासित है तो उस पर 'एकांगी समाजशास्त्रीयता' का आरोप नहीं लग सकता क्योंकि ऐसा आरोप तो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की 'दृष्टि' पर भी उसी तर्क-पद्धति से लगाया जा सकता है। वह भी तो अपना औचित्य परिस्थितियों के आधार पर ही सिद्ध करता है। वास्तव में उक्त आलोचक महोदय ने शुक्ल जी के इतिहास को भारतीय नवोत्थान की विशाल पट-भूमिका में रख कर नहीं देखा।

'फुटकल खाता' :

एक दूसरे मार्क्सवादी लेखक ने आचार्य शुक्ल कृत विभाजन को लेकर यह लिखा कि, "एक ही परिस्थिति में विभिन्न काव्य-प्रवृत्तियों के अस्तित्व की संगति बैठाने में

---

१. हि० सा० इ०, पृष्ठ २।
२. 'आलोचना'—इतिहास विशेषांक—संपादकीय, पृ० ४।
३. हि० सा० इ०, पृ० ५।

वे असमर्थ थे, क्योंकि उन्हें उन परिस्थितियों में पलने वाली परस्पर-विरोधी विविध सामाजिक प्रवृत्तियों के अंतर्विरोध का पता न था। इसीलिए उन्हें अपने इतिहास के हर युग में एक फुटकल खाता खोलना पड़ा।"[१]

शुक्ल जी ने जिन कवियों को 'फुटकल खाते' में डाला उनकी रचनायें सामाजिक अंतर्विरोध को ही व्यक्त करती हों, यह आवश्यक नहीं। उदाहरण के लिए हम रीतिकाल के फुटकल खाते को ले सकते हैं जिसमें रीतिग्रन्थों के रचयिताओं के अतिरिक्त 'अन्य कवि' रखे गये हैं। यह तो किसी प्रकार सिद्ध किया ही नहीं जा सकता कि रीतिग्रन्थों के रचयिता किसी एक सामाजिक प्रवृत्ति को व्यक्त कर रहे थे और 'फुटकल' कवि किसी दूसरी विरोधी प्रवृत्ति को। रीतिकाल में यदि कोई अंतर्विरोध था तो वह वीर और शृंगार का ही था या फिर रीतिबद्धता या रीतिमुक्तता का। किन्तु उसके आधार पर शुक्ल जी का विभाजन नहीं चला।

भक्तिकाल के 'फुटकल खाते' में जिन कवियों का वर्णन हुआ है उनकी सामाजिक भूमिका शुक्ल जी ने अच्छी तरह पहचानी थी। उन्होंने प्रारम्भ में ही लिख दिया था कि भक्तिकाल के भीतर, कविता की पुरानी परम्परा जो पठानों के आक्रमण के समय दब-सी गई थी फिर उमड़ आई और अकबर की शांतिपूर्ण राज्य-व्यवस्था के भीतर उसे फलने-फूलने का पूरा अवसर मिला। "जो भारतीय कलावन्त छोटे-मोटे राजाओं के यहां किसी प्रकार अपना निर्वाह करते हुए संगीत को सहारा दिये हुए थे वे अब शाही दरबार में पहुँचकर 'वाह वाह' की ध्वनि के बीच अपना करतब दिखाने लगे।"[२] केशवदास को उन्होंने ऐसे ही कलावंतों के बीच स्थान दिया। उनके अतिरिक्त इस फुटकल सूची में और जो २० कवि रखे गये हैं उनमें से कम-से-कम १० प्रसिद्ध कवियों का सम्बन्ध तो किसी न किसी दरबार से अवश्य था। गंग, रहीम, बीरबल, टोडरमल, नरहरि, बंदीजन आदि तो अकबरी दरबार के ही लोग थे। इन कवियों की मूल आंतरिक प्रेरणा निश्चय ही 'सूर' 'तुलसी' आदि से भिन्न थी और भिन्नता का मुख्य आधार (जैसा शुक्ल जी ने बताया) यही था कि एक का सम्बन्ध दरबारदारी से था और दूसरे का सामान्य लोक-जीवन से। भक्त कवियों का सम्पर्क सामान्य जनता से ही हुआ था राजाओं से नहीं। जिस प्रकार भक्त कवियों का यह अंतर्विरोध निरूपित करना कि एक ओर वे 'लोक' के सुख-दुःख का चित्रण करते थे और दूसरी ओर अलौकिक 'शक्ति' में विश्वास न्यायसंगत है[3] उसी प्रकार सम्पूर्ण भक्तिकालीन साहित्य को दरबारी और गैर-दरबारी भागों में बाँटना भी न्यायसंगत है।

---

१. 'आलोचना'—इतिहास विशेषांक—श्री नामवरसिंह का लेख, पृ० १२।

२. हि० सा० इ०, पृ० १९६।

३. आलोचना—इतिहास विशेषांक—श्री नामवरसिंह का लेख, पृष्ठ १५।

"वीरगाथाकाल" के फुटकल कवियों—खुसरो एवं विद्यापति के काव्य को देखने से ही स्पष्ट है कि वे वीरगाथाओं के रचयिता नहीं हैं। इसीलिए उन्हें प्रत्येक दशा में अलग रखना ही उचित था। जैसे चारण कवियों का सम्बन्ध दरबार से रहा करता था उसी प्रकार विद्यापति का भी। खुसरो सी संभवतः इस सम्पर्क से बचे नहीं थे। इसलिए उस आधार पर इनके काव्य का वर्गीकरण नहीं हो सकता था। इन दोनों कवियों ने पहले से चली आती हुई परंपराओं का विकास किया, इसलिए इनका अलग रखा जाना उचित ही था। अगर अंतर्विरोध की दृष्टि से देखा जाय तो कम-से-कम, विद्यापति की कविताओं और 'रासो' की परंपरा में कोई मौलिक भेद नहीं है। दोनों ही में सामंती जीवन का एक ही पक्ष चित्रित है और यह पक्ष भोगवाद का ही है। शुक्ल जी ने स्पष्ट ही कह दिया था कि विद्यापति ने "इन पदों की रचना शृंगार-काव्य की दृष्टि से की है, भक्त के रूप में नहीं। विद्यापति को कृष्ण-भक्तों की परंपरा में न समझना चाहिये।"[1]

ऊपर कही गई बातों का निष्कर्ष यह निकला कि शुक्ल जी ने अपने इतिहास में "फुटकल खाता" इसलिए नहीं खोला कि वे समाज के अंतर्विरोधों को समझ नहीं सके, बल्कि इसलिए कि युगों के जो नाम उन्होंने रखे उनके भीतर कुछ कवि या कुछ कविताएँ समा नहीं पाती थीं। कोई ऐसा सामान्य नाम वे नहीं ढूँढ़ सके जो संपूर्ण साहित्य को अपने भीतर समेट ले। आज भी ऐसा नाम ढूँढ़ लिया गया है, इस बात में सन्देह है।

साहित्य और परिस्थितियां :

"आलोचना" के उसी लेख में अन्यत्र बताया गया है कि शुक्ल जी के इतिहास में परिस्थितियाँ और साहित्यकार एक-दूसरे से बिछुड़े हुए हैं, उनमें आंतरिक सामंजस्य स्थापित नहीं किया जा सका। इसका कारण बताते हुए लेखक महोदय ने कहा है कि—

"राष्ट्रीय आन्दोलन का वह गाँधी-युग था जिसमें व्यक्ति और समाज में यथोचित घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित न हो सका था। मध्यवर्गीय व्यक्ति-स्वातन्त्र्य आंदोलन के पीछे शेष जन-समूह नत्थी भर था। विचार व्यापक जन-समाज से छिन्न थे।"[2]

लेकिन पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखित "हिन्दी-साहित्य की भूमिका" को देखने पर इस कारण की सचाई खण्डित हो जाती है—भूमिका भी तो गाँधी-युग की ही रचना है। यह समझना भूल होगी कि उसकी आंतरिक प्रेरणा किसान-मजदूर आन्दोलन से संबद्ध है। लेकिन उस पुस्तक में परिस्थितियाँ और साहित्यकार विच्छिन्न नहीं दीखते। उसमें दोनों का अत्यन्त सुन्दर सामंजस्य है। फिर क्या कारण है कि मध्यवर्गीय-आन्दोलन-काल में ही लिखे जाने पर दोनों इतिहासों में ऐसा भेद है ?

---

१. हि० सा० इ०, पृ० ५७।

२. आलोचना (इतिहास विशेषांक), पृ० ११।

वास्तव में यह दोनों लेखकों की जीवन-दृष्टि का भेद है, दोनों आलोचकों के इतिहास-लेखन की शैली का भेद है। किसी सामाजिक परिस्थिति के साथ उसे उतनी सरलता-पूर्वक जोड़ देना उचित नहीं जितनी सरलता से उक्त लेखक महोदय ने जोड़ा है। उक्त मार्क्सवादी सूत्र का ठीक प्रयोग तो तब होता जब यह दिखाया जाता कि शुक्ल जी जीवन की उन्हीं परिस्थितियों को साहित्य के साथ जोड़ पाते हैं जिनका सम्बन्ध मध्यम वर्ग से है, वे साहित्य को समाज की सामूहिक अभिव्यक्ति के रूप में नहीं दिखा पाते। यह कहने लगना कि परिस्थिति और साहित्यकार अलग-अलग है केवल इतना ही सिद्ध करता है कि शुक्ल जी, 'नमूनों' को एकत्र करने के प्रलोभन में इतिहास की एकसूत्रता को खो देते हैं।

घटनाओं की कार्य-कारण शृंखला :

शुक्ल जी ने साहित्यिक प्रवृत्तियों और तत्कालीन परिस्थितियों में जो कार्य-कारण-शृंखला स्थापित की उसमें कहीं-कहीं त्रुटियाँ पाई गई हैं। सबसे बड़ी त्रुटि यह बताई जाती है कि उन्होंने भक्ति-भावना को नैराश्य-भावना से उत्पन्न बताया लेकिन शुक्ल जी ने अपने युग की सामान्य ऐतिहासिक धारणा को ही व्यक्त किया था। वे कोई ऐसी बात नहीं कह रहे थे जो इतिहास के लिए नितान्त विलक्षण हो। वस्तुतः इस्लाम के आगमन से भारत की संपूर्ण राजनीतिक-सांस्कृतिक चेतना एक विशेष दिशा में प्रधावित हो उठी थी। यह घटना एकदम अप्रत्याशित थी। इसका प्रभाव भी बड़ा था। इसलिये इसे कुछ अधिक श्रेय दे दिया गया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी "भूमिका" में इस्लाम के इतने अधिक महत्त्व का खण्डन किया और कहा कि यदि भारत में उसका आगमन न होता तो भी यहाँ का साहित्य लगभग १२ आने वैसा ही रहता जैसा आज है। इस प्रकार भक्ति-भावना के अचानक उमड़ पड़ने के पीछे उन्होंने इस्लाम का केवल चार आना प्रभाव माना। प्रश्न यह है कि यह प्रभाव क्या नैराश्यमूलक था। क्या भौतिक क्षेत्र में पराजित होने के कारण पूरा समुदाय आध्यात्मिकता की ओर दौड़ पड़ा ? इसमें कोई संदेह नहीं कि इस्लाम की प्रभुता ने हिन्दू जनता में निराशा की भावना उत्पन्न की किन्तु भक्ति-भावना उस निराशा से उत्पन्न नहीं हुई। भक्ति से तो समाज के भीतर नयी आशा का संचार हुआ और निराशा दूर भगाई गयी। प्राचीन भक्ति-साहित्य की क्रम-बद्ध परंपरा के विकास की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में मध्यकालीन भक्ति-साहित्य का निरूपण करके द्विवेदी जी ने सिद्ध कर दिया है कि इस्लाम के आगमन से उत्पन्न निराशा इसमें कारण स्वरूप नहीं थी। हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखन को द्विवेदी जी की यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन है।

इतिहास की प्राण-चेतना :

अंतिम प्रश्न है इतिहास को "लिखने" अथवा "जगाने" का। जैनेन्द्र जी ने यह शिकायत की है कि शुक्ल जी ने इतिहास को जगाया नहीं, इसीलिए उसमें भविष्य के लिये

कोई प्रेरणा नहीं है।[1] शुक्ल जी ने पहले-पहल इतिहास के ढाँचे का निर्माण किया और उसमें, व्यापक एकसूत्रता की प्रतिष्ठा करके, पुष्ट और सुडौल बनाया। उसमें प्राणों का स्पंदन भी उत्पन्न किया जिससे वह सजीव हो उठा। आज "हिन्दी-साहित्य" शब्द को कहते अथवा सुनते समय जो बिम्ब कल्पना में उतर आता है उसकी अधिकांश रूप-रेखा आचार्य शुक्ल द्वारा ही निर्मित है। साहित्य-धारा का जीवंत प्रवाह भी पहले-पहल उन्हीं के द्वारा लक्षित हुआ। ऐसी स्थिति में यह मानना बड़ा कठिन है कि वे इतिहास को जगा न सके। यदि जैनेन्द्र जी का संकेत "नये साहित्य" को प्रोत्साहन देने की ओर हो तो यह त्रुटि शुक्ल जी में अवश्य मानी जा सकती है। इतिहास के अन्त में, नई साहित्य-धारा की जो व्याख्या उन्होंने की उसमें नये लेखकों को प्रेरित और प्रोत्साहित करने वाली बातें भी जोड़ी जा सकती थीं। लेकिन नये साहित्य के सम्बन्ध में उनकी जो धारणा थी उसे देखते हुए उनकी व्याख्या तर्क-संगत ही लगती है। एक दूसरी बात और भी थी। उन्होंने इतिहास की भूमिका में यह बताया है कि वे इस ग्रन्थ को आधुनिक काल के द्वितीय उत्थान तक लाकर छोड़ने वाले थे—समकालीन कवियों-लेखकों के सम्बन्ध में कुछ कहना सुनना ऐसा लगता था जैसे अपने सिर पर बला मोल ले रहे हों। लेकिन आँतरिक इच्छा ने कुछ कहने के लिये विवश किया—"जी न माना।" "वर्त्तमान सहयोगियों तथा उनकी अमूल्य कृतियों का उल्लेख भी थोड़े बहुत विवेचन के साथ डरते-डरते किया।"[2] लेकिन आचार्य शुक्ल चक्षु-लज्जा के शिकार कदाचित् नहीं हुए। अपने दृष्टिकोण के कारण ही वे नई पीढ़ी के लेखकों का मार्ग-दर्शन नहीं कर सके। "आधुनिक काल" का विवेचन पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। अगर इतिहास को "जगाने" का यह अर्थ लिया जाय तो जैनेन्द्र जी की बात ठीक हो सकती है।

निष्कर्ष :

शुक्ल जी के इतिहास में त्रुटियाँ अनेक प्रकार की हैं और आगे भी प्रकट होंगी, काल-विकास के साथ-साथ उसकी असंगतियाँ भी उभरती चली जायेंगी किन्तु यह मानने में हिचक नहीं होनी चाहिए कि उनके कार्य का ऐतिहासिक महत्त्व भी साथ ही साथ प्रकट होता चला जायेगा। उनके इतिहास को, जब भी हम तत्कालीन परिस्थितियों के बीच रखकर देखने का प्रयास करेंगे तभी यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस ढाँचे का निर्माण करने के लिये उन्होंने कितनी साधना की होगी। पूर्ववर्त्ती इतिहासकारों का ऋण उनके ऊपर बहुत है किन्तु उन्होंने वास्तविक इतिहास लेखन की दिशा का संधान करके जैसे अपने-आपको उनसे बहुत आगे कर लिया। इस ढाँचे के निर्माण में चाहे उन्हें 'काम्पटनरिकेट' के इतिहास से सहायता मिली हो चाहे और किसी

---

१. "आलोचक रामचन्द्र शुक्ल" में जैनेन्द्र जी का लेख।

२. हि० सा० इ०, पृ० ७।

ग्रन्थ से किन्तु इन बातों से उनके कार्य का गुरुत्व नहीं घटता। किसी दूसरे साहित्य के इतिहास को देखकर अपने साहित्य का इतिहास बनाना भी बड़ा दुष्कर है।

सबसे रोचक बात तो यह है कि हिन्दी के प्रतिष्ठित आलोचक ने उसके साहित्य का इतिहास लिखा इसलिये वह कोरा 'इतिहास' न होकर कुछ और भी है। शुक्ल जी साहित्य के आचार्य और युगांतरकारी समीक्षक भी हैं। इसलिये उनके इतिहास में 'इतिहासपन' कहीं-कहीं भले ही घट गया हो किन्तु समीक्षण का सौंदर्य प्रायः सर्वत्र है। ऐसा लगता है जैसे इतिहास लिखने के बहाने आचार्य को सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के समीक्षण का अवसर मिल गया हो।

*

*

सातवाँ अध्याय

निबन्ध साहित्य

निबन्ध :

निबन्धों का विकास नवयुग से सम्बन्ध रखता है और इसलिये हिन्दी निबन्धों का ढाँचा पाश्चात्य निबन्धों के आधार पर ही निर्मित हुआ। यहाँ इस विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं कि पश्चिम में निबन्ध का विकास किस प्रकार हुआ, केवल इतना संकेत दे देना पर्याप्त होगा कि पश्चिमी निबन्धों का ढाँचा भी समयानुसार धीरे-धीरे विकसित हुआ। प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक मान्तेन (१५३३-१५९२) ही निबन्धों का जन्मदाता माना जाता है। अंग्रेजी में निबन्ध लेखन का सूत्रपात बेकन (१५६१-१६२६) ने किया और पहले-पहले उन्होंने ही उच्चकोटि के मौलिक निबन्ध लिखे। इसके उपरान्त विभिन्न कोटियों और शैलियों के लेखक अंग्रेजी में हुए। निबन्ध के रूप-गठन का पर्याप्त विकास भी इसी बीच हुआ।

नवजागरण की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हिन्दी में निबन्धों का प्रारम्भ भारतेन्दु युग में हुआ, किन्तु खड़ी बोली गद्य के अपर्याप्त विकास और विवेचन की अपेक्षित गंभीरता के अभाव के कारण उन निबन्धों को विशेष गौरव नहीं प्रदान किया जा सकता। चपलता और व्यंग्य-विनोद का उच्छलित रूप उनमें अवश्य दिखाई पड़ता है। जैसे भारतेन्दु, प्रताप नारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों में। सानुप्रास पदावली की अलंकृत छटा भी खूब दिखाई पड़ती है, जैसे बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के निबन्धों में।

द्विवेदीकाल में एक ओर तो निबन्धों की पुरानी धारा चलती रही दूसरी ओर गंभीर निबन्ध-लेखन का कार्य भी चल निकला। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे निबन्ध लिखने वालों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का स्थान अन्यतम है। मनोविकारों पर लिखे हुए उनके निबन्ध द्विवेदीकाल में ही प्रकाशित हुए। इस प्रकार के विषयों (जैसे—'धृति' 'क्षमा' आदि) पर निबन्ध पहले भी लिखे गये थे किन्तु रूप-गठन और वस्तु-विन्यास उतना सुव्यवस्थित रूप में उनमें नहीं मिलता जितना शुक्ल जी में। इसलिए द्विवेदी-कालीन भूमिका में शुक्ल जी के निबन्धों का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है। हिन्दी निबन्धों का विकास आज भी होता चल रहा है और उसकी शैली आदि का परिष्कार भी अपेक्षित मात्रा में हो गया किन्तु शुक्ल जी के निबन्ध पुराने नहीं पड़े। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के वैयक्तिकता प्रधान निबन्धों की एक नई शैली ने जन्म लिया और डा० नगेन्द्र के निबन्ध संबंधी नये प्रयोगों से भी इस दिशा में नई संभावनाएँ दिखाई पड़ने लगी हैं। लेकिन आचार्य शुक्ल के निबन्धों का महत्त्व अभी कम नहीं हुआ।

आठवाँ अध्याय

जीवनी साहित्य

आचार्य शुक्ल ने श्री राधाकृष्ण दास जी का जीवन-चरित ही पुस्तक रूप में स्वतन्त्र ढंग से लिखा था जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा से सन् १९१३ ई० में प्रकाशित हुआ। यों तो हिंदी साहित्य का इतिहास लिखते समय अथवा जायसी, सूर, तुलसी आदि की विस्तृत समीक्षायें लिखते समय, उन्हें हिंदी के लगभग सभी प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध कवियों तथा लेखकों की जीवन-झाँकी प्रस्तुत करनी पड़ी थी, परन्तु जीवन-चरित की सांगोपांगता और व्यवस्था उन संक्षिप्त जीवन-वृत्तों में नहीं आ सकती थी जो आलोचना अथवा साहित्य के इतिहास के अनुपात में रखे गये थे। इन जीवन-वृत्तों की अपूर्णता का एक कारण और था—उपयुक्त प्रामाणिक सामग्री का अभाव। हिंदी साहित्य के प्रायः प्रत्येक प्राचीन और मध्यकालीन साहित्यकार की जीवनी केवल अनुमानों और अनुश्रुतियों पर आधारित रहती चली आई है, उसके जीवन में घटित होने वाली उन छोटी-छोटी घटनाओं (जो उसके मन को विभिन्न दिशाओं और रूपों में प्रभावित करके व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं) के क्रम-बद्ध विवरण की बात तो दूर कवि या लेखक के जन्मकाल स्थान आदि के विषय में भी यदि कोई निर्भ्रांत सूचना मिल जाय तो उसे ही बहुत समझना चाहिए। परिणाम यह होता है कि जब जीवन-सरणियों का अन्वेषी लेखक किसी साहित्यकार के संबंध में शोध प्रारंभ करता है तब वह जन्मतिथि और स्थान-संबंधी परस्पर-विरोधी मतवादों और अनुश्रुतियों की विशाल वाहिनी से जूझने में ही अपनी सारी शक्ति लगा देता है। इसलिये जीवनी-संबंधी ऐसे अनुसंधानपूर्ण लेखों में प्रामाणिकता और वैज्ञानिकता का ऊपरी वातावरण तो अवश्य दीख पड़ता है परंतु जीवन और साहित्य का एक ऐसा क्रमबद्ध और समानांतर विकास नहीं निरूपित हो पाता जो साहित्यकार के आदर्श जीवन-चरित के लिये आवश्यक है। अतः ऐसी जीवनियों को एक भिन्न कोटि में रखकर देखना अधिक समीचीन होगा। 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' तथा 'जायसी' और 'सूर' के समीक्षात्मक प्रबन्धों में आई हुई जीवनियाँ इसी कोटि की हैं। इनमें स्वतन्त्र जीवन-चरित का स्वारस्य नहीं है।

जैसा ऊपर कहा गया है 'राधाकृष्ण दास का जीवन चरित' सन् १९१३ ई० में प्रकाशित हुआ। उस समय तक हिंदी-भाषा-भाषी समुदाय साहित्यकार के वैयक्तिक जीवन को आवश्यकता से बहुत कम महत्त्व देता था। इसीलिये सुधारवादी आंदोलनों के समानान्तर बड़े-बड़े धार्मिक और राजनीतिक नेताओं की शिक्षोपयोगी जीवनियों का प्रणयन तो किसी मात्रा में होता गया परन्तु किसी लेखक अथवा कवि के दैनिक जीवन

के सम्बन्ध में लोगों की उदासीनता ज्यों की त्यों बनी रही। केवल उँगलियों पर गिने जाने वाले लेख ही उस काल की पत्र-पत्रिकाओं से ढूँढ़ कर निकाले जा सकते हैं जिनमें किसी साहित्यकार की जीवन-झाँकी सम्यक् रूप से प्रस्तुत की गई हो। स्वयं बाबू राधाकृष्ण दास ने नागरी दास का जीवन-वृत्त लिखा था जो 'ना० प्र० सभा' के एक प्रारम्भिक अधिवेशन में पढ़ा गया था और 'सरस्वती' के प्रकाशित होने पर उन्होंने भारतेन्दु बाबू का जीवन-वृत्त लिखा जो उस के प्रारम्भ से लेकर कई अंकों तक निकलता रहा। इसके अतिरिक्त कार्तिक प्रसाद खत्री और फ्रेड्रिक पिन्काट आदि के संक्षिप्त चरित्र भी उसी समय प्रकाशित हुए थे जिन्हें शुक्ल जी ने ही लिखा था। भारतेन्दु का एक वृहत् जीवन-चरित्र बाबू शिवनन्दन सहाय ने भी लिखा है। परंतु शुक्ल जी के जीवनीलेखन में कुछ ऐसी मौलिक विशेषताएँ हैं जो तत्कालीन लेखकों में नहीं मिलतीं और जो जीवनी के प्रमुख और आधारभूत तत्त्वों का निर्माण करके उसे अधिक उपयोगी बनाती हैं। इसके पहले कि हम शुक्ल जी द्वारा लिखित जीवन-चरित पर विचार करें आवश्यक यह होगा कि जीवनी लेखन के मूलभूत तत्त्वों पर विचार कर लिया जाय।

यह सर्वविदित सत्य है कि प्रत्येक साहित्यकार अपनी कृतियों में स्वानुभूति की ही विवृति करता है और यह भी सत्य है कि उसके दैनिक जीवन में घटित होने वाली घटनाएँ और क्रिया-कलाप अनुभूतियों को गहरी और मर्म-स्पर्शिणी बनाते हैं। अपने चारों ओर के वातावरण से ही उस व्यक्तित्व का निर्माण होता है जिसे साहित्यकार निःशेष भाव से समाज को समर्पित कर देता है। परन्तु इन घटनाओं और क्रिया-कलापों का विवेचन करते समय एक ओर से सजग रहना है। इनका प्रत्यक्ष प्रभाव साहित्यिक कृतियों में उतना परिलक्षित नहीं होता जितना साधारणतया अनुमान कर लिया जाता है। इसके विपरीत वास्तविकता यह है कि उच्च-कोटि के साहित्यकार में बाह्य जगत् की पूर्ण और सच्ची अभिव्यक्ति भी परोक्ष ही रहती है। केवल सजग-बुद्धि पाठक या आलोचक ही इस सूक्ष्म प्रभाव की सीमा को लक्ष्य कर सकते हैं। अतः किसी साहित्यकार की जीवनी में निम्नांकित तत्त्वों का निस्संग और संतुलित विवेचन होना अनिवार्य है।

पैत्रिक संस्कार और परंपरा :

जन्मकाल में शिशु के मानस-जगत् में मातृ पक्ष के संस्कारों का संचय प्रभूत मात्रा में रहता है, इतना निर्विवाद है, परन्तु इस बात का निश्चय करना अभी तक संभव नहीं हो सका कि शिशु-मानस की कोई विशिष्ट क्रिया पिता या माता के पक्ष में किस स्थान पर अपने मूल रूप में वर्त्तमान थी। कारण यह है कि इन दोनों पक्षों की परंपरा भी अनादि काल से व्यक्ति, प्रकृति, समाज आदि की पारस्परिक प्रतिक्रियाओं में इतनी उलझनों के बीच निर्मित होती चली आई है कि किसी विशेष चित्तवृत्ति का मूल उदगम ढूँढ़ लेना असाध्य है। ऐसी स्थिति में बालक के मानसिक क्षितिज के

निर्माण में सहायक संस्कारों का अन्वेषण जाति-परंपरा, वंशपरंपरा और कुछ पीढ़ियों में व्यक्त होने वाली कौटुम्बिक रीति-नीति तथा व्यवहार-पद्धति तक ही सीमित रह जाता है। संस्कारों के इस सीमित विश्लेषण में भी कार्य-कारण परंपरा स्थापित करने में पग-पग पर भ्रमित होने की आशंका है। बहुधा किसी विशेष प्रवृत्ति का मूल उद्गम ढूँढ़ते-ढूँढ़ते अन्वेषी लेखक ऐसे संस्कार पर जा टिकता है जिससे उसका कोई लगाव नहीं, उसी प्रकार कभी किसी अभ्यास-लब्ध शक्ति को किसी प्राचीन संस्कार या तात्कालिक परिस्थिति का आदान समझ लेने की भूल हो जाती है। अतः यह मानना पड़ेगा कि पैत्रिक संस्कार और परंपरा का विचार व्यक्तित्व के विकास के अध्ययन में जितना आवश्यक है, उसका उचित मूल्यांकन उतना ही कठिन और दुर्लभ्य।

प्रारम्भिक वातावरण :

हम जानते हैं कि शैशवावस्था में सुकुमार मन के ऊपर बाह्य जगत् की प्रतिक्रियायें बहुत सहज और स्पष्ट होती हैं। अनेक ऐसी छोटी-मोटी घटनायें जो किशोरावस्था अथवा तरुणाई में मन के स्वाभाविक व्यापार में कोई विक्षेप नहीं उपस्थित कर पातीं, शैशवावस्था में प्रबल आघात से मन के सुकुमार तंतुओं को आकर्षित कर किसी विशेष दिशा में फैला देती हैं। उन्हीं घटनाओं से शिशु-मानस की मुख्य वृत्तियों का निर्माण या परिष्कार होता है। इसलिये बहुधा यह देखा जाता है कि प्रारम्भिक अवस्था में बालक की प्रवृत्ति में जिन गुणों अथवा दुर्गुणों का बीज वपन हो जाता है वे ही आगे चल कर जीवन में अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित होते हैं। उनकी जड़ इतनी गहरी होती है कि उन्हें समूल उच्छिन्न करना सहज नहीं। साहित्यकार के शैशव का वातावरण इसीलिए और भी महत्त्वपूर्ण है कि उसका हृदय अपेक्षाकृत कोमल और स्पर्श-कातर होता है, वह भावुक और तीव्र आवेगपूर्ण प्राणी होता है। उसके मानस-पटल पर बाह्य जगत् के रूपाकार और क्रिया-कलाप सरलता से ही गहरी छाप छोड़ जाते हैं। शैशवावस्था के वातावरण से समुद्भूत ये मानसिक प्रतिक्रियाएँ ही संचित होकर कारयित्री प्रतिभा के संयोग से स्वस्थ और समुन्नत साहित्यिक कृति के रूप में प्रतिफलित होती हैं। अतः सिद्ध है कि जीवनी-लेखन में इस वातावरण का उचित मूल्यांकन अनिवार्य है।

युग और समाज से आदान-प्रदान :

जब व्यक्ति प्रबुद्ध होकर प्रौढ़ होता है और जीवन तथा जगत् के अनेक रहस्य उसके सामने अनावृत होने लगते हैं तब उसके प्रभाव-ग्रहण की क्षमता और स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है। जिन घटनाओं और व्यापारों से पहले वह विशुद्ध संवेदनात्मक स्तर पर प्रभावित होता था उन्हीं से बौद्धिक स्तर पर परिचित होकर अपनी जिज्ञासा शांत करने लगता है। यहाँ यह नहीं कहा जा रहा है कि तरुण अथवा प्रौढ़ मन में विशुद्ध संवेदना होती ही नहीं और व्यक्ति केवल बुद्धि का स्तूपाकार संघात

मात्र बन जाता है। वास्तविकता यह है कि प्रौढ़ मस्तिष्क में बुद्धि के अधिक प्रबल और सतर्क हो जाने के कारण विशुद्ध संवेदनात्मक प्रभाव भी तर्क की कसौटी पर खरे उतर कर ही अपना अस्तित्व बना पाते हैं। अतः इस काल में युग और समाज तथा निकटस्थ वातावरण का जो प्रभाव हृदय और विचारों पर पड़ता है वह शैशवावस्था के प्रभाव से सर्वथा भिन्न है और उनका अध्ययन-मूल्यांकन भिन्न दृष्टि से होना चाहिए। प्रत्येक साहित्यकार अपने युग और समाज से बहुत कुछ प्राप्त करता है और प्रतिदान रूप में लगभग उतना ही दे भी जाता है। अतः जीवनी-लेखन में इस आदान-प्रदान का समुचित मूल्यांकन आवश्यक है।

निसर्गसिद्ध आकस्मिक परिवर्तन :

कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि किसी व्यक्तित्व का विकास एक निश्चित दिशा में चलता हुआ अचानक किसी दूसरी दिशा में मुड़ जाता है। इस आकस्मिक परिवर्तन का कोई सुनिश्चित या स्पष्ट कारण तत्कालीन परिवेश में ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलता—ऐसे विकार बहुधा अत्यन्त सूक्ष्म मनोग्रन्थियों से विकसित होते हैं अथवा उनके मूल में वे छोटी-छोटी परिस्थितियाँ कार्य करती रहती हैं जिनकी ओर हमारा ध्यान सहसा नहीं जाता। उपर्युक्त असाधारण परिवर्तनों को जन्म देने वाली सूक्ष्म मनोग्रन्थियों और साधारण घटनाओं के समुच्चय पर भी विचार करना जीवनी-लेखक के लिये आवश्यक है।

साहित्यिक कृतित्व और जीवनी-विवरण :

साहित्यकार के व्यक्तित्व का विकास दिखलाते समय यह नितान्त आवश्यक है कि जीवन की घटनाओं, नैसर्गिक शक्तियों और साहित्यिक कृतित्व में कारण-कार्य सम्बन्ध स्थापित किया जाय। इस स्थापना में अनुमान का अधिक आश्रय लेने पर भ्रमित होने की आशंका बहुत है, अतः केवल सफल जीवनी-लेखक ही समुचित निर्भ्रान्त कार्य-कारण-परम्परा के जोड़ने में सफल हो सकता है। जीवनी और साहित्य का यह तादात्म्य-स्थापन साहित्यकार के व्यक्तित्व का सच्चा स्वरूप स्थिर करने के लिये अनिवार्य है।

आचार्य शुक्ल द्वारा लिखित राधाकृष्ण दास के 'जीवन-चरित' में उपर्युक्त तत्त्वों का समावेश तो पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ता है, परन्तु इतना अवश्य कहा जायेगा कि उनके व्यक्तित्व में वह साहित्यिक उच्चता नहीं थी जो इन तत्त्वों को अधिक उपयोगी या सार्थक सिद्ध कर सकती। शुक्ल जी के चरित-नायक ने खड़ी बोली हिन्दी साहित्य के उत्थान काल में कुछ संगठनात्मक या प्रचारात्मक, और उससे कुछ और कम, रचनात्मक कार्य भी अवश्य किया परन्तु एक श्रेष्ठ साहित्यकार की भाँति न तो वे कोई युगान्तरकारिणी साहित्यिक कृति प्रस्तुत कर सके और न ही अपने समूचे व्यक्तित्व से हिन्दी-साहित्य की किसी धारा-विशेष का नेतृत्व कर सके। ऐसी दशा में उनके जीवनचरित के अन्तर्गत सूक्ष्म घटनाओं और तथ्यों के मार्मिक विवेचन

का महत्त्व घट जाता है। इतना होते हुए भी आचार्य शुक्ल ने अपनी पुस्तक में जीवनी के मूल तत्त्वों को सदैव अपनाये रक्खा।

जीवनी-लेखन में सामग्री-संग्रह की अत्यधिक आवश्यकता पड़ा करती है परन्तु यह बात शुक्ल जी की प्रवृत्ति के विपरीत थी—'निवेदन' में उन्होंने कहा है: "एक तो जीवन-चरित लिखने में जिस संग्रह-श्रम की आवश्यकता अधिक होती है वह मेरी रुचि के अनुकूल नहीं।" शुक्ल जी की स्वाभाविक रुचि गम्भीर अध्ययन, मनन और चिन्तन की ओर थी, प्रचारात्मक या संगठनात्मक कार्यों के क्षेत्र में उनकी प्रतिभा पंगु हो जाती थी। प्राचीन युग से सम्बद्ध किसी भी पुस्तक की रचना में सब से अधिक श्रम सामग्री के मूल और प्रच्छन्न स्रोतों तक पहुँचने ही में करना पड़ता है, विवेचन और व्याख्या का प्रश्न बाद में उठता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास का निर्माण करते समय भी ऐसे ही श्रम की आवश्यकता थी और यदि 'नागरी प्रचारिणी-सभा' की संचित सामग्री उपलब्ध न होती तो शुक्ल जी अपने इतिहास का प्रस्तुत ढाँचा बना सकने में सर्वथा असमर्थ होते। परन्तु राधाकृष्ण दास का जीवन चरित लिखते समय सामग्री-संग्रह का प्रश्न शुक्ल जी के लिए उतना कठिन नहीं था। बाबू श्यामसुन्दरदास और केदारनाथ पाठक जैसे लोगों की सहायता के अतिरिक्त शुक्ल जी की अपनी स्मरण-शक्ति भी काम दे सकती थी। काशी के अन्य लोग भी एतत्सम्बन्धी सामग्री के संचय में सहायक हो सकते थे।

पुस्तक के प्रारम्भ में राधाकृष्ण दास का वंशोल्लेख करते हुए भारतेन्दु की छत्रछाया में उनकी साहित्यिक अभिरुचि का पनपना दिखाया गया और फिर तत्कालीन सामाजिक परिवेश द्वारा उक्त अभिरुचि का मार्जन दिखलाते हुए कहा गया है—"जहाँ देश की दुरवस्था पर शोक प्रकट किया जाता था, समाज की अधम गति की आलोचना होती थी, हिन्दी की उन्नति के उपाय सोचे जाते थे, वहाँ रह-रह कर बालक राधाकृष्ण बूढ़ों के भी कान काटने लगे।"[१] चरितनायक महोदय की कर्त्तव्य-परायणता और उत्साह को लक्ष्य कर शुक्ल जी ने कहा:—

"वास्तव में यदि यह उदयकाल से ही वायु के समान चंचल होकर समय-समय पर भ्रम रूपी मेघों को न छाँटते रहते तो भारतेन्दु की शीतल किरणें बहुतेरे अन्धकार-मग्न हृदयों तक न पहुँच पातीं। यदि यह सच्चा परखने वाला न होता तो आज हम उस नर-रत्न के बहुत से अलौकिक गुणों को न जान सकते।"[२]

इस प्रकार प्रारम्भ से बाबू राधाकृष्ण दास जी को साहित्यानुरागी तथा विद्या-व्यसनी के रूप में प्रस्तुत करके भारतेन्दु के प्रभावशाली व्यक्तित्व की छाया में इनके जीवन के समुल्लासपूर्ण उषःकाल का विवरण दिया गया है। परन्तु अभी बाबू राधाकृष्ण

---

१. बाबू राधाकृष्ण दास, जीवन चरित, पृ० ६।

२. वही, पृ० २५।

दास की साहित्य-यात्रा प्रारम्भ ही हुई थी और उनके डगमगाते कदमों में सुदृढ़ता तथा सुस्थिरता धीरे-धीरे आनी ही शुरू हुई थी कि अकस्मात् भारतेन्दु की 'कला' सर्वदा के लिये अस्त हो गई। राधाकृष्ण दास के किशोर-हृदय पर इस घटना का बड़ा घातक प्रभाव पड़ा। इसका उल्लेख करते समय भारतेन्दु के प्रति अत्यधिक श्रद्धा होने के कारण शुक्ल जी की शब्दावली भी शोक से आविष्ट हो उठी:—

"जिन आँखों से बाबू राधाकृष्ण दास उस भारतेन्दु के माधुर्य का विकास देखते थे उन्हीं से आज इस संसार से विदा होते उन्हें देखा। वह हँसती हुई माधुर्य मूर्ति सब दिन के लिए इनकी आँखों के सामने से हट गई।"[1]

भारतेन्दु के निधन के उपरान्त इनके ऊपर विपत्तियों का पहाड़-सा टूट पड़ा। चारों ओर से छली और अवसर की ताक में लगे रहने वाले लोगों ने इस स्थिति से लाभ उठाने की सोची। उनके सभी छल-छन्दों से साफ़-साफ़ बच निकलना सरल कार्य न था परन्तु ज्यों-त्यों करके ये सारी विघ्न बाधाओं को पार कर गये और अंततोगत्वा सत्य की विजय हुई। शुक्ल जी कहते हैं:—

"स्वार्थी लोगों ने, जिनकी दाल इनके मारे नहीं गलने पाती थी, बीच-बीच में इन पर अनेक अपवाद भी लगाये और घर में एक दूसरे के मन में मैल भी डालनी चाही पर ये अपने कर्त्तव्य-पथ से न डिगे।"[2]

इन कठिनाइयों से जूझने में जहाँ इनकी रचनात्मक प्रतिभा के विकास में व्याघात उपस्थित हुआ वहाँ इनकी व्यवहार-कुशलता पर शान चढ़ती गई। शुक्ल जी ने कहा है:—

"ये सरस्वती के अनन्य उपासक नहीं थे। इनमें लिखने पढ़ने की वासना इतनी तीव्र और प्रचण्ड नहीं थी कि ये संसार की और बातों की कुछ परवा न करते। ये व्यवहारकुशल भी बड़े थे।"[3]

चरितनायक के मानसिक गठन और स्वभाव का व्यंग्यमिश्रित उल्लेख भी दर्शनीय है:—

"इसी प्रकार जब इनके साथ कोई कुछ बुराई करता था, तब उसे प्रायः कुछ न कह कर संसार की गति पर, समाज की स्वार्थपरता पर ये दुःख प्रकट करते थे। अधिकांश भारतवासियों की तरह ज़माने की शिकायत इन्हें भी रहा करती थी ! .....शुद्ध क्रोध की प्रेरणा पर इन्होंने किसी कार्य का अनुष्ठान नहीं किया। मनोविकारों में करुणा और शान्ति ही का संचार इनमें अधिक था।"[4]

---

१. बाबू राधाकृष्ण दास, जीवन चरित, पृ० ३५।
२. वही, पृ० ६०।
३. वही, पृ० ६५।
४. वही, पृ० ११६।

शुक्ल जी अपनी काव्य-समीक्षा में जिस क्रोध की प्रेरणा देखने के लिए लालायित रहते थे, उसकी एकाध झाँकी बाबू राधाकृष्ण दास में भी पाने के लिये उत्सुक थे। परन्तु उनके व्यक्तित्व में करुणा और शान्ति का ही प्राधान्य होने के कारण कर्मों की वह उदारता और लोकोपयोगिता प्राप्त नहीं हो सकी, जो चरित्र की महत्ता का परिचय देती है।

यद्यपि शुक्ल जी ने लगभग सभी प्रसिद्ध पुस्तकों की चर्चा प्रसंग आने पर जीवन-क्रम में ही कर दी है और उसकी रचना में निहित प्रेरणा का संबंध तात्कालिक जीवनगत परिस्थितियों से जोड़ दिया है फिर भी पुस्तक के अंतिम भाग में अपने चरितनायक की रचनाओं की परिचयात्मक सूची उन्होंने दी है जो अनेक कारणों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। साहित्यिक कृतियों की सूक्ष्म तथा तात्त्विक समीक्षा इन परिचयात्मक टिप्पणियों में मिलती है। ध्यान देने की बात यह है कि सन् १९१३ ई० के पूर्व (जब यह पुस्तक लिखी गई थी) आचार्य शुक्ल को किसी कवि की रचनाओं पर विचार करने का यह अवसर नहीं मिला था। प्रयोगात्मक समीक्षा के क्षेत्र में अभी वे कुछ पग ही बढ़ा सके थे। इसलिये इन परिचयात्मक टिप्पणियों में उनकी समीक्षा का उषःकाल देखा जा सकता है। ये टिप्पणियाँ सिद्ध कर देती हैं कि अत्यन्त प्रारम्भ से ही उनमें अंतःप्रवेशशीला बुद्धि और सूक्ष्म सौंदर्यबोध का बड़ा अनोखा सामंजस्य था। यहाँ शुक्ल जी ने निस्संग व वस्तून्मुखी दृष्टि से काम लिया है—मिथ्या सराहना अथवा निन्दा की भावना से नहीं। "महाराणा प्रतापसिंह" नाटक के परिचय में त्रुटियों की ओर अंगुलिनिर्देश करते हुए कहा :—

"मीना बाजार और अकबर के महल आदि का दृश्य आगरे में न दिखाकर दिल्ली में दिखाया गया है। यह इतिहासप्रसिद्ध बात है कि अकबर आगरे में रहता था, दिल्ली में नहीं·····भूमिका में सलीम का मेवाड़ की चढ़ाई में जाना इतिहास-विरुद्ध बतलाकर भी नाटक में इसका लड़ाई पर जाना दिखाया गया है।"[1]

इसके अतिरिक्त शुक्ल जी के जीवनी-लेखन में कुछ अन्य विशिष्टतायें हैं जिनके कारण पुस्तक में औपन्यासिक कथा-रस का माधुर्य आ गया है। पहली विशेषता यह है कि उन्होंने निजी साक्षात्कार तथा अनुभव का उल्लेख करके जहाँ एक ओर घटना-प्रसंगों को प्रत्यक्ष किया है वहाँ पाठक की कथानुरागिणी वृत्ति को भी उत्तेजित किया है :—

"मैंने देखा कि एक चारपाई पर ये बिल्कुल अशक्त और क्षीण होकर पड़े हैं, बीच-बीच में अपने रोग-जनित कष्ट को आसपास बैठे हुए लोगों से कहते जाते हैं। मुझे देखकर इन्होंने तुरन्त बात फेर दी और हिन्दी की चर्चा चला दी।"[2]

---

१. बाबू राधाकृष्ण दास, जीवन चरित, पृ० १३५।
२. वही, पृ० ९७।

बाबू राधाकृष्ण दास के गोलोकवास के उपरांत एक शोक-सभा में बोलते हुए पंडित सुधाकर द्विवेदी ने कहा था, कि "बहुत सी ऐसी बातें थीं जो मुझे उनसे पूछनी पड़ती थीं। देखिये एक पद का अर्थ मैं दूसरा लगाता था, बाबू राधाकृष्ण दास ने दूसरा अर्थ समझाया"[१] इस वक्तव्य को लक्ष्य कर शुक्ल जी ने अपनी पद-टिप्पणी में लिखा "इस पर मुझे अपने एक मित्र की याद आई, जो कहीं डाक्टरी की नियमित शिक्षा न पाकर भी अपनी डाक्टरी जमा रहे थे। मैंने एक बार उनसे उसके बीमार पिता का स्वास्थ्य पूछा। उन्होंने कहा, 'बस इसी से समझ जाइये कि मैं और डॉक्टर को बुलाने जा रहा हूँ।' मेरे मित्र को तो लोग चाहे जो कहें पर संस्कृत के पंडितों के लिए यह कोई बहुत बड़ा बेढंगापन नहीं।"[२]

दूसरी विशेषता यह है कि जीवनी की अधिकांश घटनाओं के प्रति लेखक का रागात्मक लगाव प्रकट हुआ है। मनोनुकूल घटनाओं और विचारों का विवरण आवेश और उल्लास के साथ प्रस्तुत किया गया और मन के विपरीत पड़ने वाले विचारों का, पहले तो, उल्लेख ही नहीं किया गया और यदि किया गया तो, इस प्रकार जैसे किसी विवशता में वैसा करना पड़ रहा हो। एक बात ध्यान देने की है कि शुक्ल जी का भावावेश केवल उन्हीं अवसरों पर प्रकट हुआ जहाँ हिन्दी भाषा और साहित्य के सम्मान का प्रश्न उठा है। नितान्त वैयक्तिक घटना-प्रसंगों का विवरण लेखक ने प्रायः तटस्थ भाव से उपस्थित किया। शुक्ल जी की नस-नस में व्याप्त हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति प्रेम ही इसके लिए उत्तरदायी है। 'नागरी प्रचारिणी सभा भवन' के उद्घाटन-अवसर पर काशी की गलियाँ किस प्रकार हिन्दी लेखकों और कवियों से भर उठी थीं इसका उल्लेख करते हुए शुक्ल जी ने कहा :—

"इस अवसर पर प्रायः बहुत से हिन्दी-प्रेमी बहुत दूर-दूर से आये थे। काशी की जिस गली में जाइये दो एक हिन्दी के लेखक प्रसन्नमुख आते-जाते दिखाई पड़ते थे। बड़ा मनोहर दृश्य था।"[३]

इसी प्रकार राधाकृष्ण दास की हिन्दी सम्बन्धी कर्त्तव्यनिष्ठा तथा उत्सर्ग के साथ अपने हृद्गत भाव का सामंजस्य बिठाते हुए लिखा है :—

"विचारने की बात यह है कि यह लोकापवाद, मनस्ताप और शारीरिक कष्ट इन्होंने किसके लिए सहा। क्या अपने लिए? नहीं, 'नागरी प्रचारिणी सभा' के लिए, हिन्दी के लिए। थे तो भारतेन्दु ही के फुफेरे भाई न।"[४]

इन्हीं आवेशपूर्ण वर्णनों में शुक्ल जी अपने विचारों की कुंजी भी छोड़ते गये हैं :—

---

१. बाबू राधाकृष्णदास, जीवनचरित, पृ० ६६।
२. वही, पृ० ६६।
३. वही, पृ० ६५।
४. वही, पृ० ७७।

"मुख्य बात तो यह थी कि ये (बाबू राधाकृष्ण दास) संशोधक वा प्रवर्त्तक प्रसिद्ध होने की इच्छा से कोई कार्य नहीं करते थे। ये उन लोगों से सर्वथा भिन्न थे जो मर्यादा-बद्ध हिन्दू समाज को विशृंखल करके विलायती ब्रह्मचर्य का सुख भोगना चाहते हैं।"[१]

मन की विपरीत घटना का उल्लेख करते समय शुक्ल जी की विवशता और अरुचि छिपाये नहीं छिपती—ऐसा लगता है जैसे यदि वह उल्लेख जीवनी-क्रम को सुव्यवस्थित करने के लिए नितान्त अनिवार्य न होता तो वे उसकी उपेक्षा कर जाते। भारतेन्दु का प्रसंग आने पर लिखा है, "इस सम्बन्ध में एक और व्यक्ति का नाम लेना पड़ता है। वह मल्लिका थी—वही मल्लिका जिसका बाबू हरिश्चन्द्र के साथ बहुत कुछ संबंध था।"[२] भारतेन्दु के प्रति शुक्ल जी की बचपन से ही अगाध श्रद्धा थी। पुस्तकों में अनेक अवसरों पर वह व्यक्त भी हुई है। उस श्रद्धा के कारण ही मल्लिका के प्रसंग को प्रस्तुत करते समय इन्हें इतना अधिक संकोच और ग्लानि हुई।

यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या जीवनी-लेखन में ऐसी रागद्वेषपूर्ण आसक्ति वैज्ञानिकता और तटस्थता को ठेस नहीं पहुँचाती, क्या ऐसी प्रवृत्ति वस्तु-सत्य के ऊपर पर्दा नहीं डालती अथवा उसे अतिरंजित नहीं करती? इस संबंध में यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि शुक्ल जी का रागात्मक लगाव एक सीमा तक ही पहुँचा, उनकी दृष्टि गुण और दोष दोनों ही पर समान रूप से बनी रही। इस दृष्टि से उन्होंने जीवन चरित को यथासम्भव सत्याधारित और रोचक बनाया है। इसका सबसे पुष्ट प्रमाण यही है कि पाठक का हृदय भी उनके राग और द्वेष में सदैव साथ चला चलता है।

---

१. बाबू राधाकृष्णदास, जीवनचरित, पृ० ५८।

२. वही, पृ० ५२।

नवाँ अध्याय

कहानी

शुक्ल जी की लिखी हुई 'ग्यारह वर्ष का समय' नामक कहानी सन् १९०३ की 'सरस्वती'[१] में प्रकाशित हुई। स्वयं उन्होंने ही अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में हिन्दी की प्रारम्भिक मौलिक कहानियों में इसकी गणना की है। प्रारंभिक कहानियों की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है :—

"इनमें से यदि मार्मिकता की दृष्टि से भाव-प्रधान कहानियों को चुनें तो तीन मिलती है—'इंदुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'दुलाईवाली'। यदि 'इंदुमती' किसी बँगला कहानी की छाया नहीं है तो हिन्दी की यही पहली मौलिक कहानी ठहरती है। इसके उपरान्त 'ग्यारह वर्ष का समय' फिर 'दुलाई वाली' का नंबर आता है।"[२]

'इन्दुमती' की पूर्ण मौलिकता के सम्बन्ध में किंचित् संदेह व्यक्त करके शुक्ल जी ने अपनी कहानी को ही असंदिग्ध रूप से प्रथम मौलिक कहानी मानने का संकेत दे दिया है। डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने भी अपने गवेषणात्मक प्रबन्ध—"हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास"—में विचार-विमर्श के उपरांत यही स्थिर किया है कि हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी यही है।[३] यदि यह बात सही है तो यह मानने में संकोच नहीं होना चाहिए कि कहानी के क्षेत्र में शुक्ल जी ने आगे चलकर कुछ कार्य भले ही न किया हो, किन्तु हमारे अगुवा वही हैं। यह एक विलक्षण बात है कि केवल एक ही कहानी लिखने के बाद उन्होंने इस मार्ग पर फिर कदम नहीं रखा, किन्तु इस एक कहानी का ही ऐतिहासिक महत्त्व है, यह बात भूली नहीं जा सकती।

इस कहानी की रचना के समय शुक्ल जी की आयु लगभग १८-१९ वर्ष की थी, अतः इसमें किशोरावस्था में रहने वाली अनुभूतियों और कल्पनाओं का सम्मिश्रण होना अनिवार्य था, किन्तु संस्कारों के संयम ने कथा और विचार-प्रवाह को मर्यादित रखा है।

कहानी उत्तम पुरुष में लिखी गई है जिसका मूल कथानक लेखक के शब्दों के आश्रय से इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

"दिन भर बैठे-बैठे मेरे सिर में पीड़ा उत्पन्न हुई, मैं अपने स्थान से उठा और अपने एक नये एकान्तवासी मित्र के यहाँ मैंने जाना विचारा। जाकर मैंने देखा तो

---

१. सरस्वती, भाग ४, पृ० ३०८-३१७।
२. हि० सा० इ०, पृ० ५०४।
३. हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास, पृ० ५७।

वे ध्यान-मग्न सिर नीचा किये कुछ सोच रहे थे।.....उदास तो वे हर समय रहा करते हैं। कई बेर उनसे मैंने इस उदासीनता का कारण पूछा भी किन्तु मैंने देखा कि उसके प्रकट करने में उन्हें एक प्रकार का दुःख होता है, इसी कारण मैं विशेष पूछताछ नहीं करता।"[१]

(लेखक ने मित्र से घूमने का प्रस्ताव किया और वे चल पड़े)

"जाह्नवी के तट से कुछ अन्तर पर नीचे मैदान में बहुत दूर, गिरे हुए मकान के ढेर स्वच्छ चन्द्रिका में दिखाई दिये !.....मैंने संक्षेप से उस खँडहर के विषय में जो कुछ सुना था उनसे कह सुनाया।"[२]

(उस खँडहर में घूमघामकर ध्यान-मग्न एक शिला पर बैठे थे)

'हम लोग अधिक विलम्ब तक इस अवस्था में न रहने पाये.....कुछ दूर पर एक श्वेत वस्तु इसी खँडहर की ओर आती देख पड़ी।"[३]

(मालूम हुआ वह एक स्त्री थी जो खँडहर में विलीन होती अंत में आंगन में आ पहुँची। और तब.....)

"मित्र ने पूछा—"देवि ढिठाई क्षमा करो। मेरे भ्रमों का निवारण करो।" वह स्त्री क्षण भर तक चुप रही, फिर स्निग्ध और गंभीर स्वर से बोली, "तुम कौन हो और क्यों मुझे व्यर्थ कष्ट देते हो।"[४]

(मित्र के आग्रह पर वह अपनी बीती कहानी सुनाने लगी)

"उसकी कथा से ज्ञात हुआ कि वह चन्द्रशेखर मिश्र के पुत्र को ब्याही थी किन्तु बाढ़ में उसके पति कहीं लापता हो गये और सारा गाँव ध्वस्त हो गया। विवश होकर वह अपने चचा के घर रहने लगी पर वहाँ उसे बहुत दुःख भोगना पड़ा। अंत में उसे इस खँडहर ही में आकर सान्त्वना मिली क्योंकि वही उसके पति का मल निवास स्थान था। कहानी सुनकर मित्र ने कहा।"

"देवि ! तुमने बहुत कुछ रहस्य प्रकट किया, जो कुछ शेष है उसका वर्णन कर अब मैं इस कथा की पूर्त्ति करता हूँ।"[५]

(चन्द्रशेखर के पुत्र की कहानी उस मित्र ने पूरी की और अंत में कहा)

"कदाचित् तुम पूछोगी कि इस समय अब वह कहाँ है ? यह वही अभागा मनुष्य तुम्हारे सम्मुख बैठा है।"[६]

---

१. सरस्वती, भाग ४, पृ० ३०८।
२. वही, पृ० ३०९।
३. वही, पृ० ३१०।
४. वही, पृ० ३११।
५. वही, पृ० ३१५।
६. वही, पृ० ३१६।

(अपने पति के हाथ पर काला तिल देखकर उसने उसे पहचाना। रात को लोग वहीं रहे, सुबह नगर की ओर लौटे।)

उक्त कथानक को देखने से विदित होगा कि लेखक ने यथावसर चमत्कारी कुतूहल उत्पन्न करने का प्रयास किया है। प्रारम्भ में जब मित्र की रहस्यमयी 'उदासीनता' का उल्लेख होता है तब पाठक की जिज्ञासा जाग उठती है, फिर खँडहर में पहुँचने के बाद, निर्जन एकांत स्थान में, किसी श्वेत-वस्त्रा रमणी-मूर्ति का साक्षात्कार केवल लेखक को ही नहीं, पाठकों को भी विस्मित करके, कुतूहल की सृष्टि करता है। जब उस स्त्री की कहानी प्रारम्भ होती है तब कुतूहल लगातार बढ़ता चला जाता है और यह जिज्ञासा तीव्र होती जाती है कि इसकी चरम परिणति कहाँ होगी। उसकी कथा समाप्त होने के बाद मित्र महोदय का यह कहना कि 'जो कुछ शेष है उसका वर्णन कर अब मैं इस कथा की पूर्त्ति करता हूँ', कहानी को एक झटका देकर चरम बिन्दु की ओर प्रवाहित कर देता है और पाठक कुछ-कुछ आश्वस्त होने लगते हैं। दूसरे छोर से शुरू होने वाली कहानी भी जब अपने अवसान पर जा पहुँचती है तब सम्पूर्ण रहस्य प्रकट हो जाता है—"यह वही अभागा मनुष्य तुम्हारे सम्मुख बैठा है।" अंत में दी जाने वाली यह सूचना कि रात को लोग वहीं रहे और प्रातःकाल नगर की ओर लौटे, आज के पाठक के लिए निरर्थक है, किन्तु तत्कालीन पाठक संभवतः उसे भी पढ़ना चाहता था।

ऊपर के विवरण से प्रकट है कि इस कहानी का रचना-विधान पुराने ढंग का हैं : कुतूहल-बिन्दु भी पुरानी परिपाटी पर ही निर्मित किये गये हैं। बीच-बीच में क्षेपक की तरह आने वाले निम्नांकित प्रसंग तो कहानी और पाठक के बीच भारी व्यवधान उपस्थित कर देते हैं :—

"हमारे कतिपय पाठक हम पर दोषारोपण करेंगे कि "हैं! न कभी साक्षात् हुआ, न वार्तालाप हुआ, न लम्बी-लम्बी कोर्टशिप हुई, यह प्रेम कैसा ?" महाशय! रुष्ट न हूजिये। इस अदृष्ट प्रेम का धर्म और कर्त्तव्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसकी उत्पत्ति केवल सदाशय और निःस्वार्थ हृदय में ही हो सकती है। इसकी जड़ संसार के और सब प्रकार के प्रचलित प्रेमों से दृढ़तर और अधिक प्रशस्त है। आपको संतुष्ट करने को मैं इतना और कहे देता हूँ कि इंग्लैंड के भूतपूर्व प्रधान-मंत्री लार्ड बैकन्स फील्डी का भी यही मत था।"[1]

जो बात आलोचक के कहने की थी, वह कहानी लेखक ने पूर्व-पक्ष और उत्तर-पक्ष का विधान करते हुए, एक तार्किक की भाँति, स्वयं कही है। कहानी-कला की दृष्टि से यह प्रसंग अरोचक और निरर्थक है किन्तु इससे शुक्ल जी के उस विचार-सूत्र का मूल मिल जाता है जो जायसी की प्रेम-पद्धति का निरूपण करते समय प्रकट हुआ।

---

१. सरस्वती, भाग ४, पृ० ३१६।

दूसरी बात यह भी है कि हिन्दी के प्रारम्भिक कथा-साहित्य में लेखक का बीच-बीच में पाठकों से वार्तालाप करने के लिए कहानी के प्रवाह को रोक देना, अक्सर पाया जाता है। यह प्रवृत्ति इतनी व्यापक हो गई थी कि शायद ही कोई तत्कालीन कहानी या उपन्यास इससे बच सका हो। ऐसी दशा में इसे हम उस युग की ही त्रुटि मान सकते हैं।

अपनी प्रवृत्ति के अनुसार, शुक्ल जी ने प्रकृति के स्वच्छन्द रूप के दर्शन का अवसर भी निकाल ही लिया है किन्तु इतना ध्यान रखा है कि उनका प्रकृति-प्रेम कथा-प्रवाह में बाधा न बने। वातावरण के निर्माण के लिये ही उन्होंने उसका प्रयोग किया है। जैसे :—

"हम लोग नगर से बहुत दूर निकल गये। देखा तो शनैः शनैः भूमि में परिवर्तन लक्षित होने लगा, अरुणता मिश्रित पहाड़ी रेतीली भूमि, जंगली बेर, मकोय की छोटी-छोटी कंटकमय झाड़ियाँ दृष्टि के अंतर्गत होने लगीं। अब जान पड़ा कि हम दक्षिण की ओर झुके जा रहे हैं। संध्या भी हो चली। दिवाकर की डूबती हुई किरणों की अरुण आभा झाड़ियों पर पड़ने लगी। इधर प्राची की ओर दृष्टि गई, देखा तो चन्द्रदेव पहले ही से सिंहासनारूढ़ होकर एक पहाड़ी के पीछे से झाँक रहे थे।"[1]

कहानी के अंतर्गत, प्रेम का जो आदर्श प्रतिष्ठित किया गया है उसकी व्याख्या तो लेखक द्वारा आक्षिप्त टिप्पणी में स्वयं कर दी गई है, इसलिये उसके ढूँढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं।

भाषा के सम्बन्ध में एक बात कहनी आवश्यक है। शुक्ल जी का यह विचार था कि उपन्यास और कहानी के भीतर रमणीय दृश्यों की योजना हो तो अच्छा है और उसके लिये भाषा भी कुछ विशेष प्रकार की शब्दावली से युक्त होनी चाहिये। इसका कारण उन्होंने यह दिया है कि ऐसा करके हम आधुनिक उपन्यास और कहानियों को पुराने कथात्मक गद्य-काव्यों (जैसे कादम्बरी और दशकुमारचरित) के साथ जोड़ देंगे।[2]

अपनी लिखी कहानी में भी दृश्यों की योजना में ऐसी ही अलंकृत भाषा लाने का प्रयास उन्होंने किया है। ऊपर के उदाहरण से यह बात स्पष्ट है।

प्रारम्भिक युग को देखते हुए शुक्ल जी की यह कहानी असफल नहीं कही जा सकती।

---

१. सरस्वती, भाग ४, पृ० ३०६।

२. हि० सा० इ०, पृ० ५४०।

*

दसवाँ अध्याय

काव्य

कहा जाता है कि पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ नाटक-रचना से किया था और उन्होंने दो छोटे-छोटे नाटक लिखे भी थे[1] (इनमें एक अधूरा रह गया था। दोनों कृतियाँ नष्ट हो गईं।) परन्तु उनकी सबसे पहली प्रकाशित रचना एक कविता ही है जो सन् १९०१ की 'सरस्वती' में 'मनोहर-छटा' शीर्षक से निकली। कविता की रचना के समय उनकी आयु लगभग १६ वर्ष थी। आचार्य के साहित्यिक जीवन का सूत्रपात कविता से हुआ यह बात केवल आकस्मिक नहीं है। उनकी सम्पूर्ण व्यावहारिक आलोचना में प्रायः सर्वत्र ही कवि-सुलभ भाव-मग्नता और तरलता का रहना यह सिद्ध करता है कि विवेचन-विश्लेषण की निविड़ता में भी उनका कवि रूप प्रच्छन्न न रह सका। हम यह देख चुके हैं कि भावों को वे मानव जीवन में अत्यधिक महत्त्व देते थे और उनके अन्दर भाव-सौंदर्य को ग्रहण करने की क्षमता भी अद्‌भुत थी। इन दोनों बातों को देखते हुए ऐसा लगता है कि उन्होंने अपने कवि-रूप को बलपूर्वक नियन्त्रित करके आलोचक रूप का सहकारी बनाया। हिन्दी-साहित्य के लिए यह बात कल्याण-प्रद ही हुई।

कविता में उनका 'लोकवाद' राजनैतिक या सामाजिक उत्थान की चर्चा के रूप में व्यक्त नहीं हुआ। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अन्य कवियों से 'लोक' और 'समाज' पर दृष्टि रखने का इतना अधिक आग्रह करते हुए भी उन्होंने स्वयं इस ओर क्यों नहीं ध्यान दिया। वे केवल प्रकृति-चित्रण को ही लेकर सामने आये, द्विवेदी-युग की सामाजिक चेतना उनकी कविताओं में प्रायः नहीं मिलती। केवल 'बुद्ध चरित' की भूमिका में नव-जागरण-कालीन राष्ट्रीय उन्मेष का संकेत है—अपने प्राचीन गौरव को स्मरण रखने का आग्रह करते हुए उसमें कहा गया कि: "कुमार सिद्धार्थ के महाभि-निष्क्रमण की सुध दिलाने वाली वाणी कहीं नहीं सुनाई पड़ती है। जिन बातों से हमारा गौरव था उन्हें भूलते आज हमारी यह दशा हुई।"[2]

किन्तु लोक-जीवन को शुक्ल जी ने अपने काव्य-जीवन का उपजीव्य क्यों नहीं बनाया यह प्रश्न बना ही रहता है।

कवि के रूप में शुक्ल जी की प्रतिष्ठा बहुत कम है। उन्होंने केवल थोड़ी-सी कवितायें—'ब्रजभाषा' और खड़ी बोली में लिखी थीं, जो तत्कालीन पत्रिकाओं

---

१. कविता-कौमुदी—(तीसरा संस्करण) पं० रामनरेश त्रिपाठी, भाग २, पृ० ३९०।

२. बुद्धचरित, वक्तव्य, पृ० १।

की फाइलों ('सरस्वती', 'माधुरी' आदि) में बन्द हैं—अनेक कारणों से वे अब तक प्रकाशित न की जा सकीं। इन फुटकल कविताओं के अतिरिक्त उन्होंने Light of Asia के आधार पर 'बुद्धचरित' नाम का एक बड़ा प्रबन्ध-काव्य भी ब्रजभाषा में लिखा, किन्तु प्रायः अनुवाद होने के कारण उसकी प्रतिष्ठा मौलिक ग्रन्थ के रूप में नहीं है। उसमें कहीं-कहीं अपनी कल्पना द्वारा नये चित्रों की उद्भावना की गई है, जिससे काव्य की सरसता को कुछ अधिक बल मिला है।

उपर्युक्त काव्य-साहित्य को लक्ष्य कर शुक्ल जी की कुछ प्रवृत्तियों का निर्धारण हो सकता है।

ध्यान आकर्षित करने वाली पहली बात है प्रकृति का यथातथ्य चित्रण। जिस प्रकार अपनी आलोचनाओं में वे बार-बार प्रकृति के आलम्बन रूप के चित्रण पर बल देते रहे उसी प्रकार अपनी कविताओं में भी उसे निभाने का प्रयास करते रहे। अत्यन्त प्रारम्भिक रचना में इस प्रवृत्ति का प्रयास है :—

तरु मंडप के रंध्रन बिच सों छनि छनि आवत।
शशिकिरनन की पुंज सरस सोभा सरसावत॥
करत अलौकिक नृत्य आय निर्मल जल माहीं।
निरखि ताहि मन मुग्ध होय थिर रहत वहां ही॥[1]

आगे चलकर जब उनकी प्रतिभा में कुछ अधिक प्रौढ़ता आई तब प्रकृति-चित्र अधिक संश्लिष्ट एवं प्रभावशाली बनने लगे। उनमें वातावरण को मूर्त्तिमान करने की अधिक शक्ति आ गई। 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक कविता की निम्नांकित पंक्तियाँ देखिये :—

भूरी हरी घास आस-पास फूली सरसों है
पीली-पीली बिन्दियों का चारों ओर है प्रसार।
कुछ दूर विरल सघन फिर और आगे
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार।
गाढ़ी हरी श्यामता की तुंग राशि-रेखा घनी,
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेर धार।
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभ मण्डल से,
धुँधली-सी नीली नभ-माला उठी धुँआंधार॥

'बुद्ध चरित' में अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण वे अनुवाद-कार्य से विरत हो गये हैं और Light of Asia का जो प्रकृति-चित्र उन्हें अधूरा लगा उसे पूरा करने के लिए नये वर्णन प्रस्तुत करने में दत्तचित्त हो गये हैं। इसमें सन्देह ही क्या है कि भारत-भूमि को जितना निकट से उन्होने देखा था उतना आर्नाल्ड ने नहीं। इसलिए

---

१. 'सरस्वती' (१९०१ सं० १०, पृ० ३५२-५३)—'मनोहर छटा' शीर्षक कविता।

उनकी जोड़ी हुई पंक्तियों ने चित्रों को अधिक पूर्ण और प्रभावशाली बना दिया है, आर्नाल्ड ने लिखा था :—

Softly the Indian night sinks on the plains
At full moon, in the month of Chaitra shud,
When mangoes redden and the asoka buds
Sweeten the breeze, and Rama's birth day comes
And all the fields are glad and all the towns.[1]

शुक्लजी का अनुवाद निम्नाँकित है :

"निखरी रैन चैत पूनों की अति निर्मल उजियारी।
चारु हासिनी खिली चाँदनी पटपर पै अति प्यारी॥
अमराइन में घोंस अमियन को दरसावति बिलगाई।
सींकन में गुछि झूल रही जो मन्द झकोरन पाई॥
चुवत महूक परसि भू जौ लौं 'टप-टप' शब्द सुनावे।
ताके प्रथम पलक मारत भर में निज झलक दिखावे॥
महकति कतहुँ अशोक-मञ्जरी, कतहुँ कतहुँ पुर मांही।
राम-जन्म उत्सव के अब लौं साज हटे हैं नाहीं॥[2]

चैत्र पूर्णिमा के उक्त चित्र को पूर्ण करने के लिए शुक्ल जी ने दो बातें जोड़ी हैं। पहली तो यह कि अमराइयों में प्रवेश करके चाँदनी 'अमियों' को झलका देती है और दूसरी यह कि महुए के फूल 'टप-टप' करके चू रहे हैं और जमीन पर गिरने के पहले ही एक क्षण को झलक जाते हैं। पहली का परिणाम यह हुआ कि अमराइयों का चाँदनी के साथ संश्लिष्ट सम्बन्ध जुट गया है और दूसरी बात के जोड़ देने से चैत्र ऋतु का चित्र पूरा हो गया। महुए का वर्णन उस प्रसंग में आवश्यक था। ध्यान देने की बात है कि शुक्ल जी का यह 'महुआ-प्रेम' वहाँ भी प्रकट हो चुका है जहाँ साँची का स्तूप देखते समय वे अपने लखनवी मित्र के इस कथन पर व्यंग्य करते हैं कि, "यहाँ महुए-सहुए का नाम मत लीजिये लोग देहाती समझेंगे।"[3]

उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण :

शुक्ल जी की कुछ कविताओं में प्रकृति का चित्रण उद्दीपन रूप में भी हुआ है और ठीक वैसे ही हुआ है जैसे रीतिकालीन कवि किसी विरहिणी नायिका से कोकिल पलाश आदि का तिरस्कार करवाता है। वहाँ शुक्ल जी देश-दशा से दुःखित होकर वैसा ही तिरस्कार करते हैं। तिरस्कार का भाव दोनों में है और उसकी तीव्रता भी

---

१. *Light of Asia*, Book iv, page 56.

२. बुद्ध चरित, चतुर्थ सर्ग, पृ० ७५।

३. चिं०, भाग १, पृ० ७८।

दोनों में समान है। किसी में भी प्रकृति-चित्र का विधान नहीं। शुक्ल जी तो विधाता से यहाँ तक निवेदन करते हैं कि तुम इस धरती पर से बसन्त का नाम ही मिटा दो :

"विगत विवस प्रतिबिम्ब हाय सम्मुख तुम लावत,
भारत संतति केर विरह चौगुनों बढ़ावत।
अहो विधाता वाम दया इतनी चित लावहु,
देश काल तें ऋतु बसंत को नाम मिटावहु ॥"[1]

वसंत के उपकरणों को संबोधित करके वे कहते हैं :

"कुसुमित लतिका ललित तरुन वसि ज्यों छवि छावत।
हे रसालगन ! बौरि व्यर्थ क्यों सोग बढ़ावत ?
हे कोकिल ! तजि भूमि नाहिं क्यों अनत सिधारी ?
कोमल कूक सुनाव बैठि अजहूँ तरु डारी ॥"[2]

यह ठीक है कि देश-प्रेम से आप्लावित होने के कारण इस कविता का स्थान विरहिणी का प्रेम व्यक्त करने वाली कविता से अलग है, किन्तु प्रकृति-वर्णन के इस प्रसंग में इन भावों का आरोपण स्वयं शुक्ल जी ही ठीक नहीं समझते। इसका विरोध वे कई स्थानों पर कर चुके हैं।

आचार्य शुक्ल जिस प्रकार अपनी आलोचनाओं में प्रबन्ध-काव्य के प्रति उदार और मुक्तकों के प्रति अनुदार दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार अपनी कविताओं में भी। यद्यपि उन्होंने छोटी-छोटी कवितायें कई लिखी हैं तथापि विशुद्ध मुक्तकों की कोटि में आने वाली उनकी रचनायें कम ही हैं, अधिकांश में प्रबन्धात्मकता की योजना कर दी गई है। प्रबन्ध या आख्यान को लेकर लिखना उन्हें अधिक प्रिय लगता था। 'शिशिर-पथिक', 'हृदय का मधुर भार' आदि ऐसी कविताएँ हैं जिनमें नाममात्र को ही सही, किन्तु प्रबन्धात्मकता का आश्रय अवश्य ले लिया गया है।

शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध को बनाये रखना ही शुक्ल जी ने कविताओं का प्रधान धर्म माना था, अतः उनकी रचनाओं में अधिकांश ऐसी हैं जो मनुष्य को प्राकृतिक वातावरण में रखकर देखने का आग्रह करती हैं ! उनकी 'आमंत्रण' शीर्षक कविता की नीचे लिखी पंक्ति तो काव्य में प्रकृति-चित्रण का नारा बन गई थी।

"कविता वह हाथ उठाये हुए चलिये कवि वृन्द ! बुलाती वहाँ !"[3]

अनेक कविताओं में इस बात पर क्षोभ प्रकट किया गया है कि मनुष्य प्रकृति के सुन्दर उपादानों को नष्ट करके और अपने जीवन को उनसे दूर हटाकर विनाश के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है। ऐसे कर्मों की निन्दा करते हुए वे 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक कविता में कहते हैं :

"कर से कराल निज, काननों को काटकर,
शैलों को सपाटकर सृष्टि को संहार ले।

---

१. सरस्वती, भाग ५, सं० ३, पृ० ८१, 'बसन्त' शीर्षक कविता।
२. वही, पृ० ८१।
३. कविता कौमुदी, भाग २, पृ० ४०४।

नाना रूप रंग धरे, जीवन-उमंग-भरे,
जीव जहाँ तक बने मारते तू मार ले।
माता धरती की भरी गोद यह सूनी कर,
प्रेत-सा अकेला पाँव अपना पसार ले।
विश्व-बीच नर के विकास हेतु नरता ही,
होगी किन्तु अलम न, मानव विचार ले।

शुक्ल जी के काव्य-साहित्य में 'बुद्ध-चरित' का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अनूदित होते हुए भी यह प्रबन्ध-काव्य लेखक की मौलिकता की छाप लिये हुए है। आर्नाल्ड की मूल रचना से इस काव्य की तुलना करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि यदि शुक्ल जी केवल अनुवाद करते तो अंग्रेजी भाषा के सम्पूर्ण भावों और विचारों को बड़ी सफलता के साथ हिन्दी में उतार लाते। ऐसा उन्होंने अनेक स्थानों पर किया भी है किन्तु अधिकतर ऐसा हुआ है कि प्रसंग को चमत्कारपूर्ण और रससिक्त करने के लिए अपनी स्वतन्त्र उद्भावना-शक्ति से भी काम लिया गया है। भारतीय इतिहास और संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर दृष्टि रख कर शुक्ल जी ने नई घटनाओं का समावेश भी किया है और पुरानी घटनाओं में रूप-परिवर्तन भी। उदाहरण के लिए यदि आर्नाल्ड महोदय ने राजमहल के भीतर ही गौतम बुद्ध का जन्म किसी शालवृक्ष के नीचे दिखाया है तो शुक्ल जी ने बौद्ध जातकों के साक्ष्य पर लुम्बिनी में दिखाया।[1] ऋतुओं का ध्यान न रखने के कारण बसन्त में हल जोतने वालों के कोलाहल का वर्णन आर्नाल्ड ने किया, किन्तु शुक्ल जी ने काल का अनुसरण करके वहाँ लिख दिया कि—"लिये खरिहानन में सुथरे पथपार पयार के दूह लखात" जो पूर्णतया स्वाभाविक है।

इस प्रकार के अनेक परिवर्तनों के कारण 'बुद्ध-चरित' में मौलिक प्रबन्ध काव्य का-सा रस प्राप्त होता है।

काव्य भाषा :

शुक्ल जी ने ब्रज-भाषा और खड़ी बोली दोनों में कवितायें लिखी हैं। शुद्धि, स्वच्छता और प्रवाह की दृष्टि से उनकी काव्य-भाषा दोषहीन जान पड़ती है। ब्रज-भाषा पर उनका अच्छा अधिकार था—उसका सबसे परिष्कृत रूप 'बुद्ध-चरित' में है। खड़ी बोली की अत्यन्त स्वच्छ और प्रवाहपूर्ण योजना 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक कविता में दिखाई पड़ती है। 'बुद्ध-चरित' में 'खड़ी बोली', 'ब्रज-भाषा' और 'अवधी' की जो इतिहास-व्याकरण-सम्मत मीमांसा की गई है उसी का निर्वाह शुक्ल जी की रचनाओं में दिखाई पड़ता है।

छन्द :

छन्दों का प्रयोग विविधता को ध्यान में रखते हुए किया गया। खड़ी बोली में मुख्यतया 'कवित्तों' का और ब्रज-भाषा में 'रोला', 'हरिगीतिका' आदि का प्रयोग उन्होंने अधिक किया। खड़ी बोली के नये छन्दों का प्रयोग उनमें नहीं मिलता।

---

१. बुद्ध-चरित, पृ० ३, ४।

ग्यारहवाँ अध्याय

इतर साहित्य

भूमिका-लेखन :

वैसे तो आचार्य शुक्ल की अधिकांश आलोचनाएँ भूमिका रूप में ही लिखी गई हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त भी उन्होंने अन्य लेखकों की पुस्तकों की भूमिकायें लिखी हैं जो उनके दृष्टिकोण को समझने में हमारी सहायता करती हैं। "हिन्दी गद्य शैली का विकास" (डा० जगन्नाथ शर्मा) की भूमिका में गद्य-शैली के विवेचन की पद्धति का सूक्ष्म निरूपण है। 'विनय-पत्रिका' (सं० वियोगी हरि) की भूमिका में सुन्दर टीका लिखने की पद्धति का निरूपण तो है ही, तुलसी के काव्य का महत्त्व भी दिखा दिया गया है। 'शेष स्मृतियाँ' (डाक्टर रघुवीर सिंह) की भूमिका में तो शुक्ल जी ने अपनी रुचि के अनुकूल सामग्री पाकर, सिद्धान्त और विषय-वस्तु का बड़ा विस्तृत विश्लेषण किया है। लेखक के कृतित्व की सराहना भी स्थान-स्थान पर है, किन्तु इस सराहना का कारण उनका व्यक्तिगत संपर्क नहीं अपितु रचना का वास्तविक सौंदर्य ही है। शुक्ल जी 'स्मृत' और 'कल्पित' रूप-विधानों में किस प्रकार रसात्मकता मानते थे यह हम पहले दिखा चुके हैं। 'शेष स्मृतियाँ' में ऐसा ही रूप-विधान प्रचुर मात्रा में है, अतः उसकी व्याख्या के साथ-साथ वे लेखक की प्रशंसा भी करते चले गये। 'प्रेमवन-सर्वस्व' की भूमिका विवेचनात्मक नहीं है, वह केवल संस्मरणात्मक है, किन्तु उसमें पं० बदरी नारायण चौधरी की जो झाँकी प्रस्तुत की गई है, वह सरलता से भूलने योग्य नहीं।

शुक्ल जी की भूमिकाओं में यह विशेषता दिखाई देती है कि वे पाठक को मूल पुस्तक के प्रवेश द्वार तक पहुँचा देती हैं। उनमें पुस्तकों की संक्षिप्त किन्तु तात्त्विक समीक्षा भी बहुधा सन्निविष्ट रहती है, इसलिये उनकी भूमिकाओं का महत्त्व बहुत अधिक है।

ग्रन्थ-संपादन :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी के कुछ मूल्यवान् ग्रन्थों का संपादन किया। इस दिशा में किया गया उनका कार्य ऐतिहासिक महत्त्व का है। उनके समय तक हिन्दी में पाठानुसंधान की वैज्ञानिक पद्धति का प्रचलन नहीं हुआ था और न किसी ग्रन्थ का बहुत सुन्दर संपादित संस्करण ही प्रकाशित हो सका था। इस पथ में अग्रसर होने के लिये उन्हें अपने पूर्ववर्ती साहित्यकारों से समतल भूमि नहीं मिली। अपना मार्ग निकालने के लिये उन्हें ऊबड़-खाबड़, अपरिचित मार्गों से जाना पड़ा। इधर पाठ के अनुसन्धान का कार्य वैज्ञानिक पद्धति पर चलाया जाने लगा है और अन्वेषी विद्वान

अनेक सूत्रों का आश्रय लेते हुए कवि लिखित मूल प्रति के अधिक निकट पहुँचने की चेष्टा में लगे हैं। शुक्ल जी द्वारा संपादित ग्रन्थों की भी इस दृष्टि से छान-बीन हुई है और नयी सामग्री ही नहीं, नये सिद्धान्त-सूत्र भी हाथ लगे हैं। साथ ही शुक्ल जी की सीमायें भी स्पष्ट हुई हैं। लेकिन इससे उनके द्वारा किये गये कार्य का गुरुत्व कम नहीं होता।

'तुलसी-ग्रन्थावली' का संपादन उन्होंने अनेक व्यक्तियों के साथ किया था, और 'भ्रमर-गीत-सार' तो 'सूर-सागर' के चुने हुए पदों का संग्रह-मात्र है। इसलिये उनकी संपादन-क्षमता का पता इन ग्रन्थों से नहीं चल सकता। 'जायसी ग्रन्थावली' का संपादन ही उन्होंने स्वतन्त्र रूप से किया था और संयोग से उसी के ऊपर इस दिशा में, इधर अधिक काम हुआ है। इसलिये शुक्ल जी के संस्करण की त्रुटियाँ भी सामने आई हैं।

डा० माताप्रसाद गुप्त ने, पाठालोचन के वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर जायसी के ग्रन्थों का संपादन किया है, उन्होंने अनेक नई प्रतियों का भी उपयोग किया है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने भी कुछ नई प्रतियों का आश्रय लेकर अथवा नये अर्थ के संधान से, गुप्त जी के स्वीकृत पाठों में संशोधन प्रस्तुत किया है।

शुक्ल जी के संपादन की सबसे पहली सीमा तो यह है कि उन्होंने जिन प्रतियों का उपयोग किया उनमें से चार मुद्रित थीं, केवल एक ही हस्तलिखित थी। इससे प्रतियों के प्रतिलिपि-संबंध का उद्घाटन और मूल प्रति के निकट पहुँचने का प्रयास वे न कर सके।

दूसरे, उनके संपादन का मूलसूत्र केवल इतना ही था कि पाठ "अवधी व्याकरण और उच्चारण तथा भाषा-विकास के अनुसार रखा जाय।"[1] इसमें कोई संदेह नहीं कि वैज्ञानिक संपादन में भी इस सूत्र का प्रयोग अवश्य होगा, जैसा डा० गुप्त के ग्रंथ में दिखाई पड़ता है किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। कवि अपनी भाषा में नये और परंपरा-प्राप्त पुराने रूपों का प्रयोग भी करते रहे हैं। यह पता लगा लेना कि जायसी ने कैसे रूपों का प्रयोग, किस प्रसंग में, किया होगा सर्वदा संभव नहीं।

शुक्ल जी ने मूल पाठ तक पहुँचने के लिये संपादन का एक सहायक सूत्र यह भी रखा कि स्वीकृत पाठ का ठीक अर्थ बैठता चला जाय। पहले के प्रकाशित दो संस्करणों की निंदा करते हुए उन्होंने कहा है कि "एक चौथाई का भी पाठ शुद्ध नहीं, शब्द बिना इस विचार के रखे हुए हैं कि उनका कुछ अर्थ भी हो सकता है या नहीं।"[2] यह सूत्र संपादन में सहायक अवश्य हो सकता है किन्तु इससे खतरा भी बहुत है। इसी सूत्र का सहारा लेने के कारण तो प्रतिलिपिकारों ने 'पदमावत' में पाठ-विकृतियाँ उत्पन्न की हैं। इसलिये इसका प्रयोग बहुत सावधानी के साथ होना चाहिये। जैसा डॉ०

---

१. जायसी-ग्रन्थावली-वक्तव्य, (शुक्ल जी), पृ० ५।

२. वही, पृ० १।

वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है, "पदमावत' की दो पाठ-परंपरायें दिखाई पड़ती हैं एक सरल दूसरी क्लिष्ट। शुक्ल जी का पाठ सरल पाठ-परंपरा का अनुगामी है। किन्तु 'पदमावत' का मूल पाठ वास्तव में वही है जो क्लिष्ट-परंपरा के निकट है।"[1] लेकिन यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये कि पाठालोचन की वैज्ञानिक प्रक्रिया में भी इस सूत्र का उपयोग बराबर होता रहा है और आगे भी होता रहेगा। 'गुप्त' जी ने भी मूल पाठ पर पहुँचने के लिये अनेक स्थानों पर इसी का आश्रय लिया है। प्रसंग और अर्थ के आधार पर संगत पाठ चुनने का प्रमाण उनकी भूमिका में ही है :—

"लक्ष्मी और महेश का कोई युग्म नहीं है, और लाक्षणिक अर्थ में भी लक्ष्मी (धन-संपदा) महेश के पास कभी थी, इसकी कोई कथा ज्ञात नहीं है, न यहाँ लक्ष्मी के अच्छे-बुरे होने अथवा उसके संचय या त्याग का कोई प्रसंग है। यहाँ किसी के सुनने और सुनकर रोने का भी प्रसंग नहीं है। इसलिए छंद २१२ के पाठान्तर की अशुद्धि प्रकट है।"[2] यह सब अर्थ का विचार ही है? अंतर केवल इतना है कि गुप्त जी ने अन्य सूत्रों का आधार लेकर 'अर्थ-विचार' को गलत दिशा में जाने से बचा लिया है।

लेकिन शुक्ल जी और डॉ० गुप्त के पाठों में अन्तर होने का केवल यही कारण नहीं है कि एक ने सरल पाठ-परंपरा को अपनाया और दूसरे ने क्लिष्ट पाठ-परंपरा को। अंतर का महत्त्वपूर्ण कारण यह रहा कि अपने पूर्ववर्त्ती संपादकों की भाँति शुक्ल जी ने भी यही माना कि 'पदमावत' की मूल प्रति फारसी लिपि में थी,[3] नागरी में नहीं। अतः उन्हें, "बहुत स्थलों पर इस प्रक्रिया से काम लेना पड़ा है कि अमुक शब्द फारसी अक्षरों में लिखे जाने पर कितने प्रकार से पढ़ा जा सकता है।"[4]

गुप्त जी ने मूल प्रति की लिपि नागरी मानी है इसलिए शुद्ध पाठ का संधान करने के लिए वे बिल्कुल भिन्न दिशा में चले हैं।

'पदमावत' की अनेक ऐसी नई प्रतियों का संकेत डॉ० अग्रवाल ने भी दिया है, जिनका उपयोग वे कर नहीं सके किन्तु उन्होंने आशा व्यक्त की है कि वैज्ञानिक पाठालोचन हमें उसके मूल पाठ तक पहुँचा सकता है। इसमें संदेह नहीं कि इस अनुसंधान के साथ-साथ शुक्ल जी का पाठ पुराना पड़ता चला गया है और बहुत संभव है कि आगे चलकर वह अधिकांश में गलत सिद्ध हो जाय किन्तु अपने युग की जिन सीमाओं और कठिनाइयों के बीच उन्होंने, जिस रूप में, इस कार्य को संपन्न किया, उसका महत्त्व घटाया नहीं जा सकता।

---

१. 'पदमावत' डा० अग्रवाल, प्राक्कथन, पृ० ११।
२. जायसी ग्रंथावली, डॉ० गुप्त, भूमिका, पृ० ४७-४८।
३. वही, पृ० ११५।
४. जायसी ग्रंथावली, वक्तव्य, (शुक्ल जी), पृ० ८।

पत्रिका-संपादन :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' का संपादन कार्य १० वर्षों तक किया। १९०९ से लेकर १९१४ तक और १९१८ तथा १९१९ में यह कार्य उन्होंने अकेले किया किन्तु १९३२, '३३ तथा' ३४ में एक संपादक-मंडल के साथ। उनके संपादन-श्रम का वास्तविक परिचय तो उन्हीं अंकों को देखने से मिलता है जो अकेले उनके द्वारा ही संपादित हैं।

× × ×

सितम्बर सन् १९०९ से वे 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' के संपादक हुए और वह मासिक रूप से निकलने लगी। पत्रिका का प्रमुख उद्देश्य उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया :—

"हिन्दी साहित्य की सामाजिक स्थिति का निदर्शन करना, उसकी उन्नति के उपायों पर विचार करना और उसके सम्बन्ध में जहाँ कहीं जो बात हो उसकी सूचना देना, अबसे यह पत्रिका प्रधान धर्म समझेगी।"[१]

'पत्रिका' के कुल १२ पृष्ठों के सीमित विस्तार में इस व्यापक उद्देश्य की पूर्ति का प्रयास उन्होंने लगातार पाँच वर्षों तक किया। इन बारह पृष्ठों की सामग्री भी अन्य लेखकों से प्राप्त नहीं होती थी अतः संपादक को स्वयं ही उसकी पूर्ति करनी पड़ती थी। शुक्ल जी के अनेक लेख, जिनमें 'मनोविकारों का विकाश' शीर्षक लेख-माला भी है, इसी समय, लेखक का नाम दिये बिना ही, प्रकाशित हुए। लेखों को तैयार करने के अतिरिक्त, संपादक को, न केवल हिन्दी साहित्य की ही प्रगति का सूक्ष्म परिचय देना पड़ता था, अपितु अन्य भारतीय भाषाओं और कभी-कभी विदेशी भाषाओं के क्षेत्रों में होने वाले कार्यों का भी विवरण देना पड़ता था। इस दोहरे उत्तर-दायित्व का निर्वाह शुक्ल जी ने पूरी सफलता के साथ किया। उनकी संपादकीय टिप्पणियाँ इस तथ्य का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। विषय की दृष्टि से ये टिप्पणियाँ कई श्रेणियों में विभक्त हो सकती हैं।

भाषा और साहित्य सम्बन्धी :

सन् १९१० में कांग्रेस के पंडाल में एक-लिपि-विस्तार कान्फ्रेंस की बैठक हुई थी और बाद में बैठक के प्रस्तावों को क्रियान्वित करने के लिये एक समिति का गठन किया गया, किन्तु हिन्दी के दुर्भाग्य से, उस समिति में उसका कोई सेवक नहीं पहुँच सका। इसे अनुचित समझ कर आचार्य शुक्ल ने लिखा :—[२]

"इस कान्फ्रेंस में और जो हुआ सो अच्छा ही हुआ। पर चौथे प्रस्ताव के संबंध में मुझे कुछ कहना है। प्रतिनिधियों की जो कमेटी बनाई गई है वह किस बात का लक्ष्य करके ? हिन्दी के प्रसिद्ध ग्रंथकारों और लेखकों में से किसी का नाम न देख संदेह

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सितम्बर, १९०९ (संपादकीय)

२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १५, सं० ७, पृ० ८४।

होता है कि शायद इन प्रस्तावों को कार्य में परिणत करने के लिये उन लोगों में से किसी की आवश्यकता नहीं है जिन्होंने मान-मर्यादा बढ़ाने की चिन्ता छोड़ अपने जीवन का मुख्य भाग हिन्दी भाषा का भांडार भरने में लगाया है। पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए०, उपाध्याय, पंडित बदरीनारायण चौधरी, पंडित अमृतलाल चक्रवर्त्ती आदि में से क्या किसी का सम्बन्ध इन प्रस्तावित विषयों से नहीं है ? अन्त में हम यही कहते हैं कि जबतक भारतवासियों के हृदय से दिखावट और तड़क-भड़क की रुचि न जायेगी तब तक कोई सच्चा हितकर कार्य नहीं हो सकता।" हिन्दी की "पूर्व और वर्त्तमान स्थिति" का निरूपण करते हुए कहा गया है—

"हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का विचार देश में फैल रहा है। हिन्दी की शब्दावली को कुछ रूपान्तरों के साथ बंगला, मराठी, और गुजराती आदि में व्याप्त देख दूरदर्शियों को यह सूझने लगा है कि हिन्दी उन स्थानों की भी साहित्यिक भाषा अच्छी तरह हो सकती है जहाँ उपर्युक्त भाषायें बर्त्ती जाती हैं।"[१]

हिन्दी के रोमांचकारी उत्तेजक उपन्यासों के लेखकों को आगाह करते हुए शुक्ल जी ने कहा :

"जर्मनी में उत्तेजक उपन्यासों को पढ़कर नवयुवकों में आत्महत्या करने का रोग फैल गया है। हिन्दी वालों को भी सावधान होना चाहिए।[२]

भारतीय सरकार ने प्राचीन भाषाओं के अध्ययन के लिए छात्रवृत्तियाँ घोषित की थीं, किन्तु आधुनिक भाषाओं के लिये कुछ नहीं हो रहा था, इसे लक्ष्य कर के वे कहते हैं :

"भारतीय सरकार ने प्राचीन भाषाओं के अध्ययन के लिये छात्र-वृत्तियाँ नियत की हैं—क्या देशी भाषाओं के लिए सरकार कुछ नहीं कर सकती ?"[३]

हिन्दी भाषा और नागरी लिपि की महत्ता को लक्ष्य कर एक टिप्पणी में उन्होंने यह आशा व्यक्त की है :

"इसी प्रकार हम प्रत्येक विभाग के विद्वानों से कुछ न कुछ आसरा रखते हैं। जापान की राजधानी टोकियो में एक हिन्दी विद्यालय का खुलना भी कुछ कम आशा बँधाने वाली बात नहीं है। सुनते हैं कि जापानी लोग भी नागरी अक्षरों के गुण को कुछ-कुछ पहचानने लगे हैं। वे देख रहे हैं कि उनकी भाषा भी नागरी अक्षरों में बड़ी सफाई के साथ लिखी जा सकती है।"[४]

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १५, सं० ८, पृ० १०३।
२. वही, भाग १५, सं० ११, संपादकीय टिप्पणी।
३. वही, अक्तूबर १९०९, सम्पादकीय टिप्पणी।
४. वही, १५ जनवरी १९१०, टिप्पणी।

इतिहास सम्बन्धी टिप्पणियाँ :

शुक्ल जी ने ऐतिहासिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाली अनेक उपयोगी टिप्पणियाँ पत्रिका में लिखी हैं। वे एक ओर तो उनके इतिहास-प्रेम का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं और दूसरी ओर संपादक के व्यापक उत्तरदायित्व का निर्वाह करती हैं। उन्होंने नवीन ऐतिहासिक शोधों की चर्चा कई जगह की है।

एक बार श्री आशुतोष मुकर्जी ने अपने दीक्षान्त भाषण में इस बात पर खेद प्रकट किया था कि भारत में प्राचीन इतिहास और संस्कृति का सम्यक् अध्ययन नहीं हो पाता और लोग इस बात की ओर से विमुख हो गये हैं। उनके इस कथन का उल्लेख करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है :

"ऐसे विषयों पर यहाँ ध्यान जाय किसका? जो कोरे संस्कृतवेत्ता हैं उन्हें अनपढ़े आदमियों से भी एक दर्जा नीचे समझना चाहिए, क्योंकि उन्हें आरम्भ से ही विचार-शक्ति से काम न लेने और बिना समझी हुई बातों को रटने का अभ्यास कराया जाता है। रहे संस्कृत के साथ अंग्रेजी की भी उच्च शिक्षा पाये हुए लोग। वे उस मनोयोग और अध्ययन का इस देश में कोई प्रत्यक्ष फल नहीं देखते जो इन विषयों के निरूपण के लिये आवश्यक है।"[१]

कहना आवश्यक है कि शुक्ल जी की दृष्टि वास्तविक समस्या तक पहुँची और वस्तुस्थिति का सही विश्लेषण उनकी उक्त टिप्पणी में विद्यमान है। यह दूसरी बात है कि उनका व्यंग्य कुछ अधिक कठोर हो गया है।

पेशावर की खुदाई में बुद्धदेव की जो अस्थियाँ प्राप्त हुई थीं उन्हें भारत या भारत के बाहर रखने के विषय में उत्पन्न विवाद में भाग लेते हुए शुक्ल जी ने कहा :—

"बुद्ध भगवान ने इसी भारतवर्ष में जन्म लिया था। अतः उनकी निशानी को रखने का अधिकार जितना इस भूमि को है उतना और किसी को नहीं।"[२]

इसी प्रकार "प्राचीन भारत का एक शक राजा"[३] "मुसलमान बादशाहों के सिक्कों में हिन्दी लिपि"[४], 'बुद्धघोष'[५] शीर्षक लेख भी बड़ी-बड़ी टिप्पणियाँ ही हैं जो पाठकों की जानकारी के निमित्त सम्पादक को लाकर रखनी पड़ती थीं। यह ठीक है कि उक्त लेख एक दम मौलिक नहीं हैं किन्तु उनमें यत्र-तत्र लेखक का स्वतन्त्र चिन्तन अवश्य मिलता है।

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, १९११, भाग १५, सं० १०, पृ० १।
२. वही, १५ अक्तूबर सन् १९०९ (सं०) टिप्पणी।
३. वही, सन् १९१०, भाग १५, सं० २।
४. वही, सन् १९१०, भाग १५, सं० १ व २।
५. वही, सन् १९१२, सितम्बर-अक्तूबर।

अन्य विषय :

पाठकों की मानसिक सम्पन्नता को बढ़ाने के लिए विज्ञान, भूगोल, आदि विषयों का सन्निवेश भी संपादक को कभी-कभी करना पड़ता था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये शुक्ल जी ने ऑलिवर लॉज के एक व्याख्यान का हिन्दी रूपांतर पत्रिका में 'अखण्डत्व'[1] शीर्षक से प्रकाशित किया था। इसी प्रकार "हेली का पुच्छल तारा"[2] शीर्षक से हेली के जीवन और खोजों पर विस्तृत टिप्पणी लिखी और उत्तरी ध्रुव पर[3] लिखते हुए 'पीरी' और 'कुक' के विवाद का उल्लेख किया।

ऊपर दिये गये विवरण से सिद्ध है कि शुक्ल जी ने सम्पादन-कार्य भी परिश्रम-पूर्वक किया। वास्तव में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी में पत्रिका-सम्पादन का जो मानदण्ड स्थिर किया था उसको पूर्ण रूप से स्पर्श करने का प्रयास शुक्ल जी ने किया। यह अवश्य था कि पत्रिका के त्रैमासिक से मासिक होने के कारण शोधपूर्ण लेखों के लिये अवकाश कम रह गया किन्तु सम्पादक का उत्तरदायित्व पहले से भी अधिक बढ़ गया। उस कम विस्तार में ही पत्रिका और पाठकों की सभी आवश्यक-ताओं की पूर्त्ति का प्रयास शुक्ल जी करते रहे। गम्भीर लेखों के समाविष्ट न हो सकने का दुःख उन्हें रहा करता था जो नीचे की पंक्तियों से स्पष्ट है:—

"पत्रिका को त्रैमासिक से मासिक कर देने से क्या लाभ या हानि हुई सो तो नहीं कह सकते पर इतना तो प्रत्यक्ष देख पड़ा कि जितना स्थान नये लेखकों के लिए पहले रहता था उतना न रहा।"[4]

वे पत्रिका की इस त्रुटि से परिचित थे और कोई भी पाठक इसे पढ़कर ऐसा अनुभव कर सकता है। किन्तु इसका कारण उनका सम्पादन नहीं 'पत्रिका' का सीमित विस्तार है।

ऊपर की टिप्पणियों से शुक्ल जी की विचार-धारा और उनके तेजस्वी व्यक्तित्व का बड़ा अच्छा परिचय मिलता है। जितनी स्वतन्त्रता से वे अपनी सम्मति अनेक साहित्यिक और साहित्येतर प्रश्नों पर यहाँ दे सके, उतनी स्वतन्त्रता, कदाचित्, गम्भीर लेखों में उपलब्ध नहीं थी। इसलिये टिप्पणियाँ मूल्यवान् हैं और उनकी जीवन-दृष्टि की व्याख्या में सहायक भी हैं।

कोश-सम्पादन

शुक्ल जी 'हिन्दी शब्द-सागर' के संपादक-मंडल के प्रमुख सदस्य थे। उन्होंने प्रारम्भ से अंत तक इस कार्य में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया। इस कार्य को सम्पन्न

---

१. ना० प्र० प०, भाग १८, सं० ३–४।
२. वही, १५ अक्तूबर, १९०९ सं० २।
३. वही, ,, ,, ,, ।
४. वही, भाग १४, सं० १ का सम्पादकीय।

करने में शुक्ल जी ने कितनी सहायता पहुँचाई इसका ठीक-ठीक पता लगना तो सम्भव नहीं, किन्तु प्रधान संपादक बाबू श्यामसुन्दरदास ने जिस रूप में उनकी सराहना की है उसे देखते हुए इसका कुछ अनुमान किया जा सकता है :

"यदि यह कहा जाय कि 'शब्द-सागर' की उपयोगिता और सर्वांगपूर्णता का अधिकांश श्रय पंडित रामचन्द्र शुक्ल को प्राप्त है, तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। एक प्रकार से यह उन्हीं के परिश्रम, विद्वत्ता और विचारशीलता का फल है। इतिहास, दर्शन, भाषा-विज्ञान, व्याकरण, साहित्य आदि के सभी विषयों का समीचीन विवेचन प्रायः उन्हीं का किया हुआ है। यदि शुक्ल जी सरीखे विद्वान् की सहायता न प्राप्त होती तो केवल एक या दो सहायक संपादकों की सहायता से यह कोश प्रस्तुत करना असम्भव ही होता।"[1]

इतिहास, दर्शन, व्याकरण, साहित्य आदि विषयों से सम्बन्ध रखने वाली विस्तृत टिप्पणियों में से अगर पचास प्रतिशत भी शुक्ल जी द्वारा लिखी गई हों, तो वे उनके अध्ययन और विश्लेषण-क्षमता का परिचय देने के लिए पर्याप्त हैं। कहीं-कहीं वे टिप्पणियाँ निबन्धों के रूप में भी दिखाई पड़ती हैं जिसके कारण 'शब्द-सागर' का ढांचा 'विश्व-कोश' का-सा हो गया है। कोश-विभाग में कार्य करते समय शुक्ल जी को अपने अध्ययन को व्यापक बनाने का पूरा अवसर मिला। इसलिए बाबूसाहब का यह कथन उचित है कि "कोश ने शुक्ल जी को बनाया और कोश को शुक्ल जी ने।"[2]

अनुवाद-कार्य

अनुवाद का कार्य बड़े महत्त्व और उत्तरदायित्व का है। इससे भाषा और साहित्य दोनों को समृद्धि और गौरव प्राप्त होता है। विश्व-जीवन और विश्व-साहित्य में अनुस्यूत एकता का बोध केवल सच्चे अनुवादक ही करा सकते हैं। इसका कारण यह है कि प्रत्येक मनुष्य संसार की विविध भाषाओं का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता, अधिकतर मनुष्यों का अच्छा अधिकार केवल एक या दो भाषाओं पर ही होता है। ऐसी दशा में वह विश्व-साहित्य के विविध-विचारों का परिचय ही नहीं प्राप्त कर सकता, यदि वह अनुवादों की सहायता न ले। और यदि अनुवादक अपने कार्य में पूर्णतया सफल है तो मूल पुस्तक को पढ़ने की आवश्यकता ही नहीं रहती। एमर्सन का यह कथन सत्य है, कि "अपनी मातृभाषा में पुस्तकों का अनुवाद मिलने पर भी मेरा उन सब पुस्तकों को उनकी मूल भाषाओं में पढ़ने की इच्छा करना वैसा ही है, जैसा कि नाव को छोड़ कर नदी को पार करने की इच्छा करना।"[3]

अनुवाद कार्य की सफलता अधिकतर निम्नांकित बातों के ऊपर निर्भर करती है :—

---

१. मेरी आत्मकहानी, बाबू श्यामसुन्दरदास, पृ० १६६।
२. वही, पृ० १६६।
३. 'माधुरी' में उद्धृत, (१९४२ अप्रैल), पृ० २५७।

अनुवादक केवल अनुवादक के रूप में ही रहे—वह स्वतन्त्र विचारों का उद्‌भावक न हो। वह पूर्ण तटस्थता और ईमानदारी के साथ मूल लेखक के विचारों को अपनी भाषा में ज्यों का त्यों उठाकर रखने वाला है और जितनी सफलता के साथ वह विचारों को अपनी अनूदित रचना में प्रतिबिम्बित करता है उतनी ही सचाई उसके अनुवाद में पाई जाती है। इसके लिए आवश्यक है कि अनुवादक का व्यापक अधिकार दोनों भाषाओं के ऊपर हो, यानी दोनों भाषाओं की विभिन्न शब्दावलियों से जिन धारणाओं का बोध होता हो उनकी पूरी और सच्ची परख अनुवादक के लिए आवश्यक है। शब्दों द्वारा निर्मित बिम्बों का बोध ही अपेक्षित है-केवल अर्थबोध नहीं। इसका अर्थ यह है कि मात्र शब्दकोश की सहायता से प्रामाणिक और सुन्दर अनुवाद नहीं प्रस्तुत किया जा सकता।

अनुवादक को यह स्वतन्त्रता नहीं रहती कि वह अपने विचारों का समावेश अनुवाद में कर सके, क्योंकि बीच-बीच में आने वाली लेखक के स्वतन्त्र विचारों की थिगलियाँ अनुवाद के वास्तविक उद्देश्य को अवश्य ही विकृत कर देती हैं। हाँ, यदि किसी स्थान पर मूल विचारों के स्पष्टीकरण के लिए उससे सम्बद्ध विचारों का उल्लेख करना आवश्यक हो तो टिप्पणी में किया जा सकता है।

भाषा की प्रकृति का ध्यान रखना भी अनुवादक के लिए नितान्त अनिवार्य है। जिस भाषा में अनुवाद किया जा रहा है उसकी शब्द-परम्परा, अर्थ-परम्परा, वाक्य-योजना आदि का पूरा ध्यान न रखने से भाषा के एक ऐसे स्वरूप का निर्माण हो जाता है जिसे उस भाषा का बोलनेवाला भी बड़ी कठिनाई से (और यदि संभव हुआ तो कभी-कभी मूल-ग्रंथ से सहायता लेकर ही) समझ पाता है। अनुवादक का यह कृत्य किसी भाषा और उसके पाठक के लिए निरर्थक ही नहीं, हानिकर भी है। इससे भाषा का स्वरूप बिगड़ जाता है।

जहाँ अनुवादक का उद्देश्य लेखक के विचारों और भावों का छायानुवाद-मात्र रहता है, वहां उसके ऊपर उक्त प्रतिबन्ध नहीं रहता, उसको अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता रहती है। लेकिन मूल पुस्तक के आधारभूत विचारों का पूरा प्रतिबिम्ब तो उसे उतारना ही पड़ता है।

हिन्दी में अनुवाद का कार्य भारतेन्दु-युग में प्रारम्भ हो गया था, किन्तु उसमें व्यवस्था का अभाव रहा और बहुधा अनुवाद के मूल सिद्धान्त की उपेक्षा भी रहती थी। प्रायः ऐसा होता था कि मूल लेखक के विचार अपने वास्तविक रूप में प्रस्तुत नहीं हो पाते थे, कुछ तो भाषा की असमर्थता के कारण और कुछ अनुवादकों की अपनी त्रुटि के कारण। अनुवाद का यह वस्तु-सत्य अधिकांश लोगों के लिए अगोचर ही रहा कि उसमें पूरी सावधानी और तटस्थता के साथ दूसरों के विचारों को प्रतिबिम्बित करना होता है।

द्विवेदी-युग में स्थिति कुछ बदली अवश्य किन्तु अनुवाद का वास्तविक लक्ष्य अभी तक उपेक्षित ही रहा, विचारों का पूर्ण रूपान्तर प्रायः नहीं मिलता। स्वयं पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने ही 'सरस्वती' में बाबू काशीनाथ खत्री का जीवन-चरित लिखते समय अनुवाद की ऐसी त्रुटियों का दिग्दर्शन कराया था।[1] चार्ल्स और मेरी लैम्ब का लिखा हुआ वाक्य निम्नांकित है :

"What suspicious people these Christians are ! Their own hard dealings teach them to suspect the thought of others."

जिसका अनुवाद खत्री जी ने यों किया—

"ये ईसाई लोग कैसे अविश्वासी हैं ! वे अपने ही समान सबका मन जानते हैं।"

शुक्ल जी ने उसे शुद्ध करते हुए यों लिखा :

"ये ईसाई लोग कैसे अविश्वासी होते हैं। उनके कठोर व्यवहार ही उन्हें दूसरों की नीयत पर संदेह करना सिखलाते हैं।"

अनुवाद की कुछ मुख्य समस्याओं का परिचय प्राप्त कर लेने के बाद हम शुक्ल-कृत अनुवाद की रूपरेखा पर विचार कर सकते हैं और यह निर्णय भी कर सकते हैं कि अनुवादक के रूप में वे कहाँ तक सफल हो सके। इस उद्देश्य से उनके द्वारा अनूदित साहित्य का विवरण नीचे दिया जा रहा है।

१. मेगस्थनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन :

प्रसिद्ध यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ ने भारतवर्ष के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा था वह अनेक कारणों से इधर-उधर लुप्त हो गया। उसके कुछ चुने हुए उद्धरण ही जहाँ-तहाँ मिल सके। उन उद्धरणों को डा० स्वानबॅक महोदय ने एकत्र किया और 'टा-इंडिका' नाम से अंग्रेजी में प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ का अनुवाद शुक्ल जी ने किया। अनुवादक ने लगभग १५ पृष्ठों की एक भूमिका अपनी ओर से जोड़कर भारत और यूनान के सम्पर्क पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। सन् १९०५ ई० में यह अनुवाद किया गया था और उस समय प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में जैसी जानकारी उपलब्ध थी उसी के आधार पर इसमें चन्द्रगुप्त, सैल्यूकस आदि के सम्बन्धित व्यौरों पर विचार किया गया। 'टा-इंडिका' के बिखरे हुए अंशों को पाठकों के समक्ष रखते हुए इस भूमिका का होना इसलिए भी अनिवार्य था कि मेगस्थनीज़ के विवरण को समझने में सुविधा हो। इस पुस्तक में शुक्ल जी विशुद्ध अनुवादक के रूप में हैं—उन्होंने अपनी ओर से कुछ घटाया-बढ़ाया नहीं। उन्हें जो कुछ कहना है, वह अलग से पद-टिप्पणियों के रूप में कह दिया है।

---

१. 'सरस्वती' भाग ७, सं० ११।

२. आदर्श-जीवन :

यह 'प्लेन लिविंग ऐण्ड हाई थिंकिंग' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ का अनुवाद है। मूल पुस्तक के रचयिता डब्ल्यू० एच० डैवेनपोर्ट ऐडम्स हैं। कदाचित् उस युग में मूल लेखक के अत्यधिक प्रसिद्ध होने के कारण अनूदित पुस्तक की भूमिका में उसका नामोल्लेख नहीं है। 'नागरी प्रचारिणी सभा' की ओर से सन् '१३ में जो विवरण छपा है, संयोग से, उसमें भी ऐडम्स महोदय का कहीं नाम नहीं है। कदाचित् इसी लिए अनेक विद्वानों को यह भ्रम हो गया कि मूल पुस्तक सैमुयेल स्माइल्स की लिखी हुई है।[1]

ध्यान देने की बात है कि यह कोरा अनुवाद ग्रन्थ नहीं है। जैसा शुक्ल जी ने स्वयं स्पष्ट कर दिया है, "इसे देश की रीति-नीति के अनुकूल करने के लिए और भी बहुत-सी बातें घटाई-बढ़ाई गई हैं।"[2] केवल दो चार वाक्य ही नहीं, पूरे के पूरे अध्याय भी इसी उद्देश्य से छोड़ दिये गये हैं। पुस्तक का मुख्य विषय आचरण का निर्माण और संस्कार है।

३. राज्य-प्रबन्ध-शिक्षा :

यह सर टी० माधव राव द्वारा लिखित 'माइनर हिंट्स' का अनुवाद है, इसका प्रतिपाद्य विषय नागरिक-शास्त्र और शासन-विधि है।

४. विश्व-प्रपंच :

यह जर्मनी के प्रसिद्ध प्राणितत्त्वविद् हैकल के 'रिडिल आफ़ दी यूनीवर्स' का हिन्दी रूपांतर है। इसे विशुद्ध अनुवाद के रूप में नहीं देखा जा सकता। हिन्दी पाठकों की अध्ययन-शक्ति का ध्यान रखते हुए जटिल प्रसंगों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक वाक्य और वाक्यांश छोड़ दिये गये हैं। अनुवादक ने वक्तव्य में पहले ही कह दिया, "कौन सा वाक्य किस अंग्रेजी वाक्य का अक्षरशः अनुवाद है इसका पता लगाने की जरूरत किसी को न होगी।"[3] ध्यान देने की बात है कि यह ग्रन्थ भी 'मनोरंजन-पुस्तकमाला' के अंतर्गत प्रकाशित हुआ था। इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय विज्ञान और दर्शन है।

---

१. श्री शिवनाथ, एम० ए०, ने अपनी पुस्तक 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' के पृष्ठ २७६ पर लिखा है "आदर्श जीवन" स्माइल्स के 'प्लेन लिविंग ऐण्ड हाई थिंकिंग' नामक ग्रन्थ के आधार पर लिखा गया है" और सम्भवतः शिवनाथ जी के ही साक्ष्य पर डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने "आलोचक रामचन्द्र शुक्ल" नामक ग्रन्थ में संग्रहीत अपने एक निबन्ध में पृष्ठ ४२ पर लिख दिया है कि—"यह पुस्तक (आदर्श जीवन), स्माइल्स की सुप्रसिद्ध अंग्रेजी पुस्तक "प्लेन लिविंग ऐंड हाई थिंकिंग' कारूपान्तर है—।" पुस्तक वास्तव में डैवेनपोर्ट ऐडम्स की ही लिखी हुई है, स्माइल्स ने उक्त नाम की कोई पुस्तक लिखी ही नहीं।

२. आदर्श जीवन—भूमिका, पृष्ठ २।

३. विश्व-प्रपंच (प्रथम भाग) 'वक्तव्य'।

प्रारम्भ में लगभग डेढ़ सौ पृष्ठों की मौलिक भूमिका है जिसका अध्ययन शुक्ल जी की दार्शनिक और शास्त्रीय मान्यताओं को हृदयंगम करने के लिये अनिवार्य है। इस भूमिका को जोड़ देने से विश्व-प्रपंच के पाठकों को विषय-प्रवेश की पूर्ण सुविधा मिल गई है।

५. बुद्ध-चरित (काव्य) :

यह प्रबन्ध काव्य आर्नाल्ड के 'लाइट ऑफ़ एशिया' के आधार पर लिखा गया है और अंशतः उसका अनुवाद है। इसका विशेष विवरण काव्य-प्रकरण में दिया गया है।

६. शशांक :

यह श्री राखालदास बन्दोपाध्याय लिखित शशांक नाम के बंगला उपन्यास का हिन्दी रूपांतर है। उपन्यास के अन्तिम अंश में कुछ घटाया बढ़ाया गया है। कुछ नई घटनायें और पात्र भी लाये गये हैं। इस प्रकार अनुवाद की विशुद्धता का इसमें भी अभाव है।

७. अन्य :

उक्त पुस्तकों के अतिरिक्त शुक्ल जी ने अन्य छोटे बड़े लेखों के अनुवाद भी अंग्रेजी से किये जो तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। इसमें दो लेख बड़े और महत्त्वपूर्ण हैं :

पहला है "प्राचीन फारस देश का इतिहास," जो 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' के दो अंकों में विक्रम संवत् १९७७ में प्रकाशित हुआ। इसकी रचना 'इन्साइक्लो-पीडिया ब्रिटानिका' के 'फारस' नामक लेख के आधार पर हुई। विवादग्रस्त प्रसंगों पर पद-टिप्पणियों को जोड़ कर लेख को भरा-पूरा बनाया गया है।

दूसरा है 'कल्पना का आनन्द' जो ऐडीसन के 'प्लेज़र्स ऑफ इमैजिनेशन' का अनुवाद है और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के नवें भाग में प्रकाशित हुआ था। इस लेख में भी आवश्यकतानुसार इतना अधिक परिवर्तन कर दिया गया है कि विशुद्ध अनुवाद की श्रेणी में नहीं डाला जा सकता।

इसके अतिरिक्त, अखंडत्व[1] शीर्षक से ऑलिवर लॉज के एक भाषण का रूपांतर भी उन्होंने किया। इस भाषण से वे इतने अधिक प्रभावित थे कि विश्व प्रपंच की भूमिका में भी कई पृष्ठों तक उसके कुछ अंशों को उद्धृत कर दिया।[2]

न्यूमैन की 'आइडिया ऑफ ए यूनिवर्सिटी' के 'लिटरेचर' शीर्षक लेख के आधार पर उन्होंने अपना 'साहित्य' नामक लेख बहुत पहले लिखा था।[3] इस लेख में भी बहुत सी बातें जोड़ी घटाई गई हैं किन्तु मुख्य विचारधारा न्यूमैन की ही

१. ना० प्र० प०, भाग १२ सं० ३, ४।
२. विश्व प्रपंच, भाग १—पृ० १३७–१४६।
३. सरस्वती, भाग ५, सं० ५–६।

है। इसमें शुक्ल जी के मौलिक विचार प्रायः नहीं हैं। इस लेख के आधार पर उनके साहित्य विषयक सिद्धान्तों का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है जैसा कुछ विद्वानों ने किया है। कुछ अन्य उल्लेखनीय लेख निम्नांकित हैं :

(१) प्राचीन भारतवासियों का पहिरावा[1] (डा० राजेन्द्रलाल मित्र के एक लेख के आधार पर)

(२) प्राचीन भारतवासियों की समुद्रयात्रा[2] (श्री हाराण चन्द्र चकलेदार के एक लेख के आधार पर)

(३) प्राचीन भारत का एक शक राजा[3] (पण्डित राधाकृष्ण की दी हुई सामग्री के आधार पर)।

ये लेख अधिकांश ऐतिहासिक विषयों से ही संबद्ध हैं।

उपर्युक्त अनूदित साहित्य को मूल के समानान्तर रख कर देखने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शुक्ल जी का लक्ष्य मूल पुस्तक में व्यक्त विचारों को हिन्दी में यथावत् रखने का नहीं था। यानी, वे विशुद्ध और वैज्ञानिक अनुवाद का लक्ष्य लेकर नहीं चले थे। इसलिये कहीं तो मूल विचार अनावश्यक जानकर छोड़ दिए गए और कहीं प्रसंग को पूरा करने के लिये अपनी ओर से नये विचार जोड़े गये। इसी प्रकार कहीं विदेशी पौराणिक कहानियों के उदाहरण बिल्कुल छोड़कर उनके स्थान पर भारतीय पुराण और इतिहास की कहानियाँ जोड़ दी गईं, लेकिन इन सब बातों का स्पष्ट आभास अनुवादक ने अपनी प्रस्तावना में ही दे दिया। इसलिये हमें किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं होती। कुछ उदाहरणों से उनके अनुवाद की प्रकृति स्पष्ट हो जायेगी।

'आदर्श जीवन' की भूमिका में वे यह कहकर चले कि "पुस्तक को इस देश की रीति-नीति के अनुकूल करने के लिये और भी बहुत सी बातें घटाई बढ़ाई गई हैं।" इसीलिये यदि मूल में यह लिखा गया था कि "Well, Raleigh was every inch a man, a brave soldier, a brilliant courtier, and yet a mirror of courtesy. Nobody will accuse Sir Philip Sidney of having been deficient in manliness and yet his fine manners are proverbial."[4]

तो शुक्ल जी ने उसे अपने अनुवाद में यह रूप दे दिया है—

"महाराज रणजीतसिंह के समान अनुभवी और पराक्रमी कौन होगा ? पर उनकी नम्रता के दृष्टांत प्रसिद्ध हैं। रहीम खानखाना जैसे विद्वान् थे वैसे ही वीर भी थे पर उनकी रचनाओं में कितनी सिधाई और नम्रता टपकती है।"[5]

---

१. सरस्वती, भाग ३, सं० १२।

२. ना० प्र० प०, भाग १४ सं० १२ और भाग १५ सं० २।

३. ना० प्र० प०, भाग १४, सं० २।

४. *Plain Living and High Thinking*, page 14.

५. आदर्श जीवन, पृ० २४।

अपनी ओर से बिल्कुल नयी जोड़ी हुई बात का उदाहरण निम्नांकित अवतरणों पर ध्यान देने से मिल जायेगा।

"Such was not the way of our ancestors. There were bad or foolish fathers and disobedient sons then as there are today, but the ideal of parental authority, was higher. Sons listened then where they question now"[1]

(हिन्दी रूपान्तर) "हमारे पूर्वजों की यह चाल नहीं थी, यह ठीक है कि आजकल की तरह उस समय मूर्ख और बेकहे लड़के होते थे.....। आजकल जहाँ लड़के अवज्ञा करते हैं वहाँ उस समय वे बात सुनते और मानते थे। क्या पूर्व क्या पश्चिम सर्वत्र यही व्यवस्था थी।"[2] अनुच्छेद का अन्तिम वाक्य अनुवादक ने भारत में पलने वाली नई पीढ़ी को लक्ष्य करके जोड़ दिया।

शुक्ल जी ने मूल पुस्तक के कई अध्यायों को तत्कालीन हिन्दी पाठकों के लिये अनावश्यक जानकर छोड़ दिया। इसका कारण यह था कि वे अनुवाद ही नहीं कर रहे थे अपितु मूल पुस्तक के आधार पर एक नई पुस्तक की रचना कर रहे थे। इसका संकेत उन्होंने भूमिका में ही दे दिया था।[3]

यही दृष्टिकोण उनके तमाम अनुवादों में मिलता है। प्रायः सभी पुस्तकों में बहुत थोड़े ही ऐसे प्रसंग मिलेंगे जो वाक्यशः या शब्दशः अनूदित हुए हैं, लेकिन यह बात निर्विवाद है कि हिन्दी भाषा की आंतरिक प्रकृति से परिचित होने और उस पर पूर्ण अधिकार रखने के कारण शुक्ल जी अनुवाद का बहुत भव्य और आदर्श रूप प्रस्तुत कर सके। इन प्रसंगों को देखने से ऐसा विदित होता है कि यदि वे वैज्ञानिक अनुवाद के नियम का पालन करते और अनुवाद करने के लिए कुछ और अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों को चुनते तो हिन्दी के लिये अमूल्य सम्पत्ति और नई दिशा का संधान दे जाते। उनकी चुनी हुई अधिकांश पुस्तकें शिक्षात्मक हैं और द्विवेदी-युग के साधारण रुचि वाले पाठकों को लक्ष्य करके चुनी गई हैं। केवल 'विश्व-प्रपंच' ही एक जटिल वैज्ञानिक ग्रन्थ है जिसका अनुवाद भी श्रम-साध्य था। ध्यान से देखने पर विदित होता है कि इस पुस्तक में भी शुक्ल जी ने विचार-परम्परा को बनाये रखने का ध्यान ही अधिक रखा है, शब्दशः अनुवाद के फेर में वे नहीं पड़े। इसलिये यदि कोई लेखक हैकल के विचारों को उद्धृत करना चाहता है तो वह शुक्ल जी कृत अनुवाद को उद्धृत करके अपना काम ठीक-ठीक नहीं चला सकता।

'शशांक' के प्रसंग में तो परिस्थिति और भी विलक्षण हो गई है। उसके अन्तिम भाग में तो केवल घटनायें ही इधर-उधर नहीं जोड़ी गई हैं अपितु बिल्कुल नये

---

१. *Plain Living and High Thinking*, page 5.

२. आदर्श जीवन, पृ० ५।

३. वही, भूमिका।

पात्रों की सृष्टि कर दी गई है—जिनका मूल ग्रन्थ में कोई विवरण नहीं था। अन्य ग्रन्थों में तो कुछ विषयों के घटाने-बढ़ाने से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता किन्तु उपन्यास में घटनाओं का रूपान्तर और नवीन पात्रों का समावेश तो उसे अनुवाद रहने ही नहीं देता। दूसरी ओर उसे मौलिक रचना का महत्त्व भी नहीं प्रदान किया जा सकता। "शशांक" एक ऐतिहासिक उपन्यास है और यदि इतिहास की घटना को लेकर मूल लेखक से अनुवादक का मतभेद है तो उसे अपनी भूमिका या टिप्पणी के रूप में अलग से दे सकता है। मूल उपन्यास में ही परिवर्त्तन कर देने से अनुवाद का स्वरूप विकृत हो जाता है।

हिन्दी भाषा की प्रकृति :

शुक्ल जी द्वारा अनूदित साहित्य की सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु है, चुस्त और सुसंगठित भाषा।

शब्द और अर्थ की व्यवस्था का जितना अच्छा परिज्ञान उन्हें था उतना द्विवेदी-युग के अन्य लेखकों में कम ही दिखाई पड़ता है। विज्ञान-सम्बन्धी ग्रन्थों के अनुवाद के लिये तो "विश्व-प्रपंच" आज भी हमारा मार्ग-दर्शन कर सकता है। उस की भाषा में सरलता और लोच का अभाव अवश्य है, और नये शब्दों के सन्निवेश से भाषा का स्वरूप भी कुछ बदला हुआ दिखाई पड़ता है, किन्तु इतने पर भी पूरे ग्रन्थ में दुर्बोधता का कहीं नाम नहीं। उसकी भाषा के सम्बन्ध में अनुवादक का यह दावा उचित ही था कि किसी को यह ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी कि कौन वाक्य किस अंग्रेजी वाक्य का अनुवाद है।

इसके विपरीत 'आदर्श-जीवन' की भाषा सरल, प्रवाह-पूर्ण और मुहावरों से लदी हुई है। इसका कारण यह था कि यह पुस्तक साधारण विद्या बुद्धि वाले नव-युवकों के हितार्थ लिखी गई थी। दूसरी बात यह थी कि इस में विज्ञान जैसी जटिलता थी ही नहीं।

मूल पुस्तक के भाव को सुरक्षित रखते हुए हिन्दी के निजी मुहावरों का प्रयोग करने में शुक्ल जी कितने पटु हैं, यह दिखाने के लिये निम्नांकित वाक्य पर्याप्त होंगे।

मूल पुस्तक में लिखा था :—

"But self-culture, rightly understood, will rouse us to a sense of our opportunities, will open our ears to the voices of inspiration....."[1]

अनुवाद यों हुआ :—

"....."हम में हाथ में आये अवसरों से लाभ उठाने की प्रवृत्ति होगी, हमारी आँखे खुल जायेंगी, और हमारे कान खड़े हो जायेंगे।"[2]

---

१. *Plain Living and High Thinking*, page 66.

२. आदर्श जीवन, पृ० १३७।

आदर्श जीवन की भाषा तो हिन्दी की प्रकृति के इतनी अनुकूल है कि अनेक लोगों को भ्रम हुआ कि पूरी पुस्तक मौलिक है, केवल कहीं-कहीं मूल का आश्रय लिया गया है। यहाँ तक, कि जब पुस्तक का दूसरा अध्याय 'सांसारिक-जीवन' किसी पाठ्य-संग्रह में 'मित्रता' शीर्षक से समाविष्ट कर दिया गया तो लोगों ने उसे पूर्णतया मौलिक माना। श्री शिवनाथ, एम० ए०, ने तो अपने ग्रन्थ में इस निबन्ध को मनोविकारों पर लिखा गया पहला निबन्ध मानकर विचार किया है, किन्तु इसकी शैली को देखकर उन्हें आश्चर्य अवश्य हुआ। उन्होंने लिखा :

"मित्रता" नामक निबन्ध देखने से विदित होता है कि यह शिक्षात्मक और थोड़ी विद्या बुद्धि वालों के लिये है। यह बात इसकी वाक्य-योजना में व्यवहृत आज्ञा-सूचक (इम्परेटिव) वाक्यों से स्पष्ट है।"[1]

"आदर्श-जीवन" पुस्तक, पूर्णरूप से उसी शैली पर लिखी गई है, जिसका उल्लेख उक्त उद्धरण में हुआ है। इस सूचना से लेख की मौलिकता के भ्रम का निराकरण हो जाना चाहिये।

ऊपर के विवेचन का निष्कर्ष यह है कि :

१. शुक्ल जी के अनुवादों में विषय की विविधता है, किन्तु वे द्विवेदी-युग के पाठकों की सामान्य रुचि से ही अनुशासित हैं।

२. अधिकांश अनुवाद, भावानुवाद हैं, क्योंकि वे मूल पुस्तक के आधार पर एक अन्य पुस्तक के उद्देश्य को पूरा करते हैं।

३. अनुवाद के मूल-तत्वों में से केवल एक की—हूबहू अनुवाद की—उन्होंने उपेक्षा की है, किन्तु शेष का पालन किया है। भाषा की प्रकृति का जितना ध्यान वे रखते थे उतना हिन्दी के कम अनुवादक रख पायेंगे।

४. अनुवाद के सभी तत्त्वों का निर्वाह करके वे हिन्दी लेखकों के लिये कोई आदर्श पद्धति नहीं स्थापित कर सके। अतः महत्त्वपूर्ण होते हुए भी इस दिशा में उन का किया गया कार्य प्रकाश-स्तम्भ नहीं बन सका।

इस क्षेत्र में शुक्ल जी की सीमायें 'द्विवेदी-युग' की सीमायें हैं। युग-सीमा को ध्यान में रखकर ही उनके अनुवाद-कार्य का मूल्यांकन होना चाहिये। 'नागरी-प्रचारिणी-सभा' की जिस योजना के अन्तर्गत उन्होंने अपना अनुवाद कार्य किया उसका भी ध्यान रखना आवश्यक है।

भाषा-विवेचन

शुक्ल जी ने 'बुद्ध चरित' की भूमिका में 'खड़ी बोली', 'ब्रज' और 'अवधी' का, तथा "जायसी ग्रन्थावली" की भूमिका में जायसी द्वारा प्रयुक्त अवधी का विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त 'हिन्दुस्तानी का उद्गम' नाम की एक छोटी

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २५४।

पुस्तिका भी उन्होंने 'नागरी प्रचारिणी सभा' की ओर से सन् १९३८ में प्रकाशित की, जिसमें हिन्दुस्तानी के स्वरूप और इतिहास का संक्षिप्त विश्लेषण है। 'शब्द-सागर' में भाषा-विज्ञान-विषयक टिप्पणियाँ उन्होंने लिखी थीं, ऐसा हम अन्यत्र देख चुके हैं। इन सब बातों से प्रकट है कि भाषाओं के विश्लेषण की क्षमता भी उनके भीतर थी।

यह बात ध्यान देने की है कि उनका विवेचन भाषा-विज्ञान की परम्परा में नहीं है। उन्होंने केवल व्याकरण-रूपों के विकास का इतिहास प्रस्तुत किया है, अवधी, ब्रज भाषा आदि का ध्वनि-विचार नहीं किया। प्राचीन काव्य के लिए जो विवेचन सहायक हो सकता था, वहीं तक, अपने आप को, उन्होंने सीमित रखा है। कहीं-कहीं विद्वानों को ऐसा आभास हुआ है कि उनका भाषा-संबंधी ज्ञान त्रुटिपूर्ण था। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने लिखा है कि "जायसी की भाषा और छंद-योजना के स्वरूपों का ठीक-ठीक परिज्ञान उनके संस्करण में नहीं दिखाई पड़ता है।"[1] गुप्त जी ने जिन शब्दों के अर्थों को लेकर यह बात कही है उनके संबंध में अभी विवाद बहुत है इसलिए अंतिम रूप से इस संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता। वे त्रुटियाँ केवल अर्थ की नहीं संपादन की भी हो सकती हैं। जायसी की भाषा के साथ शुक्ल जी का घनिष्ठ परिचय ही उनकी संपादित "ग्रन्थावली" से मिलता है। शुक्ल जी ने भाषा-विज्ञान को विशेष कुछ नहीं प्रदान किया किन्तु साहित्य के अध्येताओं के लिये उनका विवेचन बहुमूल्य है।

---

१. जायसी-ग्रन्थावली—डा० गुप्त, भूमिका, पृष्ठ ११५।

उपसंहार

शुक्ल जी के संपूर्ण कृतित्व का विवेचन करके हमने देखा कि हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में उन्होंने विभिन्न प्रकार से सहायता पहुँचाई। आलोचना और निबन्ध के क्षेत्र में तो वे उस मूर्द्धन्य स्थान पर प्रतिष्ठित हैं जहाँ से हिन्दी साहित्य में पूर्ण युगान्तर हो गया। केवल हिन्दी ही नहीं भारत की अन्य भाषाओं में भी परिष्कृत आलोचना का ऐसा सर्वांगपूर्ण रूप, जैसा शुक्ल जी ने प्रस्तुत किया, कठिनाई से ही मिल सकेगा। "वे सच्चे अर्थ में साहित्य के आचार्य थे।"[1] "हिन्दी साहित्य का इतिहास" तो पहली बार उन्हीं के हाथों रक्त-मांस और प्राणचेतना से युक्त शरीर बन सका। ग्रन्थ-संपादन, कोश-संपादन और पत्रिका-संपादन में भी उनका कार्य ऐतिहासिक महत्त्व का है। उनकी लिखी हुई एक मात्र कहानी, कदाचित्, हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी है। अन्य भाषाओं की पुस्तकों के आधार पर महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखने अथवा उनका अनुवाद करने में भी उन्होंने अपनी अनोखी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। मनोरम कविताओं के द्वारा उन्होंने अपनी भावुकता का परिचय भी दिया है। "नागरी प्रचारिणी पत्रिका" के संपादक के रूप में आचार्य द्विवेदी द्वारा स्थापित मानदंड का उन्होंने निर्वाह किया। 'राधाकृष्णदास' का जीवन-चरित लिखकर साहित्यकारों की जीवनियाँ लिखने का मार्ग परिष्कृत किया। इस प्रकार साहित्य-रचना की विभिन्न दिशाओं में अपनी प्रतिभा का प्रयोग करके उन्होंने हिन्दी को समृद्ध करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उनके निधन के उपरांत विभिन्न दिशाओं में व्यापक प्रगति हुई है, किन्तु इससे आचार्य शुक्ल का गौरवपूर्ण व्यक्तित्व और निखरता ही चला गया है, उनका महत्त्व कम नहीं हुआ। उनके निधन के समय तो यह शेर ठीक ही था कि—

बड़े ग़ौर से सुन रहा था ज़माना
तुम्हीं सो गये दास्तां कहते-कहते !

किन्तु आज भी उनके किये गये कार्य का निरीक्षण किये और आश्रय लिये बिना आलोचना, निबन्ध, इतिहास-लेखन आदि के क्षेत्र में हम आगे नहीं बढ़ सकते।

---

१. 'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल' में पं० नंददुलारे वाजपेयी का निबन्ध, पृ० ६३।

परिशिष्ट

परिशिष्ट (१)

जीवन और व्यक्तित्व

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पूर्वज गोरखपुर ज़िले के "भेड़ी" गाँव के निवासी थे। वंश-परम्परा की प्रतिष्ठा तथा पवित्रता के कारण "भेड़ी-बकरुआ" के शुक्ल आज भी सरयूपारी ब्राह्मणों में अन्यतम स्थान रखते हैं। अनुश्रुति प्रसिद्ध है कि इन शुक्लों ने किसी अत्याचारी नवाब को पराजित करके ब्राह्मण-कन्या का उद्धार किया और मुसलमानी रियासत को शस्त्र-बल से अपने अधिकार में कर लिया। आचार्य शुक्ल के पितामह पंडित शिवदत्त जी शुक्ल भेड़ी में ही रहते थे। बस्ती ज़िले की एक छोटी सी रियासत "नगर" की रानी साहिबा शुक्ल जी की दादी को अपनी कन्या के समान ही प्यार करती थीं। उन्होंने पं० शिवदत्त शुक्ल का देहान्त होने पर उनके परिवार के लिए कुछ भूमि अगोना नामक गाँव में दिला दी और वहीं रहने के लिए एक मकान भी बनवा दिया। शुक्ल जी की मातामही अपने एक मात्र पुत्र पं० चन्द्रबली शुक्ल को लेकर वहीं रहने लगीं। रानी की ही कृपा से पुत्र के पढ़ने-लिखने की अनुकूल व्यवस्था हुई और उन्होंने क्वींस कालेजियेट स्कूल से एण्ट्रेंस परीक्षा पास कर ली।

अगोना में ही पंडित रामचन्द्र शुक्ल का जन्म सं० १९४१ वि० की आश्विन पूर्णिमा को हुआ। ये चार वर्ष की आयु तक वहीं रहे। अतः बालक रामचन्द्र शुक्ल का प्रथम साक्षात्कार अगोना में बोली जाने वाली पूर्वी अवधी से हुआ था जिसकी मार्मिक व्याख्या उन्होंने अपनी आलोचनाओं में आगे चल कर की। शुक्ल जी के बड़े पुत्र पं० केशव चन्द्र शुक्ल का कथन है कि "इनकी माता (अर्थात् पं० चन्द्रबली शुक्ल की धर्मपत्नी) गाना के एक पुनीत मिश्र घराने की कन्या थीं। इसी गाना के मिश्र भक्त-शिरोमणि प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजी थे।"[1] यदि सचमुच ऐसा था तो यह विचित्र संयोग ही कहा जायेगा—कि आचार्य शुक्ल के तुलसी-प्रेम में रक्त-संबंध की प्रेरणा भी अंतर्निहित थी!

काशी में अपनी शिक्षा समाप्त करने के उपरांत पं० चन्द्रबली शुक्ल सन् १८८८ ई० में अगोना से राठ तहसील (हमीरपुर) में सुपरवाइज़र कानूनगो के पद पर कार्य करने के लिए आये। उनके साथ उनका परिवार भी आया और बालक रामचन्द्र शुक्ल ४ वर्ष की आयु से लेकर ८॥ वर्ष की आयु पर्यंत राठ में ही रहे। इनकी प्रारंभिक शिक्षा का प्रारंभ राठ में हुआ था—परन्तु अपने पिता की विपरीत मनोवृत्ति के कारण हिन्दी-साहित्य का यह सर्वश्रेष्ठ आलोचक लुक-छिप कर ही हिन्दी

---

१. 'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल' में उनका लेख, पृ० १२।

के पंडित जी से कुछ सीख लिया करता था। पढ़ाई का विधिवत् प्रारंभ तो उर्दू और फ़ारसी से ही हुआ था। बात यह थी कि मदरसे के एक कोने में पंडित गंगाराम जी "हिन्दुई" पढ़ाया करते थे, उन दिनों (१८८९-९० ई० के आस-पास) पाठशालाओं में फ़ारसी-उर्दू का ही बोलबाला था। हिन्दी तो केवल वैकल्पिक विषय के रूप में आठवीं कक्षा तक पढ़ाई जाती थी। राठ में रहते हुए शुक्ल जी की हिन्दी-भाषा संबंधी पढ़ाई प्रारंभ तो हुई परन्तु पिता के कठोर अनुशासन के कारण वे इच्छा रहते हुए भी कक्षाओं में वैधानिक रूप से इसका अध्ययन नहीं कर सके।

इसी बीच सन् १८९२ ई० में इनके पिता की नियुक्ति मिर्ज़ापुर में सदर कानूनगो के रूप में हुई। वे जल्दी में अपना परिवार राठ में ही छोड़कर मकान आदि की व्यवस्था के लिए मिर्ज़ापुर गये। इसी बीच में पं० रामचन्द्र शुक्ल की माता जी अपने तीसरे पुत्र पं० कृष्ण चन्द्र शुक्ल को २० दिन की अल्पायु में ही छोड़कर स्वर्ग सिधार गईं। माता के देहान्त से सबसे अधिक क्षोभ तथा शोक बालक रामचन्द्र शुक्ल को ही हुआ क्योंकि यही आयु में सबसे बड़े थे और इस योग्य थे कि मौत से उत्पन्न दारुण दुःख का अनुभव कर सकें। इनके पिता जी ने मिर्ज़ापुर से लौटने पर आकस्मिक दुःखद घटना सुनी। उन्होंने शीघ्रतापूर्वक शव-दाह की व्यवस्था की और वहीं "दीया" तालाब पर उनका शव भस्म किया गया। बालक रामचन्द्र शुक्ल के ऊपर उस घटना ने इतना गहरा प्रभाव डाला था और "दीया" तालाब पर जलती हुई माता की चिता का रूप उनके मन की इतनी गहराई में अंकित हुआ था कि वे भावी जीवन के कोलाहल तथा दर्शनों के अध्ययन-मनन के बीच भी उसे भुला नहीं सके। अपने बाल-बच्चों के समक्ष भी कभी-कभी उस दृश्य का ज़िक्र कर बैठते थे। अंत्येष्टि-क्रिया समाप्त करने के उपरांत पंडित चन्द्रबली शुक्ल मिर्ज़ापुर आये और "रमई पट्टी" में, जो उन दिनों नगर के बाहर की ओर पड़ने वाला एक मुहल्ला था और जहाँ ग्रामीण जीवन की शोभा अभी वर्तमान थी, मकान लेकर रहने लगे। आचार्य शुक्ल की आयु इस समय लगभग ९ वर्ष की थी। वे मिर्ज़ापुर के जुबिली स्कूल में दाखिल हुए और उर्दू के माध्यम से ही अंग्रेजी पढ़ने लगे फिर आगे चल कर उन्होंने ड्राइंग का वैकल्पिक विषय ले लिया।

"रमई पट्टी" में ही रहने वाले दो ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्तियों से शुक्ल जी का सम्पर्क हुआ जो हिन्दू धर्म तथा संस्कृत भाषा के पुजारी थे। एक पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद—जिनका प्रकृति-प्रेम अद्भुत था और जो अपने संस्कृत छात्रों की टोली लिये हुए मिर्ज़ापुर की रमणीय पर्वत स्थली में संस्कृत के श्लोकों का सुमधुर स्वर से पाठ करते हुए विचरण करते थे और दूसरे पं० बलभद्र प्रसाद मिश्र जिनके यहाँ रामायण, महाभारत, भागवत आदि संस्कृत ग्रन्थों का बराबर पाठ होता रहता था और जिसमें बालक-वृद्ध सभी भाग लेते थे। उन्हीं के यहाँ शुक्ल जी की भेंट श्री परमानंद, रामानन्द और जैजैलाल से हुआ करती। उक्त तीनों ही व्यक्ति बड़े विनोदी और निर्द्वन्द्व

थे। ये लोग वेश-भूषा में हिन्दुत्व लाने का प्रयास करते थे। इन्हीं के सम्पर्क में आने के उपरान्त पं० रामचन्द्र शुक्ल भी घर पर धोती पहनने लगे—जिसे देखकर इनके पिताजी कभी अपने स्वभाववश उपहास या व्यंग्य कर बैठते थे।

पंडित विंध्येश्वरी प्रसाद के संपर्क ने शुक्ल जी के अंतर्मन में सुषुप्त प्रेम को सजग किया और यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि छात्र-मंडली के साथ पर्वतीय स्थानों में रमने का ढंग तो शुक्ल जी ने उन्हीं से सीखा। शुक्ल जी का यह प्रकृति-प्रेम उनके काव्य तथा आलोचना में, आगे चलकर, किस प्रकार एक व्यवस्थित तथा पुष्ट सिद्धान्त के रूप में विकसित हो गया, यह हम देख चुके हैं। यहाँ केवल इतना ही संकेत कर देना पर्याप्त होगा कि मिर्जापुर के रमणीय प्राकृतिक दृश्य तथा पंडित विन्ध्येश्वरी प्रसाद के संसर्ग ने इस प्रतिष्ठित आलोचक के किशोर मन को इतनी गहराई तक प्रभावित किया कि वह भावी जीवन में इसे अपना आदर्श बना बैठा।

मिर्जापुर आने के लगभग दो वर्ष बाद शुक्ल जी के पिता ने दूसरा विवाह किया और घर में विमाता का प्रवेश हुआ। प्रारम्भ में तो परिवार में कोई कलह नहीं उत्पन्न हुआ परन्तु थोड़े दिनों बाद जब दादी जी का भी देहांत हो गया तब शुक्ल जी को स्नेह देने वाला घर में कोई न रहा। दादी के जीवन-काल ही में, लगभग १२ वर्ष की आयु में पं० रामचन्द्र शुक्ल का विवाह काशी के रामफल ज्योतिषी की पुत्री से हुआ और तीन वर्ष बाद उनकी पत्नी घर में आईं। दादी जी के देहात के उपरांत विमाता का शासन घर में चलने लगा और कुछ ही दिन बीतने पाये थे कि शुक्ल जी और उनके सहोदर भाई एक ओर हो गये और विमाता के साथ पिता जी दूसरे पक्ष पर हो गये। परन्तु अन्य दोनों भाई आयु में बहुत छोटे थे अतः उनके प्रति पिता का स्नेह भाव बना ही रहा। विवाहित होने के कारण शुक्ल जी के ऊपर उत्तरदायित्व भी बढ़ गया था—वे अपने अध्ययन का क्रम भी बनाये रखना चाहते थे। विमाता के कोप ने आर्थिक सहायता में कमी करके उस दिशा में भी बाधा पहुँचाई थी। ऐसा बताया जाता है कि पुत्र-पिता का यह अशोभन द्वन्द्व ६-७ वर्ष तक चला था, परन्तु पुत्र के साहस तथा अध्यवसाय को देखकर तथा अपनी अंतःप्रकृति के 'हिन्दी' और 'हिन्दूपन' की ओर झुक जाने के कारण पिता का प्रेम इस होनहार पुत्र की ओर उमड़ चला। इस कलह के शांत होने के उपरान्त शुक्ल जी का स्कूली अध्ययन तो आगे नहीं चल सका (क्योंकि तब तक प्लीडरशिप की परीक्षा में असफल होकर पढ़ाई ही छोड़ बैठे थे) पर उनका लेखन-कार्य तीव्र गति से चलने लगा।

मिर्जापुर ही में शुक्ल जी की शिक्षा हुई थी। सन् १८९८ ई० के आस-पास इन्होंने मिडिल और सन् १९०२ में स्कूल लीविंग परीक्षा लन्दन मिशन स्कूल (जो आजकल बाबूराम जायसवाल इंटर कालिज हो गया है) से पास की। इस परीक्षा के पूर्व ही शुक्ल जी का परिचय पाश्चात्य दर्शन तथा साहित्य से हो चुका था। वे रात

को बड़ी देर तक बैठकर हर्बर्ट स्पेंसर या एडिसन की कृतियों का अध्ययन-मनन करते रहते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये वे पाश्चात्य लेखक थे जिनके विचारों की धूम सारे योरुप में मची हुई थी और जो भारतीय चिन्तकों को भी प्रभावित कर रहे थे। शुक्ल जी के किशोर मन पर इन लेखकों का गहरा प्रभाव पड़ा और इनकी अध्ययन-वृत्ति गम्भीरतर ग्रंथों की ओर झुकने लगी। मिर्जापुर की पढ़ाई समाप्त करने के उपरांत ये एफ० ए० की परीक्षा के लिए प्रयाग की कायस्थ पाठशाला में प्रविष्ट हुए। पाठ्य-क्रम के सभी विषयों में इनकी अद्‌भुत गति थी, केवल गणित में रुचि नहीं थी। परिश्रम करके भी वे इस विषय में सफल नहीं हो सके। ध्यान में रखने की बात है कि उन दिनों गणित का विषय एफ० ए० में भी अनिवार्य था। परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने के उपरान्त ये मिर्जापुर लौटे और मन में यह आशंका थी कि कदाचित् पिताजी (जिन्होंने इनके आग्रह पर अत्यन्त अनिच्छापूर्वक इन्हें प्रयाग पढ़ने के लिये भेजा था) इस बात पर क्रुद्ध हों। परन्तु घर लौटकर इन्होंने देखा कि पिता की प्रकृति में विलक्षण परिवर्त्तन हुआ है। अब वे हिन्दी साहित्य की पुस्तकों का भी अध्ययन करने लगे और 'रामचरितमानस' तथा 'रामचन्द्रिका' से आगे चलकर भारतेन्दु के नाटकों तथा कविताओं का भी रस लेने लगे थे। शुक्ल जी के वे बाल-सहचर जो हिन्दुत्व के प्रेमी थे और जिन्होंने इनकी वेश-भूषा को भी परिवर्तित कर दिया था अब इनके पिता जी के पास आने जाने लगे। पिता की इस उदार दृष्टि का संबल पाकर बालक रामचन्द शुक्ल की साहित्यिक चेतना सजग हुई और ये "सरस्वती" तथा "आनन्द-कादम्बिनी" पत्रिकाओं में अपनी रचनायें प्रकाशित कराने लगे। यह आकस्मिक संयोग की बात नहीं है कि इनका साहित्यिक जीवन काव्य-रचना और उसके प्रकाशन से ही प्रारम्भ हुआ। कहते हैं इन्होंने "हास्य-विनोद" नामक एक लघुनाटक अत्यन्त अल्पायु में लिखा था जो किसी मित्र के हाथों परिहास में ही फाड़ डाला गया और सरस्वती भाग ४ (सन् १९०३) में इनकी एक कहानी (ग्यारह वर्ष का समय) प्रकाशित हुई थी परन्तु प्रारम्भ में काव्य-रचना की ओर इनकी प्रवृत्ति विशेष थी। 'रमई-पट्टी' के रमणीय प्राकृतिक वातावरण के सहयोग से इनकी काव्य-रचना की स्वाभाविक प्रकृति और भी परिमार्जित तथा रसोन्मुखी होने लगी। उनके गम्भीर आलोचनात्मक प्रयत्नों में भी बुद्धि तत्त्व के ऊपर भावुक मन की जो उमंग छलकी पड़ती है उसका मूल आचार्य शुक्ल के उक्त प्रारम्भिक जीवन के भावुकता-प्रधान आचरण में निहित है। आलोचना प्रधानतः बुद्धि-व्यवसाय है अतः तत्सम्बन्धिनी प्रतिभा का प्रत्यक्ष उन्मेष तो बुद्धि की अपेक्षाकृत परिपक्वावस्था में ही सम्भव है और कदाचित् इसलिये जीवन के प्रारम्भिक ३० वर्ष आचार्य ने बुद्धि की मौन साधना में व्यतीत कर दिए। उस समय उनका हृद्‌गत भाव ही रह-रह कर ब्रजभाषा काव्य के माध्यम से फूट पड़ता था।

अपने साहित्यिक विकास का उपक्रम करते-करते आचार्य शुक्ल को जीवन-यापन

की भी व्यवस्था करनी थी। पिता का आग्रह था कि शीघ्र कचहरी में चलकर कार्य प्रारम्भ करें परन्तु वे स्वयं प्लीडरशिप की परीक्षा पास करके प्रेक्टिस करने की कामना रखते थे। निदान, इनके पिता ने इन्हें पढ़ाई के लिये प्रयाग भेजा। पाठ्यक्रम इनकी साहित्यिक रुचि के विपरीत पड़ा और इस परीक्षा में भी ये असफल रहे। घर लौट जाने के उपरांत इनके पिता ने विंढम नाम के तत्कालीन कलक्टर से सिफारिश करके किसी प्रकार नौकरी का प्रबन्ध किया, किन्तु ऐसा बताया जाता है कि इसी समय इन्होंने प्रयाग से प्रकाशित होने वाले "हिन्दुस्तान रिव्यू" में "ह्वाट हैज़ इण्डिया टु डू"[1] नामक लेख लिखा जिसके क्रान्तिकारी विचारों से चिढ़कर उक्त कलक्टर महोदय ने इनकी नामजदगी का पर्चा रद्द करा दिया।"

इसके कुछ दिनों बाद मिर्जापुर के लन्दन मिशन स्कूल में इन्होंने ड्राइंगमास्टरी कर ली। लगभग तीन वर्ष तक कार्य करने के उपरांत 'हिन्दी-शब्द-सागर' के संपादन-विभाग में कार्य करने के लिये ये काशी आये। यद्यपि मिर्जापुर के निवास-काल में ही इनकी कुछ प्रारम्भिक रचनायें प्रकाश में आ चुकी थीं तथापि काशी में पहुँचने के उपरान्त ही उनकी गंभीरतर कृतियों के निर्माण का अवसर आया। मिर्जापुर छोड़ने के साथ ही साथ उनके जीवन का एक चरण भी समाप्त हो गया!

× × ×

'शब्द-सागर' का निर्माण-कार्य लगभग बीस वर्षों तक चलता रहा और शुक्ल जी का सम्बन्ध उससे सर्वदा बना रहा, किन्तु इस बीच उनकी साहित्य-साधना अन्य दिशाओं में भी चलती रही। उनके निबन्ध और समीक्षात्मक प्रबन्ध इसी काल में लिखे गये। कोश का कार्य समाप्त होने के पूर्व ही शुक्ल जी की नियुक्ति काशी विश्वविद्यालय में हो गई। नियुक्ति कैसे हुई, इसका निम्नांकित विवरण बाबू श्याम सुन्दरदास ने दिया है :—

---

१. इस लेख का उल्लेख शुक्ल जी की अधिकांश जीवनियों में मिलता है—विशेषकर उनमें जो पंडित केशवचन्द्र शुक्ल (शुक्ल जी के पुत्र) की लिखी हुई जीवनी के आधार पर लिखी गई हैं। श्री शिवनाथ ने अपनी पुस्तक में उसका प्रकाशन सम्वत् १९५९ दिया है। किन्तु 'हिन्दुस्तान रिव्यू' के उक्त अंक में अथवा किसी अन्य अंक में भी यह लेख नहीं मिलता। शुक्ल जी का कोई भी लेख उक्त पत्र के तत्कालीन अंकों में नहीं है। शिवनाथ जी के मेरे पास आये हुए पत्र से सूचित होता है कि उन्होंने लेख को स्वयं नहीं देखा। बाबू श्यामसुन्दरदास ने, सम्भवतः, केवल शीर्षक देखकर लिख दिया कि वह लेखक के क्रान्तिकारी विचारों का सूचक है।[1] पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने "कविता-कौमुदी" में शुक्ल जी का जीवन-परिचय लिखते समय उनके अन्य अंग्रेजी लेखों का उल्लेख किया है किंतु प्रस्तुत लेख का नाम उसमें नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस नाम का लेख उन्होंने किसी दूसरे पत्र में लिखा था। शीर्षक को देखने से प्रतीत होता है कि उनकी तत्कालीन मनोवृत्ति को समझने में उससे बड़ी सहायता मिल सकती है।

---

१. 'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल' में 'बाबू' साहब लिखित "जीवन परिचय"—पृ० ८।

"विश्वविद्यालय की स्थापना के अनन्तर यह निश्चय हुआ कि एफ० ए० और बी० ए० की परीक्षा में प्रत्येक विद्यार्थी के लिये देशी भाषा में एक लेख लिखकर पास करना अनिवार्य होगा। इसपर हिन्दी के लिये अध्यापकों की खोज होने लगी तो मालवीय जी ने पं० रामचन्द्र शुक्ल और लाला भगवानदीन को चुना। इन दिनों गर्मी की छुट्टियों में मैं काशी आया था। शुक्ल जी मुझसे मिले और कहने लगे कि सर्टीफिकेट दे दीजिये तो हम लोगों की नियुक्ति हो जाय। मैंने कहा सर्टीफिकेट तो ले लीजिये, पर वेतन का ध्यान रखिये। यदि कम वेतन पर कार्य करना स्वीकार करेंगे तो आगे चलकर हिन्दी-विभाग को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। पर उन्हें उस समय यह चिन्ता व्यग्र कर रही थी कि 'शब्द-सागर' का कार्य समाप्त हो जाने पर हम क्या करेंगे। अस्तु, मेरी सम्मति की उन्होंने उपेक्षा की और ६०) मासिक पर कार्य करना स्वीकार कर लिया।"[1]

विश्वविद्यालय के अध्यापक का कार्य जितना उत्तरदायित्वपूर्ण था उतनी ही सजगता के साथ शुक्ल जी ने आजीवन उसका निर्वाह किया। ऐसी महत्त्वपूर्ण शिक्षण-संस्था से संबंध हो जाने के कारण भी उनकी साहित्य-रचना में विशेष प्रवृत्ति हो गई। कोश का कार्य अंतिम रूप से १९२९ में समाप्त हुआ और उससे पूर्णतया मुक्त हो जाने के उपरांत शुक्ल जी अपने अध्यापन और लेखन-कार्य में ही दत्त-चित्त रहे। कोश का कार्य करते समय भी उनका सम्पर्क अनेक प्रकार के व्यक्तियों से हुआ, अनेक प्रकार की परिस्थितियों से उनका संघर्ष हुआ किन्तु इन सब से उनका मूल मनोगत संस्कार बदला नहीं। उनके व्यक्तित्व और आचरण का जो निर्माण मिर्जापुर के वातावरण में हो चुका था उसी का संस्कार परिष्कार काशी-निवास में होता रहा। इसलिये इस जीवन का विवरण देना अनावश्यक है।

× × ×

श्यामसुन्दरदास के रिटायर होने पर सन् १९३७ ई० में शुक्ल जी विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष बने और मृत्यु-पर्यंत उसी पद पर बने रहे। २ फरवरी, सन् १९४१ ई० को उनका शरीरपात हुआ।

× × ×

शुक्ल जी के साहित्य में पर्याप्त गंभीरता थी किन्तु उसे आद्योपांत देख जाने पर यह प्रतीत होता है कि लेखक सरल, विनोदी और 'मनमौजी' प्रकृति का है। शुष्क गंभीरता का आभास उनके 'लेखन' से नहीं मिलता। डा० रामविलास शर्मा ने उनकी रचनाओं में आये हुए व्यक्तिगत संकेतों को देखकर ठीक ही लिखा है कि "उनसे पुस्तक सेवी विद्वान के बदले एक घुमक्कड़ और विनोदी व्यक्तित्व की तस्वीर बनती है।"[2] उनके व्यक्तित्व का यह अंग निबन्धों और आलोचनाओं में भी बरबस उभर उठता

---

१. मेरी आत्मकहानी, पृ० २०७-२०८।

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० २५९।

है। व्यक्तिगत जीवन में इसका रस मित्रों ने सदैव ही पाया। पंडित केशव प्रसाद मिश्र का निम्नांकित कथन इसका प्रमाण है :—

"गोष्ठी में भी जब वे इस सम्मोहनास्त्र का प्रयोग करते, तब चांदी उनकी होती और लक्ष्य आहत होकर भी आहें न भरता। कहते हैं, वे हँसते नहीं थे हँसाते थे अर्थात् सरल काम छोड़कर कठिन काम करते थे, पर उनके स्मित और विहसित आनन की असली थाह किसी अंतरंग अवगाहक को ही मिल सकती थी।"[1]

व्यंग्य और विनोद के कुछ ऐसे उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं जो लेखक को पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की कृपा से प्राप्त हुए थे।

एक बार विश्वविद्यालय में किसी ने विनोद-वश कहा कि पंडित जी, आप कभी पलाण्डु का प्रयोग करते हैं अथवा नहीं ? शुक्ल जी ने उत्तर दिया, "भैय्या, ब्राह्मण के उदर को बरदाश्त नहीं हो सकता।"

× × ×

एक बार किसी प्राचीन कविता का अर्थ स्पष्ट कराने के लिये शुक्ल जी के कोई मित्र उनके पास आये। उनसे अर्थ बैठ नहीं रहा था। उन्होंने ठीक अर्थ समझाकर मित्र महोदय को संतुष्ट कर दिया और जब वे प्रसन्नतापूर्वक विदा होने लगे तब सविनोद बोले "ठीक से 'बिठा' लीजिये कहीं फिर न उठ जाय !"

× × ×

शुक्ल जी सायंकाल चाय पीने के आदी थे। इस अवसर पर किन्हीं मित्रों के आ जाने पर कुछ हास्य विनोद भी चल पड़ता था। एक बार ऐसे ही अवसर पर चाय पीकर अपने कुछ मित्रों के साथ बंगले से निकल कर सड़क पर कुछ दूर टहलते चले गये। सावन का महीना था, एक लम्बे पेड़ पर झूला लटक रहा था और कोई आदमी उस पेड़ के नीचे बैठा हुआ कुछ काम कर रहा था। शुक्ल जी के एक रसिक विनोदी मित्र उस आदमी से पूछ ही बैठे "भाई, यह झूला खाली पड़ा है, इस पर कोई झूलने वाला क्यों नहीं है ?" उत्तर मिला, "बैठो बाबू तो तुम्हें झुलायें।" शुक्ल जी अपने मित्रों के साथ चुपचाप तुरन्त कमरे में वापस आगये और भीतर पहुँचते-पहुँचते इतना खुलकर हँसने लगे कि उनके मित्र विस्मित हो गये ! उन्हें हँसी का कोई विशेष कारण नहीं जान पड़ा। झूले वाली बात लोग भूल ही चुके थे। शुक्ल जी ने उस उन्मुक्त हास्य के बीच अपने विनोदी मित्र की ओर लक्ष्य करके कहा "मैंने तो यही समझा आज इनको झुलाये बिना नहीं छोड़ेगा।" इस पर सब लोग ठहाका मार कर हँसने लगे।

× × ×

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं० १९९८ (माघ) पृ० ८४-८५।

एक घटना उस समय की है कि जब शुक्ल जी मृत्यु-शैय्या पर थे। उनकी विनोद-प्रियता अवसान के उस दुःखद क्षण में भी यथावत् बनी रही। उनके निकट काशी के कुछ साहित्यिक बैठे हुए थे, एकाएक किन्हीं सज्जन ने दरवाजे पर दस्तक दी। शुक्ल जी ने किसी लड़के को यह पता लगाने के लिये भेजा कि क्या बात है। लड़के ने लौटकर बताया कोई साहब हैं जो दर्शन करने के लिये आये हैं। शुक्ल जी ने मन्द किन्तु सरल विनोदमयी वाणी में कहा कि, "कह दो माधोसिंह का धरहरा देख लें, विश्वनाथ जी का मंदिर देख लें और सारनाथ देख लें।" वहाँ बैठे हुए साहित्यकारों के होठों पर उस क्षण में भी हल्की फीकी मुसकान दौड़ गई।

× × ×

शुक्ल जी स्वाभिमानी पुरुष थे। प्रारम्भ में उन्होंने 'मुलाजमत' की अवमानना से ऊब कर ही क्रान्तिकारी लेख लिखा जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अलवर महाराज की नौकरी भी उन्होंने इसीलिये छोड़ी कि उसमें राजा की व्यक्तिगत रुचि के सम्मुख अपनी सुख-सुविधा तो छोड़नी ही पड़ती थी। कभी-कभी सम्मान भी खोना पड़ता था। व्यक्तिगत सम्मान का यही प्रश्न उनके लिये साहित्य-सम्मान का प्रश्न बन गया। हिन्दी भाषा और साहित्य की अवमानना को वे अपनी अवमानना मानते थे। उनकी रचनाओं से यह बात स्वतः स्पष्ट है।

× × ×

उनका आचरण स्वच्छ और निष्कलुष था। स्वभाव के संकोची थे, इसीलिये चतुर लोग उनसे अपना काम निकाल लिया करते थे। पंडित केशव प्रसाद मिश्र ने लिखा है :—

"वे शील और सौम्यता की मूर्ति थे। माधुर्य और विश्रम्भ की सूचना देने वाले उनकी आंखों के लाल डोरे इसकी साख भरते थे। उनकी अत्यधिक शालीनता, कभी-कभी उनके कष्ट और अनुताप का कारण होती और आगे के लिये सचेत होने की प्रतिज्ञा भी करते, पर उनका यह संकोच अंत तक न गया।"[१]

× × ×

वे सम्मान-लोलुप नहीं थे, पद-लोलुप तो और भी नहीं। सम्मेलन का सभापतित्व स्वीकार करने में इसीलिये आनाकानी करते चले गये। उनकी इस विशेषता को लक्ष्य करते हुए पंडित कृष्ण देव प्रसाद गौड़ ने कहा है :—

"He was a great man never conscious of his greatness."

और

"He had come to honour and not to be honoured."[२]

---

१. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, सं० १९९८ (माघ) पृ० ८४-८५।

२. "द लीडर", ७ फरवरी, १९४१।

शुक्ल जी एक योग्य अध्यापक थे। इतना पांडित्य और अध्ययन लेकर भी वे बिना तैयारी किये अपनी कक्षा में नहीं आते थे। उनकी पुस्तकों के ऊपर लिखी हुई टिप्पणियाँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं। श्री रायकृष्णदास की 'साधना' और जयशंकर प्रसाद की 'आँसू' आदि पुस्तकों पर उन्होंने खाली जगहों में पेंसिल से, टीका और आलोचना संबंधी टिप्पणियाँ लिख रखी हैं। ये टिप्पणियाँ अध्यापन की दृष्टि से लिखी गई थीं किन्तु आलोचना के लिये भी अत्यंत मूल्यवान् हैं। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी बड़े परिश्रमपूर्वक इनका संग्रह और संपादन कर रहे हैं। संभव है कुछ दिनों बाद ये प्रकाश में आ जायँ।

× × ×

शुक्ल जी ने लगभग तीन वर्ष तक मिर्जापुर में ड्राइंगमास्टरी भी की थी। वह केवल 'मास्टरी' नहीं थी, उन्हें चित्र कला का भी अच्छा ज्ञान था। उनके बनाये हुए चित्रों में भी प्रकृति के चित्र प्रधान हैं। श्री लाल जी सिंह ने लिखा है :—

"चित्रकला के लिये फक्कड़ नाम के एक पड़ोसी चित्रकार को वे अपना गुरु मानते थे। उसके यहाँ वे चित्रकला का निरन्तर अभ्यास करते थे।.....फक्कड़ चित्रकार बिल्कुल पागल था जिसकी वे इतनी श्रद्धा करते थे।"[1]

यह चित्रकला विनोद का माध्यम भी बनती थी। पंडित चन्द्रशेखर शुक्ल ने लिखा है—"घर में चित्रकला भी उनके विनोद का साधन थी।.....सुन्दर से सुन्दर चित्र बनाकर वे घर भर को चकित कर दिया करते थे। एक ही बालक के कई रूप खींच कर वे सब लड़कों को हँसाया करते थे। एक बार उनका पाँच साल का एक नाती रोने लगा। समझाने-बुझाने का कोई असर न हुआ। इतने में शुक्ल जी ने उस समय की रोती हुई मुद्रा का उसका एक पेंसिल स्केच बनाकर उसके सामने कर दिया। उसी क्षण 'भें भाँ' बन्द करके मुस्कराते हुए उसने अपना सिर नीचा कर लिया। शुक्ल जी ने उसी समय से उसका नाम 'भें भाँ' रख दिया।"[2]

उनके गंभीरतम निबन्धों में व्यंग्य-विनोद का जो मनोरम अंतर्ग्रथन पाया जाता है, उसका पूर्ण आनन्द शुक्ल-साहित्य से कम परिचित पाठक अथवा साधारण पाठक सहसा नहीं पाते। वस्तुतः वे अपने जीवन में ही विनोद को गूढ़ रखने के पक्षपाती थे। घर के कुत्ते-बिल्लियों के साथ उनका मनोरंजन जिस पद्धति पर चला करता था, उसे देखकर निबन्धों और आलोचनाओं के गंभीर व्यंग्यों का मर्म कुछ-कुछ खुल सकता है। वे अपने पाठकों के सामने नहीं, पीठ पीछे, हँसना चाहते थे। इसे ही वे शिष्ट हास्य कहते थे। पं० चन्द्रशेखर जी ने लिखा है, "जगह की तंगी दूर हो जाने से अब उन्होंने दो कुत्ते पाले। बड़ा १९३० में मर गया। लेकिन छोटा

---

१. "हिन्दुस्तानी" पत्रिका १९४६ ई०, पृ० ३१३।
२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (जीवन और कर्तृत्व) पृ० २३५।

१९४५ ई० तक जीता रहा। शुक्ल जी ने उसका नाम 'मटरपिल्ले' रखा था। उसके लिए भी दूध और गोश्त का प्रबंध अलग से था। वह बराबर उन्हीं के पलँग के नीचे बैठा रहता था। बाहर से आते ही उनके पैरों पर लोट-लोट कर अपना स्नेह दिखाता था। स्वस्थ रहने पर दिन में दस-पाँच मिनट शुक्ल जी दोनों हाथों से उसका मुँह पकड़ कर बातें किया करते थे। चित्त प्रसन्न रहने पर उसकी बोली बोलकर उससे खेलते भी थे। एक प्रकार से घर पर ये कुत्ते और बिल्लियाँ उनके विनोद के साधन थे। वे दोनों की बोली बोल सकते थे। जब मौज में आ जाता था तब अपने पलँग के नीचे मुँह करके वे भूँक देते थे जिसे सुनते ही 'मटरपिल्ले' घर भर में भूँक-भूँक कर उस बोलने वाले को ढूँढ़ता। जब वह हार कर बैठ जाता था तब शुक्ल जी वैसे ही 'भूँ-भूँ' कर देते और वह फिर पूर्ववत् दौड़ने लगता। कभी-कभी आध घंटे तक शुक्ल जी यह खेलवाड़ करके घर भर को हँसाया करते थे। कोई नहीं कह सकता था कि बोली कुत्ते की नहीं है।"[1] अधिकांश पाठक उनके विनोदी व्यक्तित्व का स्वरूप देख ही नहीं पाते और गंभीरता को सामने पाकर बेचैन हो उठते हैं।

आचार्य शुक्ल के मनोरंजन का एक रोचक उदाहरण उक्त पुस्तक से ही उद्धृत करके यह प्रकरण समाप्त किया जा रहा है :—

"शुक्ल जी के द्वितीय पुत्र पंडित गोकुल चंद्र जी के मझले साले पंडित विश्वंभर नाथ पाण्डेय बहुत सीधे-सादे आदमी हैं। १९१८ ई० में वे हिन्दू विश्वविद्यालय में एफ० ए० में पढ़ रहे थे। धीरे-धीरे उन्हें गाने-बजाने और नाचने का शौक हो गया। १९२९ में उन्होंने अपने संगीतज्ञ होने का परिचय देने के लिए हाव-भाव के साथ नाचते हुए 'मेरा झुमका गिरा रे! बरेली के बाजार में' गाकर एक दिन शुक्ल जी के घर वालों को सुनाया। कुछ ही दिनों में कानोंकान शुक्ल जी को भी इसकी खबर लग गई। उन्होंने अपनी बड़ी लड़की से कहा कि मैं पाण्डेय जी का वही गाना सुनना चाहता हूँ। ऐसा प्रबन्ध किया गया कि ऊपर के कमरे के दरवाजे पर खड़े होकर शुक्ल जी छिपकर सब सुन लें और नीचे पाण्डेय जी नाचते और गाते रहें। बड़े आग्रह के बाद एक दिन पाण्डेय जी साड़ी-वाड़ी पहनाकर तैयार किये गये। जैसे ही उनके मुँह से 'मेरा यह झुमका गिरा रे!' निकला शुक्ल जी बोल उठे—'अरे यह कब पाण्डेय जी?' सुनते ही पाण्डेय जी के होश-हवास उड़ गये। 'बरेली की बाजार' मुँह में बन्द ही रह गई। उसी दिन से उनका गाना-बजाना और नाचना भी बन्द हो गया।"[2]

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (जीवन और कर्तृत्व), पृ० २३३-३४।

२. वही, पृ० २६९।

परिशिष्ट २

संदर्भ ग्रन्थ

(क) आकर ग्रंथ एवं लेख*

(१) मौलिक

- **आलोचना :**
  - (क) गोस्वामी तुलसीदास, १९५१ ई० ।
  - (ख) सूरदास, तृ० सं० ।
  - (ग) 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका, १९५१ ई० ।
  - (घ) रस मीमांसा, १९४९ ई० ।
- **इतिहास :**
  - (क) हिन्दी साहित्य का इतिहास, १९५० ई० ।
  - (ख) हिन्दुस्तानी का उद्गम, १९३८ ई० ।
- **निबन्ध :**
  - (क) चिन्तामणि, भाग १, १९३९ ई० ।
  - (ख) चिन्तामणि, भाग २, १९४५ ई० ।
- **जीवन चरित :**
  - (क) राधाकृष्णदास का जीवन चरित, १९१३ ई० ।
  - (ख) 'सरस्वती' (१९०८, १९१०) में फ्रेडरिक पिन्काट और श्री काशीनाथ खत्री के जीवन चरित ।
- **भूमिकाएँ :**
  - (क) हिन्दी गद्य शैली का विकास (डॉ० जगन्नाथ शर्मा कृत) की भूमिका, १९३० ई० ।
  - (ख) 'शेष स्मृतियाँ' (डॉ० रघुवीरसिंह कृत) की भूमिका, १९३८ ई० ।

---

*टिप्पणी :—'हिन्दी-पुस्तक-साहित्य' (सं० डॉ० माता प्रसाद गुप्त) में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत रचनाओं में सबसे पहले 'चारण-विनोद' नामक काव्य-पुस्तक का उल्लेख है । डॉ० गुप्त के निर्देशानुसार ढूँढ़ने पर ज्ञात हुआ कि उत्तर प्रदेश के गजट (१९०२ ई०) में प्रस्तुत पुस्तक सूचना छपी है । विषय 'काव्य' बताया गया है और दो खंडों का भी उल्लेख है । किन्तु लेखक का नाम श्री रामचरण शुक्ल है । अवश्य ही ये कोई अन्य कवि हैं । प्रस्तुत पुस्तक का आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से कोई सम्बन्ध नहीं । सूचना के लिये लेखक डॉ० गुप्त का कृतज्ञ है ।

(ग) 'प्रेमघन-सर्वस्व' (संपादित) की भूमिका, १९३९ ई० ।
(घ) 'विनय-पत्रिका' (श्री वियोगी हरि कृत टीका) की भूमिका, १९३९ ई० ।
(ङ) भारतेन्दु साहित्य (स्वसंपादित) की भूमिका, १९२८ ई० ।

- **कहानी :**

'ग्यारह वर्ष का समय', 'सरस्वती', १९०३ ई० ।

- **कविता :**

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित ।

- **सम्पादकीय टिप्पणियाँ :**

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के विविध अंक ।

(२) अनूदित

- **ग्रंथ :**

(क) मेगस्थनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन, १९०५ ई० ।
(ख) राज्य-प्रबंध शिक्षा ।
(ग) आदर्श जीवन, १९१४ ई० ।
(घ) विश्व प्रपंच, २ भाग, १९२० ई० ।
(ङ) शशांक, १९२२ ई० ।
(च) बुद्ध चरित, १९२२ ई० ।

- **लेख :**

(क) कल्पना का आनंद, ना० प्र० प०, १९०४ ई० ।
(ख) प्राचीन फारस का इतिहास ,, ,, १९२० ई० ।
(ग) 'अखंडत्व', 'साहित्य' आदि 'सरस्वती' और 'ना० प्र० प०' में समय-समय पर प्रकाशित ।

(ख) सहायक ग्रंथ

(१) हिन्दी-संस्कृत

(पं०) अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, (द्वि० सं०) ।
(डॉ०) उदयभानु सिंह—महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, (प्र० सं०) ।
(पं०) गिरिजा दत्त शुक्ल 'गिरीश'—समीक्षक प्रवर श्री रामचन्द्र शुक्ल, १९५५ ई० ।
(बाबू) गुलाबराय : श्री विजयेन्द्र स्नातक—आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, १९५२ ई० ।

(पंडित) चंद्रशेखर शुक्ल—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (जीवन और कर्तृत्व) १९६२ ई०।

(बाबू) जयशंकर प्रसाद—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, १९५३ ई०।

(डॉ०) धर्मवीर भारती—सिद्ध-साहित्य, १९५५ ई०।

(डॉ०) नगेन्द्र—१. रीति काव्य की भूमिका, १९४९ ई०।
,, २. काव्य शास्त्र की भूमिका, १९५५ ई०।
,, ३. विचार और अनुभूति, द्वि० सं०।
,, ४. विचार और विवेचन, प्र० सं०।
,, ५. सुमित्रा नन्दन पन्त, तृ० सं०।

(आचार्य) नन्ददुलारे बाजपेयी—१. महाकवि सूरदास, १९५२ ई०।
२. जयशंकर प्रसाद, प्र० सं०।

(श्री) नामवर सिंह—'छायावाद', १९५५ ई०।

(चौधरी) बद्रीनारायण 'प्रेमघन'—प्रेमघन-सर्वस्व, १९३९ ई०।

(पं०) बलदेव उपाध्याय—भारतीय साहित्य शास्त्र, भाग १, २, प्र० सं०।

(डॉ०) भगवत स्वरूप मिश्र—हिन्दी आलोचना; उद्भव और विकास, १९५३ ई०।

(श्री) भानुदत्त—रस-तरंगिणी (काशी)

(आचार्य) महावीर प्रसाद द्विवेदी—१. 'कविता-कलाप' (सं०), १९०९ ई०।
२. आलोचनांजलि, १९२८ ई०।

(डॉ०) माता प्रसाद गुप्त—१. जायसी ग्रंथावली, १९५१ ई०।
२. हिन्दी पुस्तक साहित्य, १९४५ ई०।

मिश्र बन्धु—मिश्रबन्धु-विनोद, १९२९ ई०।

(डॉ०) रघुवीर सिंह—'शेष स्मृतियाँ', १९३८ ई०।

(डॉ०) रवीन्द्र सहाय वर्मा—हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव, प्र० सं०।

(डॉ०) राम कुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, १९४७ ई०।

(पं०) राम दहिन मिश्र—१. काव्य दर्पण, द्वि० सं०।
२. काव्यालोक (द्वितीय उद्योत), द्वि० सं०।

(श्री) राम नरेश वर्मा—वक्रोक्ति और अभिव्यंजना, १९५१ ई०।

(डॉ०) राम विलास शर्मा—१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, १९५५ ई०।
२. 'भारतेन्दु युग' द्वि० सं०।

(डॉ०) रामशंकर शुक्ल 'रसाल'—हिन्दी साहित्य का इतिहास, १९३१ ई०।
(डॉ०) लक्ष्मीनारायण लाल—हिन्दी कहानियों की शिल्प विधि का विकास, १९५३ ई०।
(डॉ०) लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—(१७५७-१८५७), १९५२ ई०।
(पं०) लक्ष्मी नारायण 'सुधांशु'—काव्य में अभिव्यंजनावाद, प्र० सं०।
(पं०) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—वाङ्मय विमर्श, १९४२ ई०।
(श्री) शिवनाथ, एम० ए०—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, १९५१ ई०।
(श्री) शिवसिंह सेंगर—शिवसिंह सरोज, १८७७ ई०।
(श्री) शिवदान सिंह चौहान—हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, १९५४ ई०।
(बाबू) श्यामसुन्दरदास—मेरी आत्मकहानी, १९४१ ई०।
(डॉ०) श्री कृष्ण लाल—आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—(१९००-१९२५ ई०), १९४२ ई०।

(आचार्य) हजारी प्रसाद द्विवेदी—१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, द्वि० सं०।
,, ,, ,, ,, २. हिन्दी साहित्य का आदि काल, प्र० सं०।
(भारतेन्दु बाबू) हरिश्चन्द्र—भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग ३, १९५३ ई०।
(आचार्य) आनन्द वर्द्धन—हिन्दी ध्वन्यालोक (सं० डॉ० नगेन्द्र), प्र० सं०।
(आचार्य) कुन्तक—हिन्दी वक्रोक्ति जीवित (सं० डॉ० नगेन्द्र), १९५५ ई०।
(पंडितराज) जगन्नाथ—रस गंगाधर, काशी, प्र० सं०।

(आचार्य) मम्मट—१. काव्य प्रकाश (अनु० हरिमंगल मिश्र), प्र० सं०।
,, ,, ,,—२. काव्य प्रकाश—(डॉ० गंगानाथ झा कृत अंग्रेजी रूपांतर), प्र० सं०।
(आचार्य) विश्वनाथ महापात्र—साहित्य दर्पण, विमला टीका, १९५५ ई०।

(ख) अंग्रेजी

Aristotle—1. Poetics—Everyman's Library (901) 1934.
2. Rhetoric— ,, ,, ,,
Bain, Alexander—1. The Em otions and the Will, 1888.
2. Mental and Moral Science, 1884
Bradley, A. C.— Oxford Lectures on Poetry, 1950.
Caudwell, Cristopher—Illusion and Reality, 1947.
Coleridge, S. T.—Biographia Literaria, 1906.

Croce, Benedetto.—1. Aesthetic—1909
2. The Essence of Aesthetics, 1921.

De. S. K. (Dr)—1. History of Sanskrit Poetics, 1923.

De. S. K. (Dr) (Ed.)—2. वक्रोक्तिजीवितम् (Introduction) (1st Ed.)

Dunton Watts—Poetry (Encyclopaedia Britannica, Ninth Ed.)

Dutt, R. C.—Economic History of India, 1956.

Griffiths. P—The British Impact on India.

Gupta, Rakesh (Dr)—Psychological Studies in Rasa, 1950.

Grierson, G. S. (Dr)—The Modern Vernacular Literature of Hindustan, 1889.

Kane, P. V. (Dr)—History of Sanskrit Poetics, 2nd Ed.

Lahiri, P. C. (Dr)—The Concepts of Riti and Guna in Sanskrit Poetics, 1936.

Mcdougall William—Social Psychology, 1950.

Raghvan, V. (Dr)—1. Shringar Prakash, 1st Ed.
2. The Number of Rasas, 1st Ed.
3. Some Aspects of Alankar Shastra. 1st Ed.

Richards, I. A.—Principles of Literary Criticism, 10th Impression, 1948.

Shastri, S. Kuppuswami—The Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit, 1945.

Sankaran, A. (Dr)—Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit or The Theories of Rasa and Dhwani, 1st Ed.

Scott James, R. A.—The Making of Literature, 1948.

Shand, A. F.—Foundations of Character, 1914.

Sully, James—The Human Mind, 1892.

Spencer, Herbert—Principles of Psychology (2 Vols.) II Ed.

Stout, G. F.—A Manual of Psychology, 1907.

बंगला

डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त—काव्य विचार

पत्रिकाएँ

१. आनन्द कादम्बिनी ।
२. आलोचना ('इतिहास' और 'आलोचना' विशेषांक) ।
३. नागरी प्रचारिणी पत्रिका ।
४. माधुरी ।
५. सरस्वती ।
६. साहित्य संदेश (शुक्ल विशेषांक) ।
७. हंस ।
८. हिन्दुस्तानी ।
९. इंडियन ऐंटीक्वेरी, १९१२, १३ ।

संकेताक्षर

चि०=चिंतामणि

द्वि० उ०=द्वितीय उद्योत

द्वि० सं०=द्वितीय संस्करण

ना० प्र० प०=नागरी प्रचारिणी पत्रिका

प्र० सं०=प्रथम संस्करण

प्रा० सं०=प्राचीन संस्करण

र० मी०=रस मीमांसा

हि० सा० इ०=हिन्दी साहित्य का इतिहास

———

परिशिष्ट ३

नामानुक्रमणिका

अ

'अध्यात्म रामायण' १६०
अभिनव गुप्त १३१
अमरसिंह राठौर १७
(पं०) अमृतलाल चक्रवर्ती २६४
अरस्तू ८६, ८८
अलैग्जेंडर बेन ३५, ३८, ४१, ५३
अलैग्जेंडर शैंड ६७

आ

आई० ए० रिचर्ड्स ११६
'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' २७, ६०, १३१, २२२
'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' ५८ (टि०) १४२, १४७, १७२, २८३ (टि०)
'आत्म कहानी' २१६
'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' २१६ (टि०)
'आनन्द कादम्बिनी' १३, २८१
आनन्द वर्धन १३१
आर्नाल्ड २५८, २६०, २७१
'आर्य-दर्पण' १३
आर्य-समाज ७, ८, ६
आर्य-सिद्धान्त १३
आर० सी० दत्त १, १५
आॅलिवर लॉज २६६
'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल' २३, ६०, १०५, १०६, ११०, १३२, १३६, १५३, १६१, १६६, १८४, १६६, १६८, २३३, २३५, २७०, २७७
'आलोचना' १२८, १६२, २१४ (टि०), २१८ (टि०), २२० (टि०)
(श्री) आशुतोष मुकर्जी २६५
'आँसू' २८६

इ

'इकानॉमिक हिस्ट्री आफ इण्डिया' १, १५
'इण्डियन ऐंटीक्वेरी' १५६ (टि०), १६०
'ईडियन थियेटर' १८७
'इंदुमती' २५४
'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' २७१
'इमोशंस ऐण्ड द विल' ३७, ४०
'इल्यूज़न ऐण्ड रियलिटी' १११ (टि०)
'इस्त्वार द ला लितरेत्योर इंदुई ए हिन्दुस्तानी' १५८, २०३

ई

ई० ई० कमिंग्ज़ (टि०) ७५
ईश्वरचन्द्र विद्यासागर २०
'ईस्थेटिक' १८७, १८६ (टि०) १६० (टि०)

उ

'उपन्यास' १३
'उदन्त मार्तंड' १२
(डॉ०) उदयभानु सिंह २४, २२७

ए

एच० एच० विल्सन १५८, १५६, १६१
एडीसन २७१, २८१
ए० बी० कीथ १३२
एल० पी० टैसीटोरी १६०
'एशियाटिक सोसाइटी' १५८

'ए स्केच ऑफ द रेलिजस सेक्ट्स ऑफ द हिन्दूज' १५८
'ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर' १३२ (टि०)

औ

औरंगजेब २१२

क

'कविता कौमुदी' २५७ (टि०)
'कविता-वर्द्धिनी-सभा' २९
कन्हैयालाल पोद्दार ६९
'कवि-वचन-सुधा' १२, १३
कबीर १५१, १५८, २१३
कांट ३८
'कादम्बरी' २५७
काम्पटन रिवेट २२
कार्तिक प्रसाद खत्री २४६
कॉलरिज ७४
कालिदास १३३
'काव्यालोक' १०९ (टि०), ११० (टि०)
'काव्य प्रकाश' ६९
'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' १८६
'काव्य-विचार' १०९ (टि०), १३१, १३२ (टि०)
(बाबू) काशीनाथ खत्री २६९
'काशी पत्रिका' १३
किशोरीलाल गोस्वामी १८
कीट्स २१
कुक २६६
कुन्तक २९, ७९, १८६
कुँवर साहब १५
कृपाराम २१२
(पं०) कृष्णदेव प्रसाद गौड़ २८५
(श्री) कृष्ण शंकर शुक्ल १९६
क्रस्टाफर कॉडवेल १११
केदारनाथ पाठक २४९
(पं०) केशव चन्द्र शुक्ल २७८, २७९
केशव चन्द्र सेन ७
केशवदास ८७, २१२, २१३, २१९
(पं०) केशव प्रसाद मिश्र २८४, २८५
क्रोचे २९, १०६, ११२, ११३, ११४, ११६, ११७, १८६, १८७, १८८, १९०, १९१

ख

खुसरो २२०

ग

गंग २१४
(पं०) गंगाराम २७९
'गन्नौर की रानी' १७
ग्राउज़ १५८
'ग्राम्या' १८२
(डॉ) ग्रियर्सन १५९, १६०, १७५, २०३
गार्सां द तासी १५८, २०३
(पं०) गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' २११, २१३, २१४
गिरिधरदास १६, ८४
'गीता' ८
'गीतांजलि' १०४
'गुप्त जी' (श्री मैथिलीशरण गुप्त) ९३
(डॉ०) गुप्त (माताप्रसाद) २६२
(बाबू) गुलाबराय ६० (टि०), १९७
गोपालराम गहमरी १८
गोल्डस्मिथ २०, २१

घ

घाघ ८४
'घनानन्द' की भूमिका २१४ (टि०)

च

चन्द्रगुप्त २६९
(पं०) चन्द्रबली शुक्ल २७८

चन्द्रालोककार ७८
'चर्यापद' २०८
चार्ल्स लैम्ब २६६
'चिन्तामणि' ३२, ३५, ३८, २१२
चिंतामणि त्रिपाठी २१३

छ

'छायावाद' १७६ (टि०)

ज

(पंडितराज) जगन्नाथ ६८
(डॉ०) जगन्नाथ शर्मा २६०
जयशंकर प्रसाद ११८, २८६
जायसी ८५, १५१, १५६, १५८, १६५, १७५, १७६, १७७, २४५, २७६
'जायसी ग्रंथावली' (डॉ० गुप्त) २६२ (टि०)
जी० ए० ग्रियर्सन १६३, १७५ (टि०)
जी० एफ० स्टाउट ५१
जी० ई० स्पिंगर्न ६६
जे० एन० कारपेन्टर १६१
जेम्स सली ५३, ११५
जै जै लाल २७६
जैनेन्द्र १६२ (टि०), २२१, २२२, २३५

ट

'टा-इंडिका' २६६
टाल्सटाय ५४
(सर) टी० माधव राव २७०
टोडरमल २१६

ड

डंटन (वाट्स) ३०
डब्ल्यू० एच० डैवेनपोर्ट ऐडम्स २७०

त

'तप्ता संवरण' १७
'तदीय समाज' १६
'त्रिवेणी' १८
(गोस्वामी) तुलसीदास ३, ३५, ४६, ४८ (टि०), ४६, ६६, ७०, ८४, ८८, १२५, १४१, १४२, १४५, १४८, १५१, १५४, १५६, १५७, १५८, १६०, १६१, १६३, १७३, १७४, १७७, २१३, २४५, २७८
'तुलसी ग्रंथावली' ७१
'तुलसी सभा' १६
(बाबू) तोताराम १७, १६

थ

'थियोलोजी ऑव तुलसीदास' १६१

द

'द इमोशंस ऐण्ड द विल' ४१ (टि०), ४२ (टि०)
'द एसेन्स ऑफ ईस्थेटिक्स' १८६ (टि०)
दादू, २१३
'द नम्बर ऑफ रसाज़' १६५ (टि०)
'द फाउंडेशंस ऑफ कैरेक्टर' ४१ (टि०) ४७ (टि०)
'द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नार्दर्न हिन्दुस्तान' १६३ (टि०) १७५ (टि०)
'द लीडर' २८५
'दशकुमार चरित' २५७
'दुलाई वाली' २५४
'दिनकर' ७, ८, १०
'दि ब्रिटिश इम्पैक्ट ऑन इण्डिया' ४, ५
'द ह्यूमन माइंड (खं २) ५२ (टि०), ११५ (टि०)

'दुखिनी बाला' १७
देव, १११
(डॉ०) देवराज २७, ६६, १२२, १३२
देवेन्द्रनाथ ठाकुर ६, ७

ध

(डॉ०) धर्मवीर भारती २०८
ध्रुव दास २१२
ध्वनिकार ७८
'ध्वन्यालोक' ७८ (टि०), १०८ (टि०)

न

(डॉ०) नगेन्द्र १०५, १०६, १०७, १०६, ११०, १२३, १२५, १२६, १२७, १८६, १६३, १६४, १६५, १६६, १६७, २४४
(आचार्य) नन्ददुलारे बाजपेयी, २३, ११७, १३८, १५३, १७२, १८३, १६४, १६५, १६८, २७७ (टि०)
नरहरि बन्दीजन २१६
'नहुष' १६
नागरीदास २४६
'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—३२, ४२, ४८, २२६, २३०, २३१, २६३, २६४, २६५, २६६, २७०, २७१, २७२, २८४, (टि०), २८५
'नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट' २०६
नानक २१३
नाना साहब १५
(श्री) नामवर सिंह १७६ (टि०), २१६ (टि०)
निराला ८८, ६१, १८२
'नील देवी' १६
'नूतन ब्रह्मचारी' १८
न्यूमैन २७१

प

पंत १८२, १८७
'पदमावत' (डॉ अग्रवाल) २६२
(पं०) पद्मसिंह शर्मा १६२
(श्री) परमानन्द २७६
'पल्लव' १७६
पी० ग्रिफ़िथ ४
पीरी, २६६
प्रतापनारायण मिश्र १४ (टि०) १७, २४४ (टि०)
'प्रयाग-समाचार' १३
'प्रसाद' ११६, ११६, १८२
'प्रहलाद चरित्र' १७
'प्रिंसिपल्स ऑफ़ साइकोलोजी' ४१, ६०
'प्लेन लिविंग एण्ड हाई थिंकिंग' २७०, २७२, २७३ (टि०) २७४ (टि०)

फ

'फाउण्डेशन्स ऑफ कंरेक्टर' २८, ३३ (टि०) १२२, १६४
फ्रायड १६६
फ्रेड्रिक पिकाट २४६

ब

बंकिम बाबू १८
बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, ११
(पं०) बदरी नारायण चौधरी २२६, २४४, २६४
'बनारस अखबार' १२
(पं०) बलदेव उपाध्याय १८६
(पं०) बलभद्र प्रसाद २७६
ब्रह्म-समाज ६, ७, ६
'बाबू राधाकृष्णदास, जीवन-चरित' २४६ (टि०)
'बायोग्राफिया लिटेरेरिया' ७४ (टि०)
'बाल-बोधिनी' १३
बालकृष्ण भट्ट १७, १८, २४४
बाल्ड्विन ४६

'ब्राह्मण' १३
बिहारी ९०
बीरबल २१९
बुद्धदेव ८६५
बेकन २३३, २४४
बेन ३६, ३७, ३९, ४०, ४७ (टि०), ४८, ५५, ५६, ५९
बैताल ८४
'ब्रज-माधुरी-सार' २०६

भ

(डॉ०) भगवत स्वरूप मिश्र १९६
(लाला) भगवान दीन २८३
भट्ट नायक १११
'भारत-जीवन' १३
'भारत-दुर्दशा' १६
'भारत मित्र' १३, १६
'भारतीय साहित्य शास्त्र' १८६
'भारतेन्दु ग्रंथावली' १५ (टि०)
भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ११, १२, १३, १५, १६, १७, १९, २०, २४४, २४६, २४९, २५०, २५२
'भारतेन्दु-युग' १६ (टि०)
'भारतोदय' १३
'भावयोग' २८, ३१, ६६, ७१, ८१, ९४, ९५, १८३, १८४, १८५, १८७, १८८, १९०
'भाषा-संवर्द्धिनी-सभा' १९
भूषण, २१४

म

'मनोरंजन पुस्तकमाला' २४
मलूकदास २१३
मल्लिका २५३
'महाकवि सूरदास' १७२
महादेवी वर्मा १८२
महाराणा प्रताप (सिंह) १७, २५१
(आचार्य द्विवेदी) महावीर प्रसाद द्विवेदी २२, १९२, २२७, २२८, २७७
'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग' २२७ (टि०), २६४, २६६
महिम भट्ट १११, १३१
माइकेल मधुसूदन दत्त ११
'माइनर हिंट्स' २७०
मार्क्स १३९, १९४
'मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नार्दर्न हिन्दुस्तान' २०३
(डॉ०) माताप्रसाद गुप्त—१५९ (टि०), २६१, २७६
'माधुरी' १३३, २५९, २६७
मान्तेन, २४४
(पं०) मालवीय जी २८३
मिश्र-बन्धु १६०, १७३, १७४, १७५, १९२, २०२, २०३
'मिश्रबन्धु विनोद' १७५ (टि०), २०२, २०३, २०४, २०५, २०६
(श्री) मुकुटधर पाँडेय, १७९
मेगस्थनीज, २६९
'मेंटल एण्ड मॉरल साइन्स' ३८ (टि०), ४७ (टि०)
'मेघदूत' ७०, ८४, १७१
'मेरी आत्मकहानी' २६७ (टि०), २८३ (टि०)
मेलार्मे १११
'मोहन चन्द्रिका' १३
मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या १३
मैंडूगल ३५, ३७, ३८, ३९, ४१, ४२, ४४, ४६, ५०, ५२, ५३, ५४
मैथ्यू आर्नाल्ड ८६

र

(डॉ०) रघुवीर सिंह, २६०
(महाराज) रणजीत सिंह २७२
रहीम खानखाना, २७२
रवीन्द्र नाथ ठाकुर २०, १३३, १८३
(डॉ०) रवीन्द्र सहाय वर्मा २०, (टि०) २१
'रस गंगाधर' ६८ (टि०), ६९
'रस तरंगिणी' ७१
'रस मंजरी' ६९
'रस मीमांसा' २७, ३२, ४५, ४७, ५६
रहीम ८४, २१९
(श्री) राखाल दास बंदोपाध्याय २७१
(डॉ०) राजेन्द्र लाल मित्र २७२
राजा शिवप्रसाद १७
(पं०) राधा कृष्ण २७२
राधाकृष्णदास १३, २४५, २४६, २४८, २४९, २५०, २५१, २५२, २५३, २७७
राधाचरण गोस्वामी १७, १८
राम ३५, ४४
रामकृष्ण ९
रामकृष्ण मिशन ९
'रामचरित मानस' ८७, ८८, ९४, १२५, १२६, १४१, १४८, १५७, १५८, १५९ १६०, १६१, १६५, १७३, १७६
(पं०) रामदहिन मिश्र ७०, ११०, ११९
रामानन्द २१३, २१४
रामनरेश वर्मा १८६
(पं०) रामफूल ज्योतिषी २८०
राजा राममोहन राय ६, १०
'रामायण' १८५, २०८
रामलाल सिंह १२८
(डॉ०) राम विलास शर्मा १६,५८, १४७, १४९, १७२, २८३
राय कृष्णदास २८६
रावण ५७
(महापंडित) राहुल सांकृत्यायन, २०८ २०९
रिचर्ड्स ३०, ११२
'रिडिल ऑफ़ दी यूनिवर्स' २७०

ल

लक्ष्मी बाई १५
(डॉ०) लक्ष्मीनारायण लाल २५४
लक्ष्मी नारायण 'सुधांशु' १८६
(डॉ०) लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय २१६ (टि०)
'लवंग लता' १८
'लाइट ऑफ़ एशिया' २५९, २६०, २७१
लार्ड रिपन १३
श्री लाल जी सिंह २८६
श्री लाल सिंह ६० (टि०)
लेनिन १४१, १४७

व

'वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जना' १८६
वल्लभाचार्य २१४
'वाङ्मय विमर्श' ७१
वामन ८२
वाल्ट ह्विटमन ८३
वाल्मीकि १४२, १६०
'वाल्मीकि रामायण' १६०, १७६
(डॉ०) वासुदेव शरण अग्रवाल २६१, २६२
'विचार वीथी' ३२
(डॉ०) विजयेन्द्र स्नातक २७० (टि०)
(पं०) विन्ध्येश्वरी प्रसाद २७४, २८०
विद्यापति २११, २२०
'विद्या सुन्दर' १६
'विधवा विपत्ति' १८
विनय तोष भट्टाचार्य २१०
'विनय पत्रिका' १५७, २६०
(आचार्य) विनय मोहन शर्मा ६० (टि०), २३३

वियोगी हरि २६०
विलियम मुइर १३
विवेकानन्द ६, १०
विश्वनाथ ३४
(पं०) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ७१, १६५ १६७, २१४, २३१, २८४, २८६
'विश्व प्रपंच' २७३
(डा०) वी० राघवन १६५ (टि०),
वृन्द ८४
'वेद' ७, ८
'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' १६

श

'शब्दसागर' २६७, २७६, २८२
(डॉ०) शंभुनाथ सिंह १७६
शशांक २७३
(पं०) शान्तिप्रिय द्विवेदी १६६, १६५
शाहजहाँ २१२
(पं०) शिवदत्त जी शुक्ल २७८
शिवदान सिंह चौहान २० (टि०), २१८
(श्री) शिवनन्दन सहाय १६०
शिवनाथ ६०, १३१
(श्री) शिवनाथ एम० ए० २७० (टि०)
'शिवसिंह सरोज' २०३
(श्री) शिवसिंह सेंगर २०३
शेख सादी १७७
शेली २१
'शेष स्मृतियाँ' २६०
शैंड २८, ३३, ३४, ३५, ३८, ४१, ४८, ५०, ५१, ५२, ५५, ५६, ५७, ५६, ६०, १२२, १६४, १८४
(बाबू) श्यामसुन्दरदास १६२, २०६, २१६, २४२, २६७, २८२
श्रीधर २११
'श्री शारदा' १७६

स

'सत्य हरिश्चन्द्र' १६
समाचार सुधावर्षण १२
'समीक्षक प्रवर श्री रामचन्द्र शुक्ल ११० (टि०), २११' (टि०), २१४ (टि०)
संयोगिता स्वयंवर १७
'सरस्वती' २२, २४, ३१, १७३, १७४, १७६, २२६, २२७, २४६, २५४, २५५ २५६, २५७ (टि०), २५८, २५६, २६६, २७१ (टि०), २७२, २८१
सरह २१०
संस्कृति के चार अध्याय ७, ८
'सरोज-स्मृति' ६१
'साकेत' ६३
साधना २८६
'सार सुधा-निधि' १३
'साहित्य-दर्पण' ३४, ६६, ८०
'सिद्ध-साहित्य' २०८ (टि०), २०६ (टि०)
'सुधाकर' १२
(पं०) सुधाकर द्विवेदी १६, २५२
(डॉ०) सुनीति कुमार चटर्जी २०८
(डॉ०) सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त १३१
सूर ८४, १५१, १५८, १६३, १६८, १६६, १७०, १७१, १७३, १७४, २१३, २४५
सूरसागर ६२, ६४, १६५, १६६, १६८, १६६, १७०, १७१, १७२, १७४
सोशल साइकोलोजी ३७, ३६ (टि०) ४१ (टि०), ४२ (टि०)
'सौ अजान एक सुजान' १८
'सौन्दर्य शास्त्र' ११३
सैमुयेल स्माइल्स २७०
सैल्यूकस २६६
स्कॉट जेम्स २०२
स्टाउट ५३, ५६

स्टुअर्ट मिल १४४
स्वयं भू २०८
स्वान बैंक २६६
स्वामी दयानन्द ७, १०, १४, १६

स्पिनोजा ३८

ह

(डॉ०) हजारीप्रसाद द्विवेदी १६७, २०८, २०६, २१६, २२०, २२१, २४४
हर्बर्ट स्पेंसर, ३२, ४०, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६, ४७, ५६, ६०, ११५, १४४, २८१
'हरिश्चन्द्र मैगजीन' १२, १३
(पं०) हरिश्चन्द्र शुक्ल ६०
हाफ़िज़ १७१
(श्री) हाराण चन्द्र चकलेदार २७२
'हिन्दी आलोचना—उद्भव और विकास' १६६ (टि०)
'हिन्दी कविता पर आंग्ल प्रभाव' २१ (टि०)
'हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास' २५४
'हिन्दी-कोविद-रत्नमाला' २०६
'हिन्दी गद्य शैली का विकास' २६०
'हिन्दी नवरत्न' १६०
'हिन्दी-प्रदीप' १३
'हिन्दी भाषा और साहित्य' २१६
'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप—विकास' १७६ (टि०)
'हिन्दी वक्रोक्ति जीवित' ७६ (टि०)
'हिन्दी शब्द-सागर' २६६
'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' २०८ (टि०), २०६ (टि०)
'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ८८, ६०
'हिन्दी साहित्य की भूमिका' २२०, २२१
'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' २०
'हिन्दुस्तानी' ६० (टि०), ७० (टि०), १२० (टि०), १५६ (टि०), २८६ (टि०)
'हिन्दुस्तानी का उद्गम' ७६ (टि०)
'हिन्दोस्थान' १३
हृदयराम २९
हेली २६६
हैकल २७०